संस्कृत आलोचना

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—८

संस्कृत आलोचना

[संस्कृत साहित्यशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रामाणिक विवेचन]

लेखक
बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य
संस्कृत विभाग
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९५७

मूल्य
चार रुपया

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

भारत की राजभापा के रूप मे हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भापा-भापी क्षेत्रो के विशेप उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नही आती। हमें सविधान मे निर्वारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राजकार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतन शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुप्ट वनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाड्मय के सभी अवयवों पर प्रामाणिक ग्रन्थ हो और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थो के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवयानता मे एक हिन्दी परामर्श समिति की स्यापना की गयी है। यह समिति विगत वर्पो मे हिन्दी के ग्रन्थो को पुरस्कृत करके साहित्यकारो का उत्साह वढाती रही है और अव इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाड्मय के सभी अगो के सम्वन्व मे पुस्तको का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पच-वर्पीय योजना वनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्पो में ३०० पुस्तको का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्राय वे सव विपय ले लिये गये हैं जिन पर ससार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस वात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उन्ही विपय अथवा उन विपयो को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिह
सचिव, हिन्दी समिति

वक्तव्य

'संस्कृत आलोचना' को पाठकों के सामने रखते मुझ विशेप हर्ष हो रहा है। संस्कृत साहित्य में अलकार-शास्त्र का वडा महत्त्व है। वह सन्तत विकासशील शास्त्र है जिसका अनुशीलन गत दो हजार वर्षों से निरन्तर हो रहा है। सस्कृत के आचार्यों ने इस शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तो का समीक्षण तथा वर्णन उस युग में किया था जव पश्चिमी जगत् में इसकी सामान्य चर्चा भी न थी। पाश्चात्य आलोचना के जनक यूनानी आलोचक हैं, परन्तु उनकी आलोचना में भी इतनी व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता नही है जितनी सस्कृत आलोचना में। आजकल के नवयुवक जिन्होने केवल पाश्चात्य साहित्य पढा है वहुवा यही समझते है कि ग्रीक और लैटिन में और तत्पश्चात् फ्रेंच और अंग्रजी में जो पुस्तकें है उनमें ही साहित्यकला का सव ज्ञान सञ्चित है और वहुधा उन्ही में समाविष्ट सिद्धान्तो की कसौटी पर साहित्य की समालोचना हो सकती है। यह उनका विश्वास भ्रमपूर्ण है। आजकल हिन्दी साहित्य की नव्य आलोचना भी सस्कृत आलोचना से पराङमुख ही दीख पडती है। इसका एक कारण तो यह प्रतीत होता है कि भारत में अंग्रेजी भापा सुलभ हो जाने से नवीन आलोचक पश्चिमी साहित्य-शास्त्र से जितना सुपरिचित हो जाता है उतना सस्कृत साहित्य-शास्त्र से नही। संस्कृत का यह शास्त्र तो सूक्ष्म विवेचन के आग्रह, सूत्रात्मक वियान, और नैयायिक विचार-सरणि के समावेश से कुछ दुर्गम हो गया है। सौभाग्य से इधर सस्कृत के मान्य आलोचनाग्रन्थो के हिन्दी में सुवोव अनुवाद प्रकाशित हुए है और हो रहे है। यह विशेप हर्प का वि य है।

सस्कृत आलोचनाशास्त्र में ऐसे महत्त्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है कि उनकी जानकारी प्रत्येक काव्य-पाठक को होनी चाहिए। हिन्दी का ही नहीं, प्रत्युत भारतवर्ष की समग्र प्रान्तीय भापाओ का साहित्य-शास्त्र सस्कृत के अलकार-शास्त्र के ऊपर आधारित है—उसके तथ्यो तथा सिद्धान्तो से ओतप्रोत है, परन्तु आज की नव्य आलोचना पाश्चात्य ग्रन्थो को ही अपना आवार-पीठ वनाती है। यह दुर्भाग्य का विपय है। अपने घर के रत्नो को छोड़कर दूसरो के दरवाजो पर पैसे के लिए भटकते

फिरते रहने के समान यह उपहास का विषय है। भारत के इन सिद्धान्त-रत्नो से परिचय पाना प्रत्येक साहित्यवेत्ता का कर्तव्य होना चाहिए। सस्कृत साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त वडे ही व्यापक हैं जिनकी छानवीन वडे विस्तार के साथ सस्कृत ग्रन्थो में की गई है। उस विस्तार से परिचय न पाने पर भी सिद्धान्तो के मूल से परिचित होना तो एकदम आवश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस छोटे से ग्रन्थ की रचना की गई है।

इस ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं—काव्य, काव्यरूप तथा काव्य-सिद्धान्त। पहिले खण्ड में काव्य के हेतु, प्रयोजन तथा स्वरूप के विषय का विवेचन सक्षेप में किया गया है। द्वितीय खण्ड में काव्य के रूपो का विशद वर्णन है। प्रवन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्य के वर्णन के अनन्तर रूपक का वर्णन कुछ विस्तार के साथ यहाँ किया गया है। तृतीय खण्ड का विवेच्य विषय काव्य सिद्धान्त है। यहाँ अनेक परिच्छेदो में काव्य के मान्य सिद्धान्तो का—जैसे औचित्य, रीति तथा गुण, दोष,वक्रोक्ति, अलकार, ध्वनि तथा रस का—विवेचन कुछ विस्तार के साथ किया गया है। हमारा उद्देश्य यही है कि सस्कृत आलोचना के मौलिक सिद्धान्त अपने विशुद्ध रूप में पाठको के सामने प्रस्तुत हो जायें और इसके लिए भाषा तथा शैली दोनो को सरल, सुवोध तथा सरस वनाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। हमारे एतद्विषयक अन्य ग्रन्थो से इस ग्रन्थ की रचना-शैली भिन्न है। यहाँ उदाहरणमुखेन विवेचन रखने का श्लाघ्य प्रयास किया गया है। उदाहरणो का चुनाव हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थो से परिश्रम-पूर्वक किया गया है। सस्कृत ग्रन्थो से दृष्टान्त देने में मुझे वहुत ही सुविधा होती, परन्तु सस्कृत के पद्यो के अनुवाद देने से ग्रन्थ का कलेवर वहुत ही वढ जाता। इसी विचार से हिन्दी के ही उदाहरण यहाँ रखे गये हैं जिन्हें समझने में पाठको को विशेष सुविधा हो। आशा है इस पद्धति से विषय का उपन्यास पाठको के लिए विशेष लाभप्रद सिद्ध होगा। यह ग्रन्थ सस्कृत के मौलिक ग्रथों के ऊपर आधारित है, परन्तु विस्तार-भय से मूल ग्रन्थो से उद्धरण जान-बूझकर नही रखे गये हैं। केवल सस्कृत की आलोचना सक्षेप में, परन्तु विशद रूप में, यहाँ विन्यस्त है।

विषय की पूर्ति के लिए 'सस्कृत आलोचना का क्रमिक विकाश' परिशिष्ट रूप में दिया गया है। प्रथमत आलोचना-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायो का सक्षिप्त वर्णन है। इस पर सामान्य दृष्टि डालने पर भी किसी भी आलोचक को सम ते देर न लगेगी

कि सस्कृत के आलोचक काव्य के अन्तस्तत्त्वों का समीक्षण नाना दृष्टियो से करते थे। वे पुरानी परिपाटी के अनन्य भक्त नही थे, प्रत्युत मौलिक विवेचन कर काव्य के वहिरग के समान अन्तरग की भी छानवीन वडी मार्मिकता के साथ करते थे। यह निर्मूल धारणा है कि सस्कृत की आलोचना काव्य के केवल वाह्य का ही विश्लेषण करती है और भीतरी रहस्य को छूती नही। ग्रन्थ के इस अग के अनुशीलन से यह धारणा वहुत अशो में दूर हो जावेगी। आलोचना-शास्त्र को पल्लवित तथा पुष्पित करने का श्रेय जिन आचार्यो को है उनकी एक सामान्य रूपरेखा अन्त मे जोड दी गई है जिससे शास्त्र की प्राचीनता तथा प्रगति का पूरा परिचय लग सके। नामानुक्रमणी तथा पारिभाषिक शव्दानुक्रमणी अन्त मे देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

आशा है इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाठको को सस्कृत आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तो की सामान्य जानकारी हो सकेगी। इस आशा की पूर्ति से लेखक अपने को कृतार्थ समझेगा।

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।

काशी
पौष पूर्णिमा, संवत् २०१३
१६-१-५७

वलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—काव्य

द्वितीय खण्ड—काव्यरूप

तृतीय खण्ड–काव्य-सिद्धान्त

तृतीय खण्ड—काव्य-सिद्धान्त

परिशिष्ट

(संस्कृत आलोचना का क्रमिक विकाश)

संस्कृत आलोचना

प्रथम खण्ड

काव्य

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

किसी भी भाषा के साहित्य की पूरी छानबीन करने के लिए उसकी आलोचना अपेक्षित होती है। विना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है और न उसके दोषो का। गुणदोषो को विना जाने किसी भी काव्य का आनन्द नही उठाया जा सकता। इसीलिए सस्कृत के एक कवि का कहना है कि बड़े या छोटे कवि की विशेषता जानने के लिए उसके ग्रन्थों की परीक्षा आवश्यक होती है। एक साधारण दीपक तथा मणिदीप मे क्या अन्तर होता है ? इसका परिचय विना आँधी चले नही हो सकता। यदि आधी किसी दीपक को बुझा देती है, तो उसे सामान्य-कोटि का दीपक जानना चाहिए। जोरो की आँधी आने पर भी जो दीपक उसी मस्ती के साथ अपना प्रकाश बिखेरता हुआ जला करता है वह साधारण दीपक न होकर 'मणिदीप' (मणि का दीपक) हुआ करता है। इसलिए काव्य का वैशिष्ट्य समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है। कवि तथा आलोचक दोनो में किसका पद बडा होता है ? इस प्रश्न पर विभिन्न मत अवश्य है, परन्तु भारतवर्ष मे दोनो का पद एकसमान ही महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय माना गया है। कवि तो काव्य का निर्माण करता है, परन्तु आलोचक ही उसके रस के जानने मे, काव्य का मर्म समझने मे सफल होता है और कभी-कभी तो ऐसे भावो को समझता है तथा समझाता है जो कवि की दृष्टि मे भी ओझल रहते है। इस प्रकार 'आलोचना' भारतीय साहित्य मे एक अत्यन्त उपादेय विद्या है और 'आलोचक' का पद कवि की अपेक्षा कथमपि न्यून या घटकर नही है। सस्कृत के एक मान्य प्राचीन आलोचक राजशेखर तो 'आलोचना-शास्त्र' को वेद का सप्तम अग मानते है। उनका कथन है कि विना उसके स्वरूप जाने वेद के अर्थ का ज्ञान पूरे रूप मे नही हो सकता। इस प्रकार यह शास्त्र वेदांग के समान ही उपयोगी तथा उसके समकक्ष माना जाता है।

नामकरण

आलोचना के लिए सस्कृत में अनेक नामो का प्रचलन प्राचीन काल से होता चला आता है। इसका प्राचीनतम अभिधान **'क्रियाकल्प'** प्रतीत होता है। वात्स्यायन ने चौसठ कलाओं के भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्टकला माना है। 'क्रिया' का अर्थ है काव्यग्रन्थ और 'कल्प' का अर्थ है विधान। इस प्रकार काव्य के विधायक शास्त्र होने से इसका यह नाम प्रचलित हुआ, परन्तु यह प्रसिद्ध न हो सका। इसी प्रकार दशम शती के आरम्भ में राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' में इसका नाम 'साहित्य-विद्या' रखा। यह नामकरण काव्य की कल्पना के ऊपर आश्रित है। काव्य शब्द तथा अर्थ का सम्मिलित रूप होता है और इसी साहित्य अर्थात् समभाव-सम्पन्न शब्द तथा अर्थ की मीमासा होने के हेतु यह नाम दिया गया। परन्तु इसका भी प्रचलन न हो सका और 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द की गति–विधि इसके समान ही ठहरी। 'आलोचनाशास्त्र' का सस्कृत में सर्वप्रसिद्ध नाम है—**अलंकार शास्त्र**। इस शब्द के ठीक-ठीक अर्थ समझने की जरूरत आज भी है। पूछा जा सकता है कि क्या भारतीय आलोचना में केवल अलकारो का (जैसे उपमा, रूपक, दीपक आदि का) ही विवेचन है? अलकार तो कविता के अनेक शोभाधायक तत्त्वो में से अन्यतम ही होता है। ऐसी दशा में केवल अलकारो का प्रतिपादक शास्त्र कहना क्या एकाङ्गी नाम नही है? इसके उत्तर में हमारा यही निवेदन है कि यहाँ 'अलकार' शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ में नही किया गया है। 'अलकार' का अर्थ दो प्रकार का होता है—(क) 'अलक्रियते अनेन' इति अलङ्कार अर्थात् काव्य में शोभा के आधायक तत्त्व (सकीर्ण अर्थ); (ख) 'अलक्रियते' इति अलङ्कार अर्थात् काव्य की शोभा (व्यापक अर्थ)। 'अलकार' को इस व्यापक अर्थ में लेने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलकार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र नही है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्त्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है—**सौन्दर्यमलङ्कार** अर्थात् सौन्दर्य ही अलकार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने तत्त्व है उन सबका सामान्य अभिधान है—अलकार। फलत' 'अलकार शास्त्र' का अर्थ है काव्य के शोभावर्धक तत्त्वो का प्रतिपादक शास्त्र और इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ गृहीत होना चाहिए।

संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर भी इस नाम का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। साहित्यशास्त्र के आरम्भिक युग में अलकार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था।

'अलकार' के अध्ययन से अनेक काव्य-तत्त्व पीछे उद्भूत हुए। अलकार की गहरी मीमासा करने पर एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ और दूसरी ओर दीपक, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्ति आदि अलकारो मे विद्यमान, प्रतीयमान अर्थ की समीक्षा करने से 'ध्वनि' के सिद्धान्त की ओर स्पष्ट सकेत मिला। इसलिए कुमारस्वामी का यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है कि रस, ध्वनि, गुण आदि तत्त्वो के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य की दृष्टि से ही इस शास्त्र का नाम 'अलकार शास्त्र' पडा अर्थात् इस शास्त्र के आद्य युग मे अलंकारो की ही महिमा काव्य मे व्याप्त थी। उन्ही का अध्ययन प्रधान रूप से इस शास्त्र मे किया जाता था। इस शास्त्र के नामकरण का यही रहस्य है।

प्राचीनता

हमारी दृष्टि मे काव्य की आलोचना सबसे पहिले इस भारतवर्ष में संस्कृत के आचार्यों द्वारा की गई। इसका प्राचीन साहित्य आज लुप्तप्राय है। राजशेखर ने अपने मान्य ग्रन्थ—काव्यमीमासा—में इस शास्त्र के १८ अधिकरणो की रचना अठारह उपदेशको के द्वारा बतलाई है। इनकी सत्यता को परखने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नही है। भरत का रूपक-विषयक ग्रन्थ तो आज उपलब्ध है, परन्तु नन्दिकेश्वर के रस ग्रन्थ का, बृहस्पति के दोषग्रन्थ का तथा उपमन्यु के गुणग्रन्थ का कही भी नाम निर्देश नही मिलता। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नन्दीस्वामी, दण्डी से पूर्व आलकारिको मे गिने जाते है, परन्तु इनके मूलग्रन्थ का आज पता भी नही चलता। इस शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है भरतमुनि का नाट्यशास्त्र जो छत्तीस अध्यायो में कारिका के रूप मे रचित एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। यह भारतवर्ष की ललित कलाओ की जानकारी के लिए एक उपादेय प्राचीन ग्रन्थरत्न है। इसके समय तक नाट्यशास्त्र के भीतर अगरूपसे 'अलकारशास्त्र' का अध्ययन होता रहा, परन्तु भामह (पञ्चम शतक) ने अलंकारशास्त्र को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया और तभी से इसका स्वतन्त्र इतिहास उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र की रचना के विषय मे आज भी मतैक्य नही है, परन्तु उसका मूल सूत्ररूप विक्रम से कई शती पूर्व का नि सन्दिग्ध निर्माण है। भरत से प्राचीनतर नटसूत्रो का (जो सम्भवत नट लोगो के प्रयोग विधान की शिक्षा देनेवाले सूत्रग्रन्थ थे) परिचय हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी से लगता है। पाणिनि ने दो अत्यन्त प्राचीन नटसूत्रो के नाम का निर्देश

किया है जिनके रचयिता **शिलालि** तथा **कृशाश्व** थे, परन्तु इनके ग्रन्थ का आज पता नही। इस प्रकार विक्रमपूर्व पष्ठ शतक से लेकर १८ वें शतक, लगभग अढाई हजार वर्षों तक 'आलोचना शास्त्र' का चिन्तन और मनन, अध्ययन तथा अध्यापन इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में होता आया है और आज भी उसका अनुशीलन विद्वज्जनो के द्वारा हो रहा है। भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओ के साहित्यशास्त्र, विशेषत हिन्दी भाषा का, सस्कृत अलकारशास्त्र की परम्परा को ही उज्ज्वल वनाते है तथा उसे उपजीव्य मानकर अपने भडार को भरते है। इतना प्राचीन तथा दीर्घकालीन इतिहास यूरोप के साहित्यशास्त्र का भी नही है, अन्य की तो कथा ही क्या ?

सक्षिप्त इतिहास

अलकारशास्त्र के कतिपय मान्य आचार्यों तथा उनके ग्रन्थो का सामान्य परिचय यहाँ अपेक्षित है। आचार्य **भामह** (षष्ठ शतक) ने अपना 'काव्यालकार' ग्रन्थ लिखकर अलकारशास्त्र का आधारस्थानीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया। **दण्डी** (सप्तमशती) ने 'काव्यादर्श' में रीतियो, अलकारो तथा गुणो का वहुत ही सुन्दर विवरण दिया। **वामन** तथा **उद्भट** काश्मीर नरेश जयापीड (अष्टमशतक) की सभा के पण्डित-रत्न थे जिनमें वामन ने 'काव्यालकारसूत्र' में अलकार के तत्त्वो को नवीन सूत्र पद्धति से प्रस्तुत किया तथा उद्भट ने केवल अलकारो का विस्तृत विवेचन अपने 'काव्यालकार सारसग्रह' ग्रन्थ मे वडी प्रौढता के साथ निवद्ध किया। वामन रीति सम्प्रदाय के सस्थापक थे, तो उद्भट अलकार सम्प्रदाय के उन्नायक थे। **रुद्रट** (नवम शती) का 'काव्यालङ्कार' कारिकाओ के द्वारा काव्यशास्त्र के समग्र विषयो का विस्तार से वोधक ग्रन्थ है। **आनन्दवर्धन** (नवमशतक का मध्य भाग) से साहित्यशास्त्र की एक नई धारा आरम्भ होती है जो 'ध्वनि सम्प्रदाय' के नाम से प्रख्यात है और जिसका तात्त्विक विवेचन इन्होने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में किया। **अभिनवगुप्त** (१०म शतक) शैव दर्शन के मूर्धन्य आचार्य होने के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के भी एक वडे ही मान्य आचार्य हैं जिन्होने रस सिद्धान्त का प्रौढ और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनव भारती' में वडे ही पाण्डित्य के साथ किया है। एकादश शतक में काश्मीर में दो मौलिक आचार्य हुए—**कुन्तक** तथा **महिमभट्ट** जिन्होने ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में नवीन मान्यताओ की प्रतिष्ठा की।

कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित' वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक, बड़ा ही विशाल, प्रौढ तथा मौलिक ग्रन्थ है। **महिमभट्ट** का व्यक्तिविवेक भी उतना ही प्रौढ तथा विचारोत्तेजक सिद्धान्तग्रन्थ है। **धनञ्जय** (११ श०) का 'दशरूपक' नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादक एक लोकप्रिय ग्रन्थ है। **भोजराज** (११ श० का प्रथमार्ध) के दोनो ग्रन्थ—सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगार प्रकाश—अलङ्कार के तत्त्वो की जानकारी के लिए विश्वकोश है। इसी शती के उत्तरार्ध मे विद्यमान आचार्य **मम्मट** ने अपने 'काव्यप्रकाश' मे ध्वनि के विरोधी आचार्यों के मतो का खण्डन इतनी विद्वत्ता तथा युक्ति के साथ किया कि वे 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' के विरुद से विख्यात है। मम्मट ने काव्य के तत्त्वो की जो प्रौढ तथा अन्तरग व्याख्या प्रस्तुत की है, परवर्ती आलकारिक उसका अनुसरण सर्वथा करते है। ऐसे आलकारिको मे मुख्य है—क्षेमेन्द्र, रुय्यक, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ। **क्षेमेन्द्र** ने अपने छोटे, परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' मे औचित्य के सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन किया। **रुय्यक** का 'अलकार सर्वस्व' सचमुच अलकारो का सर्वस्व प्रस्तुत करता है (१२वी शती)। **हेमचन्द्र** का 'काव्यानुशासन' काव्य का एक विस्तृत आलोचक ग्रन्थ है जिसमे मौलिकता की अपेक्षा सकलन के ऊपर ग्रन्थकार का विशेष जोर है (१२ श० का मध्यकाल)। **विश्वनाथ कविराज** का 'साहित्यदर्पण' विवेचना की दृष्टि से सचमुच दर्पण ही है जिसमें साहित्य के समग्र सिद्धान्त अपने विशद रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे है (१४ शतक)। दर्पण के समान लोकप्रिय ग्रन्थ संस्कृत आलोचना में दूसरा नही है। **पण्डितराज जगन्नाथ** (१७ श०) का 'रसगगाधर' अलकार शास्त्र के तत्त्वो का विशेष प्रतिपादक तथा नितान्त मौलिक ग्रन्थरत्न है।

इन संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि संस्कृत का 'अलकार शास्त्र' एक वर्धिष्णु शास्त्र है जिसमें नये-नये सम्प्रदायो का जन्म हुआ तथा प्राचीन सिद्धान्तो का भी विश्लेषण तथा परिबृंहण बड़ी गम्भीरता के साथ सम्पन्न हुआ। इस विकास तथा वर्धन पर दृष्टिपात न करके जो इसे एक स्थितिशील शास्त्र मानते है वे यथार्थता से कोसो दूर है तथा इसके वास्तव रूप से एकदम अपरिचित है।

विशिष्टता

साहित्यशास्त्र पर बहिरग दृष्टि डालनेवाले आलोचक कहते है कि संस्कृत की आलोचना में काव्य के केवल बहिरग तत्त्वो पर ही विचार किया गया है। अलंकारो की

विवेचना तथा दोषो का समीक्षण ही विस्तृत है। अलकार शब्द तथा अर्थ के शोभा-धायक तत्त्व हैं तथा दोषो का सम्बन्ध भी इन्ही दोनो वस्तुओ में होनेवाले दूषणो के वर्णन से है। किसी भी आलोचना-ग्रन्थ को देखिए उसमें इन्ही सिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन मिलेगा। फलत सस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ काव्य के वाहरी विषय में ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। अत सस्कृत आलोचना वाहरी है तथा पाश्चात्य आलोचना की तुलना में वह नगण्य ही है।

यह आरोप एकदम मिथ्या है। सस्कृत आलोचना काव्य के सर्वांग की विवेचना करती है—वहिरग के साथ अन्तरग की भी। रीति, वृत्ति, दोप तथा अलकार काव्य के बाहरी तत्त्व भले हो, परन्तु रस उसका प्राण है और इस प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा जितनी व्यापकता तथा सूक्ष्मता के साथ सस्कृत के आचार्यो ने की है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। रस का उन्मीलन कैसे होता है ? रस कहाँ रहता है ? सहृदयो मे या पात्रो में ? रस कितने हैं ? रस का मनोवैज्ञानिकोंके आधार क्या है ? आदि-आदि अनेक गम्भीर चिन्ताशील विषयों का पूरा समीक्षण हमें सस्कृत के आलोचनाग्रन्थो में मिलेगा। हमारा अलकारशास्त्र विषय की दृष्टि से इतना व्यापक है कि वह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रो का—'पोइटिक्स', 'रेटारिक' तथा 'एस्थेटिक्स' का–प्रतिनिधित्व करता है। 'पोइटिक्स' मे काव्य तथा नाटक के रूप तथा विभाग, गुण तथा सिद्धान्त, का विवेचन हम पाते हैं। 'रेटारिक' का सम्बन्ध वक्तृत्व कला के साथ है और तदुपयोगी गद्य के गुणदोषो का यहाँ वर्णन मिलता है। 'एस्थेटिक्स' मे सौन्दर्य के रूप, तत्त्व तथा महत्त्व का दार्शनिक रूप से विवेचन प्रस्तुत किया जाता हैं। भारतीय 'अलकार-शास्त्र' मे इन विभिन्न शास्त्रो के सिद्धान्तो का एकत्र सुन्दर समीक्षण है। काव्य की आत्मा रस है और इसी रस के अगो और उपागो का विवेचन अलकारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। पाश्चात्य आलोचनापद्धति का ढग दूसरा है। वह जीवनदर्शन की समस्याओं की छानबीन काव्य में देखना चाहती हैं, परन्तु सस्कृत की आलोचना भी इस छानबीन की उपेक्षा नही करती। काव्य का उद्देश्य 'कान्तासम्मितोपदेशयुजे' है अर्थात् काव्य कान्ता के समान कमनीय रूप से जीवन के उपयोगी उपदेशो का विधान है। स्पष्ट है कि जीवन के दर्शन को काव्य दृष्टि से समझने तथा समझाने का भरपूर उद्योग 'अलकार-शास्त्र' में किया गया है।

सस्कृत आलोचना केवल सिद्धान्त के विवेचन मे ही व्यस्त नही रहती है, प्रत्युत व्यवहार को भी भली भाँति समझाती है। कविता कैसे करनी चाहिए ? कवि वनने

के लिए कौन-कौन से साधन होते हैं ? इन विषयो के वर्णन की वह उपेक्षा नहीं करती। बल्कि 'कविशिक्षा' के विषय मे लिखित अनेक ग्रन्थो मे इन विषयो का उपयोगी तथा व्यावहारिक वर्णन हमें उपलब्ध होता है। नाटयशास्त्रीय ग्रन्थो में इसीलिए 'अभिनय' का हम सागोपाग विवेचन पाते हैं। अभिनय के चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। आगिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य। आगिक अभिनय में हाथ तथा पैर के विक्षेप, नेत्र तथा सिर के चालन आदि का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। 'वाचिक' में सम्वाद-तत्त्व का विवरण है। रस की अभिव्यक्ति रगमच पर कैसे की जाती है ? इसका उत्तर हमे 'सात्त्विक' अभिनय के प्रसग मे मिलेगा। आहार्य अभिनय मे पात्रो की वेश-भूषा, सज्जा-सजावट का बडा ही रोचक विवरण है। नाटक क्या है ? तथा उसकी रचना कैसी होती है ? इतना वर्णन कर देने मे ही नाटचशास्त्र का आचार्य अपने कर्तव्य की इतिश्री नही मानता, बल्कि नाटक का अभिनय आकर्षक रूपमे कैसे करना चाहिए ? किन साधनो के द्वारा वह दर्शको के चित्त को अपनी ओर खीच लेता है ? आदि व्यावहारिक तत्त्वो की भी विवेचना वह भलीभाँति यहाँ करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सस्कृत आलोचना' का क्षेत्र बहुत ही विशाल है। वह केवल सिद्धान्त-विवेचन की चहारदीवारी के भीतर ही अपने को बाँध नही रखती, प्रत्युत वह व्यवहार के विस्तृत प्राङ्गण में भी विचरती है तथा व्यावहारिक समस्याओं को हल करती है।

सचमुच 'सस्कृत आलोचना' विषय के विवेचन मे एकदम बेजोड है। उसने तीन ऐसे सिद्धान्तो को ससार के आलोचको के सामने प्रस्तुत कर रखा है जिसका मूल्याकन अभी तो नही भविष्य मे होनेवाला है। विश्व साहित्य के आलोचना-ससार के सामने हमारी तीन महती देन हैं—औचित्य, रस तथा ध्वनि के सिद्धान्त। भारतवर्ष का नव्य आलोचक पश्चिमी आलोचना के प्रवाह मे आज इतना बहता जा रहा है कि उसकी दृष्टि अपने इन महनीय तत्त्वो के समझने की ओर तनिक भी नहीं है। परन्तु सस्कृत आलोचना अपने उदात्त मन्तव्यों तथा तथ्यो से मण्डित होनेवाली एक अनुपम साधना है, इस विषय मे किसी भी विज्ञ आलोचक के दो मत नहीं हो सकते।

द्वितीय परिच्छेद

कवि और उसकी प्रेरणा

कवि ससार का बडा ही सौभाग्यशाली प्राणी है। भगवती शारदादेवी की जब बडी अनुकम्पा होती है, तब प्राणी में वह शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'कवित्व' के नाम से पुकारते हैं। सस्कृत के एक प्राचीन कवि की उक्ति है कि इस ससार में पहिले तो मनुष्य बनना ही एक दुर्लभ गुण है, तिस पर विद्वान् बनना और विद्वत्ता के साथ कवित्व शक्ति को पाना नितान्त दुर्लभ है। कवि की समता प्रजापति के साथ की जाती है। जिस प्रकार प्रजापति अपनी इच्छा के अनुसार इस विशाल तथा विविध पदार्थयुक्त जगत् की सृष्टि करता है, उसी प्रकार कवि भी अपने इच्छानुसार नवीन काव्यो की सृष्टि करता है जो मनुष्यो के हृदय मे आनन्द ही उत्पन्न नही करता, प्रत्युत उनके जीवन को भी उदार तथा उदात्त बनाता है।

कवि

काव्य को करनेवाले व्यक्ति को कवि कहते है। 'कवि' शब्द 'कुवर्णे' अथवा 'कुङ शब्दे' धातु से 'इ' प्रत्यय लगाने से बनता है। राजशेखर की सम्मति में कवि शब्द की निप्पत्ति 'कवृ वर्णे' धातु से हुई है और इसलिए वे 'कवि' का अर्थ वर्णनकर्ता मानते हैं। कवि रस तथा भाव का विमर्शक होता है। वह चिडियो की तरह चहकता है। पक्षियो के कल-कूजन के समान कवि का भी कूजन हमारे कानो में सुधा-धारा प्रवाहित करता है। उसके कूजन (काव्य) के मधुर अर्थ से हम परिचित भले ही न हो, पर सत्कवि की भणिति श्रोताओ के कानो में उसी प्रकार सुधा उडेलने लगती है जिस प्रकार मालती की माला, जिसके सुभग सौरभ की मादकता दर्शको तक पहुँचे बिना भी लोगो के नेत्रों को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती है —

अविदित-गुणापि सत्कविभणितिः
कर्णेषु वमति मधु-धाराम् ।
अनधिगत-परिमलापि हि,
हरति दृशं मालतीमाला ॥
(सुबन्धु—वासवदत्ता, श्लोक ११)

परन्तु अधिकांश भारतीय आलोचकों की दृष्टि में कवि का प्रधान कार्य 'वर्णन' है। मम्मटाचार्य के मत में 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म होता है (लोकोत्तरवर्णना—निपुण-कवि-कर्म)। अर्थात् किसी वस्तु के यथावस्थित रूप के वर्णन में कवि के कवित्व का पर्यवसान नहीं होता, प्रत्युत उसके वर्णन में लोकोत्तरता का, अतिशय का पुट सर्वदा वर्तमान रहता है। भट्टतौत भी कवि को 'वर्णना—निपुण' बतलाते हैं। सच तो यह है कि कवि का प्रधान कार्य होता है किसी वस्तु का या किसी घटना का लोकोत्तर रूप से वर्णन। बिना वर्णन के कवि का यथार्थ रूप विकसित नहीं होता। कवि क्रान्तदर्शी होता है—कवयः क्रान्तदर्शिनः। किसी वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान हुए बिना कोई कवि नहीं हो सकता। वस्तु के बाहरी आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक पहुँचना कवि के लिए परमावश्यक होता है। वह कवि नहीं है बल्कि 'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता' है, वह इधर-उधर से नोच-खसोट कर कविता की काया को बढ़ानेवाला तुक्कड़ है जो वस्तु के ऊपरी सतह पर ही तैरता रहता है और उसके भीतरी तह तक नहीं पहुँच पाता। अतः 'दर्शन' सत्कवि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक गुण है। परन्तु द्रष्टा होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक कवि नहीं हो सकता जब तक अपने प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर वह उसे प्रकट नहीं करता। भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति कवि के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना उन भावों का दर्शन।

कवित्व के आधार

कवित्व के दो आधार-स्तम्भ हैं —दर्शन और वर्णन। इन दोनों के पूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। वाल्मीकि महर्षि तत्त्वों के द्रष्टा थे। परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञान को शब्दों के माध्यम द्वारा प्रकट नहीं किया तब तक उन्हें कवि की महनीय संज्ञा प्राप्त नहीं हुई। न जाने कितनी बार

कितने भावो ने उनके हृदय मे अपना घर वनाया होगा परन्तु कवि की सज्ञा उन्हे तभी प्राप्त हुई जव क्रौञ्च पक्षी के करुण स्वर से उनका कारुणिक हृदय पिघल उठा और उनका आन्तरिक शोक 'श्लोक' के रूप में वाहर छलक पडा।

आचार्य अभिनवगुप्त के विद्यागुरु भट्टतौत ने कवि के स्वरूप के विवेचन में वडे पते की वात कही है कि कवि 'अनृपि' नही होता—कवि ऋपि ही होता है। मन्त्र का द्रष्टा पुरुष ही 'ऋपि' की महनीय उपाधि घारण करता है—ऋपयो मन्त्रद्रष्टार। कवि दर्शन से युक्त होने के कारण ही 'ऋपि' कहलाता है। वस्तु के विचित्र भाव को, उसके अन्तर्निहित धर्म को तत्त्वरूप से जानना ही 'दर्शन' कहलाता है। शास्त्र मे इसी तत्त्व-दर्शन के कारण कवि कवि कहा जाता है। परन्तु लोक मे कवि की सज्ञा दर्शन तथा वर्णन के कारण से एक विशिष्ट अर्थ मे रूढ है। कवि वही है जिसमें 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी सुन्दर सयोग रहता है। दर्शन है आन्तरिक गुण और वर्णन है वाह्य गुण। इन दोनो के मजुल सामजस्य होने पर ही कविता की स्फूर्ति होती है। दर्शन तथा वर्णन का समिश्रण ही काव्यकला के चरम विकास का आधार पीठ है।

कवि की सृष्टि

प्रतिभा के सहारे कवि काव्य-जगत् का स्रष्टा होता है। इस सृष्टि-कार्य में उसकी श्लाघनीय शक्ति का नाम है प्रतिभा। ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि में निजी विशेपता है, अत्यन्त विलक्षणता है। ब्रह्मा अपने सृष्टिकार्य में एकान्त स्वतन्त्रता का अनुभव नही करता, बल्कि वह प्राणियो के कर्म के अनुसार ही सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है। परन्तु कवि अपनी सृष्टि मे नितान्त स्वतन्त्र होता है। उसकी रुचि जैसी होती है वैसी ही सृष्टि वह झट कर देता है —

अपारे काव्य—ससारे कविरेकः प्रजापति.।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते॥

आचार्य मम्मट ने ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की सृष्टि की विशेषता बतलाते हुए बहुत ही सुन्दर लिखा है—

"नियति-कृत-नियम-रहिता-
माह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।

नवरसरुचिरा निर्मितिमादधती ,
भारती कवेर्जयति" ॥
(काव्यप्रकाश--मंगल श्लोक)

आचार्य मम्मट यहाँ कवि-भारती की सृष्टि के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं। कवि की सृष्टि प्रजापति की सृष्टि से कहीं अधिक बढकर है तथा अत्यन्त आनन्ददायक है। ब्रह्मा की सृष्टि नियति के द्वारा उत्पन्न नियमो का पालन करती है । वह सत्त्व, रज तथा तम से निर्मित होने के कारण सुख, दुःख तथा मोह पैदा करती है। वह परमाणुओं के ऊपर आश्रित रहती है, क्योंकि परमाणुओं के संयोग से जगत् की रचना नैयायिको को अभीष्ट है। उसमें छ रस होते हैं और इन रसो के द्वारा वह सदा मनोज्ञ ही नहीं होती। परन्तु कवि की सृष्टि प्रत्येक बात में ब्राह्मी सृष्टि से अपूर्व है। वह नियतिकृत नियमो से रहित और केवल आनन्द-दायिनी है। कवि को छोड़ वह किसी पर आश्रित नही रहती। काव्य में नवरस होते हैं और उनके द्वारा कविसृष्टि सदा रुचिर, मनोज्ञ तथा हृदयहारिणी होती है।

कवि वह जादूगर है जिसके जादू के सामने जगत् का प्रत्येक पदार्थ रसभाव से सम्पन्न दीखने लगता है। कोई वस्तु कितनी भी नीरस क्यो न हो, रस-तात्पर्यवाले कवि के हाथ लगते ही उसमें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है—वह विचित्र रूप में आकर्षक बन जाती है। इसलिए कवि के उपकरण की अवधि नहीं होती। कवि अपने काव्य की सामग्री समस्त विश्व से ग्रहण करता है और अपनी शक्ति के प्रभाव से उसमें नाना प्रकार का वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। इसी लिए कवियो की महनीय परम्परा को देखकर भी नीलकण्ठ कवि हताश नहीं होते। उनका कथन है कि कवियो की इस लम्बी परम्परा को देखकर मुझे सरस्वती का वैभव खाली जान पड़ता है। परन्तु सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश करने पर यही जान पड़ता है कि कवि-कोटि इसके एक कोने में ही पड़ी हुई है—मन्दिर का पूरा आँगन नवीन कवियो के उपयोग के लिए अभी पूरा खाली पड़ा है। सचमुच प्रतिभाशाली कवि के लिए न तो विषय की कमी है और न कल्पना का ह्रास। शारदा का यह विशाल मन्दिर उनके लिए सावकाश बना हुआ है :—

पश्येयमेकस्य कवे. कृति चेत् ,
सारस्वतं कोषमशेषमि रिक्तम् ।

अन्त प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत् ,
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा ॥
(शिवलीलार्णव १।१८)

कवि के लिए इससे बढकर महत्त्व की बात और क्या हो सकती है कि भगवती श्रुति भी उस अखण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को 'कवि' के ही नाम से पुकारती है, न तो उसे 'शाब्दिक' कहती है और न 'तार्किक'। इस जगत् का निर्माता तथा नियन्ता न 'वैयाकरण' कहा गया है और न 'नैयायिक', परन्तु कहा गया है 'कवि'। 'कविर्मनीषी परिभू स्वयभू' आदि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसीलिए भारतीय सस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह 'कवि' के लिए भूषण की बात है —

स्तोतु प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वर हि ,
न शाब्दिक प्राह न तार्किक वा ।
ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीक्ष्ण ,
काष्ठा परा सा कविता ततो न. ॥
(शिवलीलार्णव १।१६)

कवि की प्रेरणा-शक्ति

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् कारण के वह किसी भी प्रवृत्ति के लिए उद्योगशील नही होता है। काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रतीक है। यह अनन्त आनन्द का स्रोत है। मानव उसी आनन्द का प्रकाशन अपनी कला के द्वारा सम्पन्न कर दर्शक तथा पाठक को एव अपने को आनन्दमय बनाने का प्रयत्न करता है। यही अभिव्यजना उसकी अनुभूति को चरम अवसान है।

हमारे मनीषियों की प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि आनन्द के अनुभव के लिए ही ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। वह स्वय रस से तृप्त है। उसकी सृष्टि भी एक अखण्ड रस की धारा से आप्लावित है। रस-प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्द की अनुभूति के लिए प्राणी बेचैन होकर इधर-उधर भटकता है। जब उसे इस आनन्द का कुछ अनुभव हो जाता है तब वह शब्द, चित्र या स्वरो द्वारा

अपनी उपलब्ध तृप्ति को बाहर प्रकट करता रहता है। वह स्वार्थी नही है कि वह समग्र रस का पान चुपचाप स्वय ही कर जाय। वह अपने 'स्व' को इतना विस्तृत और व्यापक बना देता है कि उसके लिए कोई 'पर' रहता ही नही। इसी व्यक्तित्व के प्रसार को, अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य को, साहित्य की भाषा मे 'साधारणीकरण' की सज्ञा दी गई है।

रस की उपलब्धि के अनन्तर उसके उन्मीलन का प्रधान साधन है—कला। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कला या साहित्य के मूल मे कौन-सी प्रेरणा कार्य करती है? कौन वस्तु उसे कला के उन्मीलन तथा काव्य की रचना के लिए अग्रसर करती है? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—स्वान्त सुखाय, अपने मन के सुख के लिए, अपने हृदय के आनन्द के निमित्त ही।

उपनिषदो में लिखा है कि मानव तीन एषणाओ की तृप्ति के लिए ससार मे प्रयत्नशील रहता है। ये एषणाये है—(१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा, (३) लोकैषणा अर्थात् पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा और यश की इच्छा। अन्य शब्दो मे काम, अर्थ और धर्म ही इस ससार में समग्र मानव प्रवृत्तियो के निदान माने गये है। हमारे समस्त कार्य-व्यवहार इन्ही कारणो से होते है। मानव जीवन की समस्त प्रवृत्ति का मूल यही है। परन्तु इन पुरुषार्थो के अतिरिक्त 'मोक्ष' नामक चतुर्थ पुरुषार्थ भी है जो प्राणिमात्र के उद्बोधन तथा प्रवृत्ति का साधन है। यह मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और इसी की सिद्धि के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य सतत प्रवृत्त होते है। हमने गोस्वामी तुलसीदास के ही प्रसिद्ध शब्द 'स्वान्त सुखाय' को समस्त कला की मूल प्रेरक शक्ति माना है। इस विश्व मे समस्त प्रेरणाओं तथा स्फुरणाओ का आधार यही आत्मा है। इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तना का सर्वश्रेष्ठ फल है 'आत्मानं विजानीहि' आत्मा की यही साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तना तथा रसात्मक रचना का मूल स्रोत है। काव्य की प्रेरणा का यही मूल आधार है।

कला मे व्यक्तित्व

भारतीय दृष्टि से काव्य मे कवि के व्यक्तित्व की मधुर झांकी ही नही रहती, प्रत्युत उसकी आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है। काव्य मे व्यक्तित्व के

सम्बध मे दो परस्पर-विरोधी मत पाश्चात्य आलोचना जगत् मे दीख पडते है। एक पक्ष कला में कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास मानता है, तो दूसरा पक्ष कलाकार के व्यक्तित्व का कला मे सर्वथा तिरस्कार तथा परिहार मानता है। सुप्रसिद्ध आलोचक ब्रैडले का कथन है कि "कला न तो वास्तविक जगत् का अश है, न अनुकरण। इसकी दुनिया ही निराली है जो स्वय स्वतन्त्र तथा स्वाधीन रहती है।" इस पक्ष के आलोचक कलात्मक अनुभूति को एक विशेष प्रकार की अनुभूति मानते है जो ससार की अन्य अनुभूतियो से विलक्षण तथा विचित्र होती है।

यह एकपक्षीय मत ही माना जा सकता है। भारतीय आलोचनाशास्त्र मे काव्य मे कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एकान्त रूप मे नही मानी गई है। भारतीय रस-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य पाठको या दर्शको को रसबोध कराना ही है। समाज की मगलकामना, समाज का हितचिन्तन, समाज के कल्याण के लिए उपदेश,—इन सब महनीय उपदेशो की पूर्ति के लिए कवि सतत यत्नशील रहता है। काव्य मे कवि के 'स्व' तथा 'सर्व' मे कथमपि विरोध नही घटित होता।

भारतीय सस्कृति मे समाज और व्यक्ति मे भव्य सामञ्जस्य सदैव वर्तमान रहा है। भारतीय धर्म जिस प्रकार व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश देता हुआ समाज के हितचिन्तन के लिये भी जागरूक रहता है, उसी प्रकार भारतीय साहित्य भी व्यक्ति तथा समाज, दोनो के हितचिन्तन तथा स्वार्थ के एकीकरण के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रकार काव्य वह साधन है जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम द्वारा समाज अपना सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य आलोचको का भी झुकाव इसी सिद्धान्त की ओर दिखाई पडता है। आजकल के सुविख्यात अंग्रेजकवि इलियट का तो यहाँ तक कहना है कि—कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही, बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।

तात्पर्य यह है कि सच्चा कलाकार जीवन की विशालता और विविधता की ओर ही दृष्टि डालता है। उसके सामने वह अपने व्यक्तित्व को भी सर्वथा तिरस्कृत कर देता है। कलाकार समाज में जनमता है। समाज से ही अपने विचारो के लिए पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है। अपने विचारो और भावनाओ को व्यक्तित्व के सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर वह विश्व के साथ सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में हमारे आलोचक कला को कलाकार के सीमित व्यक्तित्व

की अभिव्यक्ति नही मानते, प्रत्युत उसमे उस व्यक्तित्व की झलक मानते है जो विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर चुका है। ऐसे कलाकार की कृति 'सर्वजन-सुखाय' तथा 'सर्वजन-हिताय' अवश्यमेव होती है।

कवि की कोटियाँ

संस्कृत आलोचना मे कवि की अनेक श्रेणियाँ मानी गई है जिनका एक सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है। संस्कृत के मान्य आलोचक राजशेखर ने कवियो का काव्य के विषय की दृष्टि से तीन भेद किया है—(१) शास्त्र कवि (२) काव्य कवि (३) उभय कवि। श्यामदेव नामक आचार्य की सम्मति मे इनमे से क्रमश एक दूसरे से बडा होता है। शास्त्र कवि सबसे निम्नकोटि का होता है। उससे बढकर होता है काव्य कवि और सबसे श्रेष्ठ है उभय कवि। परन्तु राजशेखर इस मत के सर्वथा विरुद्ध है। उनका कहना है कि प्रत्येक कवि अपने विषय मे श्रेष्ठ होता है। यह विभाग विषय की दृष्टि से किया गया है।

शास्त्र-कवि काव्य मे रस-सम्पत्ति का सम्पादन करता है और काव्यकवि शास्त्र के तर्क-कर्कश अर्थ को भी उक्ति की विचित्रता से मनोरम बना देता है। परन्तु उभय-कवि शास्त्र और काव्य, दोनो मे परम प्रवीण होता है। इसलिए शास्त्रकवि और काव्यकवि का प्रभाव एकसमान हुआ करता है। यदि शास्त्रकवि केवल शास्त्र मे ही एकाङ्गी रूप मे प्रवीण होगा तो उसकी कविता माधुर्य से विहीन होने के कारण जन-मन का अनुरजन नही कर सकती। इसी प्रकार काव्यकवि को भी शास्त्र का सस्कार होना चाहिए क्योकि शास्त्र का सस्कार काव्य-रचना मे महती सहायता करता है।

राजशेखर ने शास्त्र कवि के तीन भेद माने है तथा काव्यकवि का भेद उन्होने निम्नाकित रूप से आठ प्रकार का बतलाया है —

(१) रचना-कवि (२) शब्द-कवि (३) अर्थ-कवि (४) अलङ्कार-कवि (५) उक्ति-कवि (६) रस-कवि (७) मार्ग-कवि (८) शास्त्रार्थ-कवि।

इन कवियो के नामो से ही इनकी विशेषता का पता चलता है।

राजशेखर ने अवस्था को दृष्टि मे रखकर कवियो के दस भेद निर्धारित किये है —

(१) **काव्य-विद्यास्नातक**—जो व्यक्ति कवित्व की कामना से काव्य की विद्याओ (व्याकरण, छद, अलकार) तथा उपविद्याओ (चौंसठ कला) के ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में जाकर निवास करता है, वही काव्य-विद्यास्नातक कहलाता है।

(२) **हृदय-कवि**—वह है जो कविता तो बनाता है परन्तु सकोचवश उसे छिपा रखता है। न तो उसे वह किसी को पढ के सुनाता है और न पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित करता है। उसकी कविता का प्रचार उसके हृदय तक ही सीमित रहता है।

(३) **अन्यापदेशी**—वह कवि है जो स्वय कविता को करता है परन्तु दोष के भय से वह दूसरे की रचना कहकर लोगो मे उसका प्रचार करता है। अनेक कवि आरम्भिक दशा मे दूसरो के ही नाम मे अपनी कविता का प्रचार करते है।

(४) **सेविता**—वह कवि है जो प्राचीन कवियो की छाया लेकर कविता करता है।

(५) **घटमान**—वह कवि है जो फुटकर कविता तो सुन्दर लिख लेता है परन्तु कोई प्रबन्ध काव्य नही लिख सकता।

(६) **महाकवि**—वह है जो प्रबन्ध काव्य की रचना मे समर्थ होता है।

(७) **कविराज**—कवियो की सबसे उन्नत कोटि कविराज की है। कविराज वही होता है जो सब प्रकार की भाषा में कविता लिखने में समर्थ होता है।

(८) **आवेशिक**—मन्त्र तथा तन्त्र आदि की उपासना से काव्य रचना मे सिद्धि पानेवाला व्यक्ति आवेशिक कहलाता है।

(९) **अविच्छेदी**—जो जब ही चाहता है तभी बिना किसी प्रतिबन्ध के कविता करता है उसे अविच्छेदी कवि कहते हैं।

(१०) **सक्रामयिता**—उसे कहते हैं जो स्वय सिद्धमन्त्र होकर मन्त्र के बल पर दूसरो में—बालक तथा बालिकाओ में—सरस्वती का सक्रमण कराता है।

आलोचक

कवि के समान 'आलोचक' की भी मीमासा सस्कृत के ग्रन्थो में बडी विशदता के साथ की गई है। काव्य के गुण-दोष की विवेचना करनेवाले व्यक्ति को 'आलोचक' कहते है। वह काव्य के मर्म को समझता है तथा उसे उपयुक्त शब्दो मे समझाता है। आलोचक के महनीय गुणो में से अन्यतम गुण है—काव्य के अन्तस्तल तक पहुँचने की क्षमता। जो व्यक्ति काव्य के केवल सतह पर ही तैरा करता है और जो उसके

भीतर पैठने की योग्यता नही रखता, वह कथमपि अपने उत्तरदायित्व का पूरा निर्वाह नही कर सकता। बिना दृढ परीक्षा किये, बिना मार्मिक आलोचना किये किसी वस्तु के गुणदोष का पूरा ज्ञान हमें हो नही सकता। इसलिए काश्मीर के कमनीय कवि मंखक की यह उक्ति इस विषय मे विशेष आदरणीय मानी जाती है—

नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षा,
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेष.।

बिना हवा के तीव्र झोके के सामान्य दीप तथा मणिदीप का भेद कथमपि नहीं जाना जा सकता। आलोचना की भी इसीलिए आवश्यकता है कि मित कवि (सामान्य कवि) तथा महाकवि (महनीय कवि) के अन्तर स्पष्टत मालूम हो जायें। और इसी कार्य के सम्पादन की योग्यता से मण्डित व्यक्ति ही आलोचक का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर सकता है। अत व्युत्पत्ति आलोचक के लिए अत्यन्त आवश्यक गुण होती है। जिस भाषा मे काव्य निबद्ध हो उससे परिचय रखना तो जरूरी है ही। साथ ही साथ उस भाषा के तत्सदृश अन्य ग्रन्थो से परिचय रखना तुलना करने के लिए बहुत ही जरूरी होता है। आलोचक के लिए दूसरा गुण है—मर्मज्ञता अर्थात् भावुकता काव्य के रहस्य को समझने की योग्यता होना। इसके लिए प्रतिभा की आवश्यकता है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री तथा भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि को काव्य निर्माण करने मे सहायता देती है, तो भावयित्री प्रतिभा भावक (आलोचक) को काव्य के गुण-दोषो की भावना करने मे साधन बनती है। इस गुण के अभाव में आलोचना तलस्पर्शिणी नही होती, प्रत्युत इधर-उधर की बातो का वर्णन करके ही वह समाप्त हो जाती है। आलोचक जितना ही मर्मज्ञ तथा प्रतिभा-सम्पन्न होगा उसकी गुण-दोष-विवेचना उतनी ही सुन्दर और यथार्थ होगी तथा कवियो के भावो को प्रकट करनेवाली होगी। कविता का पाठक भी रसिक होना चाहिए, आलोचक की तो बात ही न्यारी है। इसीलिए कोई संस्कृत कवि प्रजापति से प्रार्थना कर रहा है कि मेरे किये गये पापो का कोई दूसरा फल आप दीजिए, उसे मैं सहने के लिए तैयार हूँ, परन्तु अरसिक पुरुषो के सामने कविता के सुनाने का दण्ड आप मेरे सिर में कभी न लिखिए, मेरा यही दृढ आग्रह है—

इतर पापफलानि यथेच्छया,
वितर तानि सहे चतुरानन।

अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं,
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥

आलोचक का तीसरा गुण होता है—**मत्सरहीनता**, कवि विशेष की कविता से मत्सर न करना, डाह न करना। आलोचक को उदार होना चाहिए और काव्य के गुणदोषों को अपने औदार्य तथा सहानुभूति से परखना चाहिए। मत्सर आलोचक की आँखें ही बन्द कर देता है। काव्य में पैठने की योग्यता ही उसकी मारी जाती है। फलत वह काव्य को ठीक कसौटी पर कस नहीं सकता। ये ही आलोचक के लिए सर्वमान्य मुख्य गुण हैं—व्युत्पत्ति, मर्मज्ञता तथा मत्सरहीनता।

कवि और आलोचक

कवि तथा आलोचक के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ आचार्य लोग कवि तथा भावक की अभिन्नता मानने के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं कि कवि ही भावक हो सकता है और भावक ही कवि हो सकता है, परन्तु स्वयं महाकवि कालिदास दोनों की भिन्नता मानने के पक्ष में हैं। उनकी सम्मति में 'भावक' कवि से भिन्न हुआ करता है। 'कवि' का काम है काव्य का सर्जन और 'भावक' का कार्य है काव्य का समीक्षण। ये दो भिन्न-भिन्न व्यापार हैं और इनके आधार को भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। शालग्राम शिला से सोना पैदा होता है और कसौटी का पत्थर उसे कसता है। दोनों पत्थर हैं और रंग में दोनों काले हैं, परन्तु एक सुवर्ण का उत्पादक है और दूसरा उसका परीक्षक है। कवि तथा भावक में भी यही अन्तर वर्तमान है। इसीलिए भावक कभी-कभी ऐसे भावों को, गुणों को काव्य में खोज निकालता है जिसका पता स्वयं कवि को भी नहीं रहता। तथ्य यह है कि समीक्षण वस्तुत एक विलक्षण तथा स्वतन्त्र शक्ति है और इस शक्ति को रखनेवाला व्यक्ति कवि से सचमुच भिन्न तथा पृथक् होता है।

आलोचक की कोटियाँ

आलोचक चार प्रकार के माने जाते हैं—

(१) **अरोचकी**—सूक्ष्म आलोचना की भावना से मण्डित व्यक्ति जिसे छोटे-मोटे काव्य रुचते ही नहीं। इसकी दृष्टि बड़ी पैनी होती है और जब कोई काव्य

वास्तव गुणो से सम्पन्न नही होता तब वह उसकी शोभनता को मानने के लिए उद्यत नही होता।

(२) **सतृणाभ्यवहारी**—स्थूल दृष्टि-वाला आलोचक जो गुण तथा दोष मे वास्तव अन्तर नही समझ सकता।

(३) **मत्सरी**—कवि से डाह रखनेवाला आलोचक जो काव्य के गुण-दोषो की ओर न जाकर कवि के व्यक्तिगत गुण-दोष की ओर जाता है और काव्य की अन्यायपूर्ण आलोचना करता है।

(४) **तत्त्वाभिनिवेशी**—काव्य तत्त्व की पकड रखनेवाला आलोचक जो काव्य के भीतर घुसता है तथा उसके छिपे हुए भी गुण-दोषो को समझकर उन्हें उचित शब्दो मे अभिव्यक्त करता है।

इन चारो प्रकार मे प्रथम तथा चतुर्थ प्रकार के आलोचक विवेकी होते है और बीचवाले आलोचक विवेकहीन होते है। इसलिए आदिम तथा अन्तिम आलोचक ही श्लाघ्य तथा प्रशसनीय माने जाते है और सस्कृत आलोचना का यही लक्ष्य है कि इस प्रकार के आलोचकों की आलोचना काव्य के मर्म उद्घाटन में वस्तुत समर्थ होती है।

———

तृतीय परिच्छेद

काव्य के हेतु

कवि के लिए काव्य का प्रधान साधन है **प्रतिभा**। संस्कृत भाषा के सर्वप्रथम आलंकारिक भामह की सम्मति में शास्त्र और काव्य का अध्ययन करनेवालो में यही अन्तर होता है कि जड बुद्धिवाला भी मनुष्य गुरु के उपदेश से शास्त्र को अच्छी तरह से पढ सकता है। परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है। यदि शिष्य मे प्रतिभा का अभाव है तो गुरु के लाख उपदेश देने पर भी, उसके हृदय में काव्य का अंकुर उत्पन्न नही हो सकता —

गुरूपदेशादध्येतु शास्त्र जडधियोऽप्यलम् ।
काव्य तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत. ॥

प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही ऐसी कविता कर सकता है जिसमे एक पद भी निन्दनीय न हो। क्योंकि दोषयुक्त काव्य की रचना करनेवाला कवि उसी प्रकार निन्दनीय होता है जिस प्रकार दुष्ट पुत्र के द्वारा पिता। कुकविता साक्षात् मरण है। इस साहित्यिक मृत्यु से वही व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है जो प्रतिभा की सम्पत्ति से सम्पन्न रहता है। कवि न होना (अकवित्व) बुरी चीज नही है परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु है। इस प्रकार भामह ने काव्यहेतुओ मे सबसे श्रेष्ठ स्थान प्रतिभा को ही प्रदान किया है।

प्रतिभा

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है—**प्रज्ञा नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा मता**—अर्थात् नये-नये अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के अनुसार पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के संस्कार के

परिपाक से पुष्ट होनेवाली विशिष्ट कवित्व-शक्ति ही प्रतिभा है :—'प्राक्तनाद्यतन संस्कार-परिपाक-प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति'। वामन के अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति होती है, वही कार्य प्रतिभा के द्वारा भी होता है। प्रतिभा है क्या ? यह पूर्वजन्म से आनेवाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना-रूप से कवि के हृदय मे निवास करता है। प्रतिभा के विना प्रथमत काव्य निष्पन्न ही नही होता और यदि यह निष्पन्न हुआ भी तो यह काव्य उपहास का पात्र बनता है। वामन का यह तथ्य-कथन प्रतिभा की काव्य मे गहरी उपादेयता का पुष्ट परिचायक है। भट्ट गोपाल के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादानरूप संस्कार-विशेष है। राजशेखर के अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है जो कवि के हृदय मे शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को, उक्ति के मार्ग को तथा इसी प्रकार अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है। राजशेखर ने एक बडे ऐतिहासिक तथ्य का परिचय इस प्रसग में दिया है। वे कहते है कि मेधाविरुद्र और कुमारदास आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे परन्तु उनके काव्यो मे सासारिक पदार्थों का वर्णन जो इतना सचित्र और सटीक है वह प्रतिभा के ही विलास का फल है।

विभिन्न मत

इन विभिन्न आचार्यों के मतानुसार प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है—ऐसा मानस धर्म है जो दूसरे जन्म में होनेवाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। भामह के अनन्तर दण्डी ने काव्य-साधक हेतुओं मे प्रतिभा के साथ शास्त्र-ज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। उनकी सम्मति मे केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं हो सकती। इनके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोग का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है —

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पदः ॥

(दण्डी-काव्यादर्श १।१०३)

प्रतिभा तो पूर्व जन्म की वासना के गुणो पर आश्रित रहती है। यदि किसी कवि को प्रतिभा की देन नहीं मिली तो दण्डी उसे निरुत्साहित कर आग्रह से

पराङ्मुख होने की सलाह नहीं देते। वे यह भी आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्र से या यत्न से कविता की उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कवि के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखलाती है।

वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। वे प्रतिभा को 'प्रतिभान' शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं। वे इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य-रचना में उद्यम, काव्योपदेश करनेवाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान—चित की एकाग्रता—को भी काव्य-रचना का सहायक स्वीकार किया है।

रुद्रट ने भी काव्य-कारणों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को एक साथ कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु मानते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है उसी का नाम शक्ति है —

"मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति, यस्यामसौ शक्तिः॥
(रुद्रट–काव्यालंकार १।१५)

आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों काव्य-साधनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखनेवाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है। प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति नितान्त स्पष्ट है —

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य, झगित्येवावभासते॥

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता। आचार्य मंगल अभ्यास को ही काव्य-कर्म में सबसे अधिक उपयोगी साधन मानते हैं। परन्तु राज-

शेखर का मत इन दोनों से भिन्न है। वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं। वे समाधि तथा अभ्यास दोनों को शक्ति का उद्भासक मानते हैं। उनके मतानुसार केवल शक्ति ही काव्य में हेतु होती है।

आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि **शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास** काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। शक्ति प्रतिभा का ही दूसरा नाम है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता तथा निष्पन्न होने पर वह काव्य लोकप्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विद्याओं के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती है उसी का नाम निपुणता है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत व्युत्पत्ति को ही मम्मटाचार्य ने निपुणता का नाम दिया है। काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य-करण के निरन्तर चिन्तन का नाम अभ्यास है। सच तो यह है कि काव्य-मर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओं के लिए अमृत का काम करती है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने पर भी कवि अपने मनोरथ में तब तक कृतकार्य नहीं होता जब तक वह सद्गुरु की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नहीं करता। मम्मटाचार्य ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास—इन तीनों को काव्य का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है। इसीलिए इस सुप्रसिद्ध कारिका में 'हेतु' शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है, बहुवचन में नहीं (हेतुर्न तु हेतव)।

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

(काव्य-प्रकाश १।३)

कविवर भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में मम्मट के ही स्वर में स्वर मिलाकर शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीनों को मिलाकर काव्य का उद्भावक माना है और उदाहरण रूप से रथ के चलने की घटना को दिखलाया है। रथ किसी एक ही वस्तु से नहीं चलता, प्रत्युत उसके चलने के लिए अनेक वस्तुओं का समवाय चाहिए। काव्य के लिए भी यही बात है। पूर्वोक्त तीनों साधनों के एकत्र होने पर ही काव्य-रथ सुन्दर गति से आगे बढ़ता है—

शक्ति कवित्त बनाइवे की
जिहि जन्म नछत्र में दीन्ह बिधातै।

काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों
देखी सुनी बहुलोक की बातैं ।
'दास जू' जामें एकत्र ये तीनि,
बनै कविता मनरोचक तातैं ।
एक बिना न चलै रथ जैसे
धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं ।।

कवि के लिए आलोचना-शास्त्र का ज्ञान परमावश्यक होता है—

जानै पदारथ भूषन मूल रसांग परांगनि में मति छाकी ।
त्यों धुनि अर्थ सु वाक्यनि लै गुन शब्द अलंकृत सों रति पाकी ।।
चित्र कवित्त करै तुक जानै न दोपन पंथ कहूँ गति जाकी ।
उत्तम ताको कवित्त बनै करै कीरति भारती यों अति ताकी ।।
—भिखारीदास

निष्कर्ष

इस ऐतिहासिक विवेचन का निष्कर्ष यह है कि काव्य का मुख्य हेतु **शक्ति** या प्रतिभा है। यह एक जन्मान्तरीय संस्कार है जो जन्म से पैदा होता है और विद्या के अभ्यास से धीरे-धीरे विकसित होता है। दूसरे हेतु का नाम निपुणता या **व्युत्पत्ति** है जो लोक तथा शास्त्र के अवेक्षण तथा अनुशीलन से उत्पन्न होती है। कवि का क्षेत्र नितान्त विस्तृत होता है। ऐसी कौन विद्या नहीं जिसकी जानकारी कवि को न होनी चाहिए। संसार के विषयों का निरीक्षण कवि का परम धर्म है। इस विषय की जानकारी के लिए आलंकारिकों ने **"कवि शिक्षा"** के विषय में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिसमें कवियों के लिए उपादेय ज्ञान-साधनों से परिचय कराने की उपयोगी सामग्री संकलित है। **अभ्यास** तीसरा काव्यहेतु है। काव्य करनेवाले तथा उसकी आलोचना करनेवाले विद्वानों की शिक्षा से कविकर्म में अभ्यास उत्पन्न होता है। सैद्धान्तिक रूप से काव्य के रूप, तत्त्व तथा मर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं होता, प्रत्युत कवि को व्यावहारिक रूप से कविता बनाने की कला का सीखना भी आवश्यक होता है। इसके लिए संस्कृत के कवियों को 'समस्या पूर्ति' करने की कला गुरुजनों के द्वारा सिखलाई जाती थी।

समस्यापूर्ति

प्राचीन काल में समस्या की पूर्ति कर अपने बुद्धि-कौशल या प्रतिभा दिखलानेवाले कवियों का बड़ा ही सत्कार होता था। गुजरात के सोमेश्वर कवि के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि राजा ने उन्हें एक समस्या दी—काकः किं वा क्रमेलकः (कौवा या ऊँट?) राजस्थान की प्रेमिकाओं के मनोभाव से परिचित होनेवाले कवि ने इस समस्या की पूर्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से तुरन्त कर डाली—

येनागच्छन् ममाख्यातो येनानीतश्च मत्पतिः ।
प्रथमं सखि ! कः पूज्यः काकः किं वा क्रमेलकः ॥

नायिका अपनी सखी से पूछती है कि मेरे लिए कौन पहिले पूज्य है—कौवा या ऊँट? कौवे ने तो घर आनेवाले पति की सूचना काँव-काँव शब्दों से पहिले ही मुझे दी और ऊँट ने इस राजस्थानी रेगिस्तान से मेरे पति को अपनी पीठ पर चढ़ाकर कुशलपूर्वक घर पहुँचाया। अतः दोनों का कार्य मेरे लिए श्लाघनीय तथा उपादेय है। ऐसी दशा में प्रथम पूजा का अधिकारी कौन है? कौआ या ऊँट?

कवि की प्रतिभा से सभा चमत्कृत हो गई और उसे पर्याप्त पुरस्कार मिला। ऐसे कवियों के सहवास में रहकर नवीन कवि शिक्षा ग्रहण करता था और अपने लिखने का मार्ग प्रशस्त बनाता था।

इस प्रकार संस्कृत-आलोचना काव्य के हेतु में केवल सिद्धान्त के ज्ञान को ही महत्त्व नहीं देती, प्रत्युत वह रचना के व्यावहारिक पक्ष पर भी जोर देती है। कवि के लिये दोनों की जानकारी आवश्यक मानी जाती है।

चतुर्थ परिच्छेद

काव्य का प्रयोजन

जगत् की कोई भी सृष्टि विना किसी उद्देश्य या तात्पर्य के नही होती। काव्य की रचना में भी कवि का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है जिसकी सिद्धि के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। इस विषय की मीमासा सस्कृत के आचार्यों ने वडी गम्भीरता के साथ की है।

भरतमुनि की सम्मति मे नाटक (और काव्य भी) धर्म तथा यश उत्पन्न करता है, वह सदा हितकारक होता है, वुद्धि को वढाता है और लोगो को उपदेश प्रदान करता है। मानव जीवन के चार ही पुरुषार्थ होते हैं जिनकी सिद्धि के लिए प्रत्येक प्राणी यत्नशील रहता है। वे है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारो पुरुषार्थों की उपलब्धि सुखपूर्वक कम वुद्धिवाले व्यक्तियो को काव्य के सेवन से ही होती है। सस्कृत के दर्शन तथा धर्मग्रन्थो मे भी इनके पाने के मार्ग का वर्णन वहुश मिलता है, परन्तु उसके समझने के लिए विशेष वुद्धि चाहिए। वे ग्रन्थ नितान्त कठिन हैं और उनको ठीक-ठीक समझना कोई खेल की वात नही है। अत उनके समझने मे विशेष वुद्धिवाले व्यक्तियो को भी माथापच्ची करनी पडती है। तव कही जाकर उनके रहस्य समझ में आते हैं। धर्म के ही तत्त्व को लीजिए। स्मृति-ग्रन्थो की सहायता से धर्म का रहस्य समझा जा सकता है, परन्तु फिर भी अधर्म से धर्म का विवेक तथा निर्णय करना एक टेढी खीर है। इसीलिए प्रसिद्ध उक्ति है कि धर्म का तत्त्व वुद्धि के गम्भीर गह्वर में छिपा हुआ है। जिस मार्ग से महाजन लोग चलते हैं वही मार्ग है—उसी के ग्रहण करने से कार्य की सिद्धि होती है।

धर्मस्य तत्व निहितं गुहाया महाजनो येन गत स पन्था

मोक्ष का विषय तो और भी गम्भीर, सूक्ष्म तथा विवेचक वुद्धि से ग्राह्य होता है। मोक्ष की विवेचना करनेवाले दर्शनो की कमी नहीं है, ऐसी दशा में किस

सिद्धान्त को माने और किसे न माने ? इस प्रश्न की मीमांसा बड़ी कठिन होती है। नीतिशास्त्र का उपदेश नीति के विषय में अवश्य है, परन्तु वह इतना रूखा-सूखा है कि न तो हृदय उसे जल्दी ग्रहण करता है और न हृदय में वह जल्दी उतरता है। एक कान से हम उसे सुनते हैं और दूसरे कान से उसे निकाल देते हैं। परन्तु काव्य के अनुशीलनकर्ताओं की दशा ऐसी नहीं होती। उन्हें तो इन विषयों के हृदयंगम करने में न तो विलम्ब होता है और न उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में कोई रुकावट होती है। बात यह है कि काव्य रसात्मक वाक्य होता है जिसे पढ़ते ही वह विषय चित्त पर चढ़ जाता है और उसे अपने जीवन में उतारने की स्वाभाविक तथा सफल इच्छा उत्पन्न होती है।

एक उदाहरण लीजिए। 'परोपकार' एक आदर्श गुण है जिसका अनुशीलन मानवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। धर्मग्रंथों में इसका महत्त्व अनेक बार वर्णित है, परन्तु फिर भी वह वर्णन उतना न तो प्रभाव डालता है और न चित्त को उस मार्ग के अनुशीलन की ओर ही अग्रसर करता है। क्यों ? कारण यही है कि धर्मग्रन्थों का आदेश आकर्षक नहीं होता। उधर 'नागानन्द' नाटक पर दृष्टिपात कीजिए। नाटक का कथानक बड़ा सुन्दर, भव्य तथा उदात्त है। जीमूतवाहन अपने आश्रमवासी माता-पिता की सेवा के लिए राजपाट छोड़कर उसी आश्रम में चला जाता है। घूमते-घामते वह समुद्र के किनारे पहुँचता है जहाँ हड्डियों की एक विशाल राशि उसके ध्यान को आकृष्ट करती है। उसी समय एक वृद्धा नागिन अपने पुत्र शंखचूड के भावी बलिदान से विह्वल होकर जोरों से चिल्ला रही है। गरुड को प्रतिदिन एक नाग भोजन के लिए दिया जाता है, इसका पता जीमूतवाहन को चलता है। बस क्या है ? वह शंखचूड के स्थान पर स्वयं गरुड के लिए बलि बन जाता है। गरुड आते हैं और स्वेच्छया उसके शरीर को अपनी दृढ़ चोंच से फाड़कर खाते हैं, परन्तु जीमूतवाहन के मुँह से 'उफ' भी नहीं निकलता। वह तो गरुड के रुक जाने पर खाने के लिए स्वयं आग्रह करता है। उसका शरीर काटा जा रहा है। शिराओं से खून टपक रहा है, परन्तु उसके चित्त में नितान्त उत्साह तथा परोपकार की भावना उद्वेलित होती है। अन्त में गरुड को हार माननी पड़ती है और वह नागों के खाने से विरत होता है और स्वर्ग से अमृत लाकर मरे हुए नागों को जिला देता है। इस कथानक को पढ़कर तथा रंगमंच के ऊपर उसका अभिनय देखकर दर्शकों के चित्त के ऊपर जो प्रभाव पड़ता है वह तात्कालिक न होकर दीर्घ-

कालीन रहता है। उसकी छाप अमिट रहती है। काव्य तथा नाटक का यही सरस ढग है जिससे उपदेश श्रोताओ के हृदय मे शीघ्र पहुँच जाता है। इसीलिए हम थोडे मे कह सकते है कि **चारो पदार्थों की प्राप्ति का सुलभ तथा सरस साधन काव्य ही** है जिसका अनुशीलन कर अल्प बुद्धिवाले प्राणी भी अनायास ही मानव-जीवन के सर्वोपयोगी वस्तुओ को प्राप्त कर सकते है । इस प्रकार काव्य का तात्पर्य अपनी विलक्षणता रखता है ।

गौण प्रयोजन

आचार्य मम्मट की सम्मति मे काव्य के प्रयोजन का विश्लेषण कुछ विशदता के साथ किया गया मिलता है। काव्य के प्रयोजन दो प्रकार के है—गौण तथा मुख्य। गौण प्रयोजन से अभिप्राय 'वहिरङ्ग' प्रयोजनो से है तथा मुख्य से अभिप्राय 'अन्तरग' प्रयोजनो से है। काव्य के वहिरङ्ग प्रयोजनो की चर्चा यहाँ प्रथमत की जाती है। काव्य के गौण प्रयोजन निम्नलिखित है—

(क) **यश**—काव्य की रचना करने से कर्ता को विपुल यश मिलता है। कवि को इस भूतल से गये कितनी शतियाँ वीत जाती है, परन्तु काव्य-ग्रन्थ उसका विमल यश फैलाता हुआ भूतल पर उसे चिरस्थायी बनाता है। जैसे कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यो के द्वारा अतुल कीर्ति अर्जित की है। हिन्दी में तुलसी तथा सूर का यश चिरस्थायी रहेगा। इसीलिए महाकवि भर्तृहरि ने वडी मार्मिकता से लिखा है कि उन रससिद्ध (पारा सिद्ध करनेवाले तथा शृगारादि रसो की काव्यो में निष्पत्ति करनेवाले) कवीश्वर (वैद्यराज तथा कविराज) लोगो का जय हो जिनके यशरूपी शरीर में न बुढापे का डर है और न मृत्यु का भय है। पारद के सेवन से कायाकल्प हो जाता है। उसी प्रकार रस की सिद्धि होने पर कवियों का यश चिरस्थायी होता है —

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा. ।
नास्ति येषा यश. काये जरामरणज भयम् ॥

(ख) **अर्थ**—धन की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है। कविगण अपने आश्रय-दाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे और उसके बदले में उन्हे धन की अपार राशि उपहार में मिलती थी । धावक तथा वाणभट्ट ने श्रीहर्ष से अपने काव्य-ग्रन्थो के द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की, इसका साक्षी तत्कालीन इतिहास है ।

हिन्दी के कवियों ने मध्ययुग मे जिन अलकार ग्रन्थों का प्रणयन किया, उनमें उनके आश्रयदाता के गुणों की भव्य स्तुति है और इसका सद्य फल है अर्थ की प्राप्ति।

(ग) **व्यवहार-ज्ञान**—काव्य के द्वारा व्यवहार का भी पूर्ण ज्ञान हमे होता है। राजदरबारो का पता सामान्यजनो को हो, तो कहाँ से हो ? राजा का आचार-विचार, रहन-सहन, उठने-बैठन का ढग आदि राजा-विषयक समस्त बातो की जानकारी हमें काव्य से होती है। काव्य के अनुशीलन से हम किसी युगविशेष के लोगो का आचरण तथा व्यवहार भली भाँति जान सकते है। महाकवि कालिदास के काव्यो का अनुशीलन कीजिए, सम्राट् विक्रमादित्य के समय का भारत अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रो के आगे प्रस्तुत हो जाता है।

(घ) **अमंगल-निवारण**—काव्य के द्वारा विशिष्ट देवताओं की स्तुति प्रस्तुत की जाती है जिससे वे प्रसन्न होकर रचयिता के अमगल का नाश करते है तथा मगल का विधान करते है। इसके कितने उदाहरण साहित्य के इतिहास में प्रख्यात है। सुनते है कि सप्तशतक के प्रख्यात कवि मयूरभट्ट का कुष्ठ रोग सूर्य की स्तुति में विरचित 'सूर्यशतक' नामक भव्य काव्य के प्रणयन करने पर नष्ट हुआ था। तुलसीदास के विषय में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि उनके बाहु में बडी पीडा थी जिसका निवारण उन्होंने 'हनुमान बाहुक' नामक उद्भट काव्य-ग्रन्थ लिखकर किया। अन्य कवियो के विषय में भी ऐसी कथायें प्रचलित है जिससे इस प्रयोजन की व्याख्या होती है।

मुख्य प्रयोजन

मम्मट के अनुसार काव्य के मुख्य प्रयोजन दो है —

(ङ) **परमानन्द की सद्यः अनुभूति**—काव्य का यही तो मुख्य प्रयोजन है कि काव्य के पढते ही पढते रस का आस्वाद होने लगता है और पाठक अपने को एक अलौकिक आनन्द या अनुभव करता हुआ पाता है। उस समय किसी भी दूसरी वस्तु का ज्ञान उसे नहीं रहता। दूसरी वस्तु के ज्ञान का स्पर्श भी नहीं रहता। यदि ऐसा होता, तो वह वस्तु बाधक के समान आ जाती होती और काव्य का निरछल एकरस आनन्द कभी उत्पन्न हो नहीं होता। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' प्रयोजन है। महाकवि मतिराम का यह सवैया पढिये। पढते ही पाठक के हृदय में विमल आनन्द का उदय हो जाता है। लोगों की निन्दा

से तग आकर राधिका वन में जाकर चुपके-चुपके तपस्या करना चाहती है जिससे वह वनमाला बनकर कृष्ण के हृदय में लग जाय तथा मुरली बनकर श्यामसुन्दर के अधरो का रस चखे। आनन्द की भव्य भावना को छोड यह सवैया कुछ उत्पन्न नही करती—

क्यों इन आँखिन सों निरसक ह्वै, मोहन को तन पानिय पीजे ।
नेकु निहारे कलक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे के जीजे ।
होत रहै मन यो 'मतिराम', कहूँ वन जाय वडो तप कीजे ।
ह्वै वनमाल हिए लगिए अरु, ह्वै मुरली अधरा-रस पीजे ।।

इस प्रयोजन की प्रशसा में धनञ्जय ने बहुत ही ठीक कहा है कि आनन्द घुलानेवाले रूपको को पढकर यदि कोई पाठक 'व्युत्पत्ति' पाने का इच्छुक हो, तो उस अल्पबुद्धि आलोचक को दूर से ही प्रणाम है। आनन्द के सामने व्युत्पत्ति की महिमा क्या तनिक भी है ? नही, बिल्कुल नही ।

आनन्द निस्यन्दिषु रूपकेषु,
व्युत्पत्तिमात्र फलमल्पबुद्धि. ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधु,
तस्मै नम स्वादपराङ्मुखाय ।।

धनञ्जय का दशरूपकस्थित यह पद्य बडे महत्त्व का है। रूपक का मुख्य प्रयोजन है—आनन्द उत्पन्न करना और इसीलिए वह इतिहास से भिन्न है, क्योंकि इतिहास का लक्ष्य है व्युत्पत्ति। रूपक तथा इतिहास का यही तो अन्तर है। चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में दो ग्रन्थ प्रस्तुत मान लीजिए जिनमें एक तो है इतिहास और दूसरा है तद्विषयक कोई नाटक। इतिहास के अनुशीलन से हम इतना ही जान सकते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य कौन था ? कैसा था ? किन-किन कारणो से उसकी कीर्ति कौमुदी आज भी भूतल को सुशोभित कर रही है ? इन प्रश्नो के उत्तर से हमारी केवल 'व्युत्पत्ति' बढती है। उधर चन्द्रगुप्त-विषयक रूपक (जैसे सस्कृत में मुद्राराक्षस) का अध्ययन कीजिए। उसके रसात्मक वर्णन तथा अभिनय से हम इतने आनन्द-विभोर हो उठते है कि हम अपने-आप को भी भूल जाते हैं। नाटक देखते समय हम इतने रसावेश मे बह चलते है कि हम देश तया काल की परिधि से अपने आपको बिल्कुल अछूता पाते है। हम आनन्द की धारा में डुबकी लगाते रहते है। रूपक का यही उद्देश्य है—

आनन्दबोध। इस प्रकार विषय की एकता होने पर भी पद्धति की भिन्नता से दो प्रकार का फल उत्पन्न होता है। अतएव रूपक अथवा काव्य का उच्चतम उद्देश्य है दर्शक अथवा श्रोता के हृदय में आनन्द की उद्भूति। और काव्य का यही चरम लक्ष्य है।

महाकवि रहीम के इस दोहे को देखिए। आनन्द उत्पन्न करने के अतिरिक्त इसका लक्ष्य ही क्या हो सकता है?

मनसिज माली की उपज, कहि 'रहीम' ना जाय।
फल स्यामा के उर लगैं, फूल स्याम उर आय॥

इस दोहे में कवि कामदेव रूपी माली की विचित्र करतूत का वर्णन कर रहा है कि उसकी उपज शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक बताई नहीं जा सकती। श्यामा राधिका के उर में पहिले तो फल लगते हैं और उसके बाद उसे देखकर श्यामसुन्दर का उर फूल जाता है। यहाँ राधिका के यौवन भाव को देखकर श्रीकृष्ण के हृदय को आनन्द मग्न होने का भाव कितनी भावुकता के साथ प्रकट किया गया है। फूल के बाद ही फल लगता है और वह भी उसी स्थान में जहाँ प्रथमतः फूल उगते हैं—यही तो प्रकृति का नियम है। परन्तु यहाँ तो इसका स्पष्ट विरोध है। फल तो पहिले लगते हैं और उसके बाद फूल खिलता है और वह भी भिन्न स्थान पर। फल उगने का स्थान है श्री राधिका का उर और फूल खिलने की जगह है श्रीकृष्णचन्द्र की छाती। विशुद्ध आनन्द का उदय श्रोताओं के हृदय में कराना ही इस दुर्लभ दोहे की करामात है। ! !

(च) **कान्ता के समान उपदेशदान**—काव्य का यह प्रयोजन भी मुख्य प्रकारों में अन्यतम है। कान्ता के समान कविता सरसता उत्पन्न कर पाठकों को अपनी ओर आसक्त करती है और तदनन्तर उचित उपदेश देती है। कान्ता के शब्द भावना-प्रधान होते हैं। फलतः जब कान्ता कोई बात कराना चाहती है, तब उसे इस ढंग पर, रस से चुहचुहाते शब्दों में हमारे सामने प्रकट करती है कि हम उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। बाध्य होकर हमें उसकी बात माननी ही पड़ती है। कविता का भी प्रभाव ऐसा ही अनिवार्य होता है। वह अपने सुन्दर शब्दों तथा अर्थों के द्वारा हमारा चित्त आकृष्ट करती है और तब किसी बात का उपदेश देती है जिसे हम किसी प्रकार भी तिरस्कृत नहीं कर सकते। बाध्य होकर उन बातों को करना ही पड़ता है।

महाकवि विहारी के इस पद्य का मर्म समझिये और तव इस सरस उपदेशदान की घटना पर विचार कीजिए—

अर्जों तर्‌योना ही रह्यौ, स्रुति सेवत इक अग ।
नाक वास वेसर लह्यौ, वसि मुकतन के सग ॥

यहाँ कवि शास्त्रसेवा की अपेक्षा सन्तसमागम की महनीयता का चमत्कृत उपदेश दे रहा है। वह कह रहा है कि श्रुति (श्रवण तथा वेद) की एक अग से (एक निष्ठा से) से सेवा करने पर भी तरौना (अभी तक तरा नही) नामक कर्णभूषण आज तक वैसा ही वना रहा, वह पीछे ही कान में रखा रहा। उधर मुकतन (मोतियाँ तथा मुक्त पुरुष—सन्त) के सग मे रहकर वेसर नामक गहने को नाक में धारण किये जाने का गौरव प्राप्त हुआ। ठीक है मुक्त पुरुषो के सग में रहनेवाला अस्त-व्यस्त सिद्धान्त तथा आचारवाला (वेसर-विना सर का) भी पुण्य स्वर्ग (नाक) का वास प्राप्त कर लेता है। कवि का तो इतना ही उपदेश है कि शास्त्र से सन्त समागम विशेष वढकर होता है (शास्त्रात् सत्समागमो वलीयान्), परन्तु यह वात इस ढव से कही गई है तथा इस रसात्मकता के लपेट मे रखी गई है कि वह अनायास ही हृदय में घर कर लेती है और अपने सिद्धान्त की मुहर लगा देती है।

इस प्रयोजन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी वासना में वडा ही अन्तर होता है। ठडे दिमाग से कोई वात कितनी भी अच्छी तरह से क्यो न सोची जाय, उसे करने के लिए हम तव तक तैयार नही होते जव तक वह हमारे दिल में नही घुसती। कार्य सम्पादन के लिए मनुष्य अपने भावो में कुछ वेग चाहता है। इस मानव स्वभाव से राजनीतिपटु नेता पूरे रूप से परिचित है। यदि जनता को किसी कार्य—विशेष के लिए वह अग्रसर करना चाहता है, तो लम्बा-चौडा तर्क नही वघारता, वल्कि उसके हृदय को स्पर्श करनेवाली वातें कहकर वह उसके भावों को उद्दीप्त करता है। वस उसका कार्य इसी से सिद्ध हो जाता है। विदेशियो के भारत में शासन करने से अर्थ का जो शोषण हो रहा है उसे प्रकट करने के दो मार्ग है। एक है पूरा लेखा-जोखा देकर देश की आर्थिक हीनता और दरिद्रता का चित्र प्रस्तुत करना। यह तो हुआ 'तर्कमार्ग' और दूसरा मार्ग है उस दरिद्रता के कारण टूटी कुटिया में अपना दिन काटनेवाली किसी बुढ़िया के, रोटी के लिए तरसनेवाले या सडक पर गिरे रोटी के

टुकड़ों पर टूट पड़नेवाले, छोटे-छोटे बच्चों का करुण क्रन्दन दिखलाना। यह हुआ भावना-प्रधान 'कविजनों का मार्ग'। कहना न होगा कि यह दूसरा मार्ग ही श्रोताओं के चित्त पर विशेष प्रभाव डालता है और वे इस दरिद्रता को दूर भगाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के भावों को उद्बुद्ध करने के लिए तथा गुप्त भावों को जगाकर वेगवान् बनाने के लिए सबसे महनीय साधन 'कविता' है और इसीलिए उसका उपदेश श्रोताओं के हृदय पर अधिक प्रभाव जमाता है और उन्हें कार्य करने के लिए अधिकता के साथ प्रोत्साहित करता है।

उदाहरण के द्वारा काव्य के इस प्रयोजन को सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' को ही देखिए कि कितनी सुन्दरता के साथ वह काम के ऊपर धर्म के विजय की स्थापना करता है। 'मदनदहन' का आध्यात्मिक रहस्य भी तो यही है। मानव को चाहिए कि वह स्वार्थ रूपी काम को धर्म की वेदी पर स्वाहा कर दे। तभी वह महान् हो सकता है तथा शिवत्व को पाकर अपने जीवन को धन्य बना सकता है। यह उपदेश कितनी मार्मिकता के साथ यह काव्य प्रस्तुत करता है। सचमुच काव्य के प्रयोजन महान् तथा महनीय हैं।

आचार्य मम्मट ने इन समस्त प्रयोजनों को एक ही कारिका में बड़ी स्पष्टता से अभिव्यक्त किया है—

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे॥

कविवर भिखारीदास ने इनमें से कतिपय प्रयोजनों को इस सवैया में दिखलाया है—

> एक लहैं तप पुंजनि के फल
> ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
> एक लहैं बहु सम्पति केसव
> भूषन ज्यों बर बीर बड़ाई।
> एकनि को जसहीं सों प्रयोजन
> है रसखानि रहीम की नाईं।
> 'दास' कवित्तनि की चरचा
> बुधिवन्तनि को सुख दै सब ठाईं॥

काव्य से चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इस विषय में विश्वनाथ कविराज का प्रसिद्ध मत यो है—

चतुर्वर्गफल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूप निरूप्यते॥

काव्य के निरूपण का एक प्रधान कारण है। अल्पबुद्धिवाले लोगो को भी चारो वर्गों के फल की प्राप्ति सुखपूर्वक अल्प-प्रयास से काव्य से ही होती है। नीति ग्रन्थो से भी होती है परन्तु वह सुख से नही होती। दर्शन-ग्रन्थो से भी यह प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु वह अधिक बुद्धिवालो के लिए है। फलत काव्य के प्रयोजन में स्वत एक विशिष्टता है।

काव्य और नैतिकता

काव्य से जब रस का उद्बोध होता है और श्रोता तथा पाठक की वृत्तियाँ उस विशेष रस की धारा में सिक्त होती है, तब अनैतिकता का कोई प्रश्न उठता ही नही। उस समय राजस तथा तामस वृत्तियो का सर्वथा तिरस्कार कर सात्विक भाव की ही प्रबलता होती हैं। जब तक दु ख के उत्पादक रजोगुण की तथा मोह के जनक तमोगुण की प्रधानता चित्त में बनी रहती है, आनन्द देनेवाला सत्त्व गुण तब तक जन्म ही नही लेता। रस की अनुभूति आनन्द की अनुभूति है। रस का अनुभव करनेवाला सामाजिक रसानुभव की दशा में कभी अपनी स्वार्थमयी वृत्तियों की चरितार्थता नहीं मानता। वह अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर समाज के साधारण जन के साथ साम्य धारण करता है तथा उसका प्रतिनिधित्व करने लगता है। वह यह नही समझता कि वह उस विशेष रस का आनन्द केवल अकेले ही उठा रहा है। उस समय तो वह अपना तादात्म्य प्रत्येक व्यक्ति के साथ मानता है और समझता है कि प्रत्येक व्यक्ति भी उसी के समान उस रस का आनन्द लेता है। रस ही शिव है, सत्य है तथा सुन्दर है। रस की दशा सदा आनन्ददायिनी तथा मगलकारिणी होती है। वह दशा जिन उपकरणो की सहायता से सम्पन्न होती है वे अमगल होने पर भी मगल को उत्पन्न करते हैं, स्वत. अशिव होने पर भी शिव ही का उदय करते हैं। इस प्रकार रस की अनुभूति करनेवाले पाठक की दृष्टि उसके उपकरणों की क्षुद्रता तथा कलुषता पर कभी नही जाती। वह तो उससे सदा आनन्द प्राप्त करता है और इस दशा में अनैतिकता के लिए स्थान नही है।

काव्य का द्विविध पक्ष

ध्यान देने की बात है कि काव्य के दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा कुरूप। कवि की दृष्टि सदा सौन्दर्य की ओर ही जाती है चाहे वह मूर्तरूप मे मिले या अमूर्त वाणी या कर्म मे निवास करे। कवि की भीतरी दृष्टि सौन्दर्य को चुपके-चुपके देखती है और उसकी वाणी पुकार कर उसकी अभिव्यक्ति सुन्दर तथा उपयुक्त शब्दो मे देती है। बस कवि का ध्यान इसी बात पर रहता है। वह कभी मगल-अमंगल का काव्य मे चिन्तन नही करता। वह केवल काव्य में सौन्दर्यविधान की ओर प्रवृत्त रहता है और यही उसके व्यवसाय के लिए पर्याप्त होता है। मगल वस्तु या सुन्दर वस्तु में अन्तर भी तो नही है। धार्मिक व्यक्ति जिस वस्तु को अपनी दृष्टि से मगलमय मानता है, उसे ही कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर समझता है। फलत सौन्दर्य से युक्त होते ही काव्य मगलमय बन जाता है। सौन्दर्य मगल का प्रतीक है। सौन्दर्य सत्य का प्रतिनिधि है। फलत सुन्दर काव्य स्वभाव से ही मगल तथा कल्याण का विधायक होता है। उसके लिए रचयिता को प्रयत्न करने की तनिक भी आवश्यकता नही होती। संस्कृत मे श्रीहर्ष कविराज द्वारा रचित 'नैषधचरित' की बडी ही प्रसिद्धि है। उसके शृंगारी वर्णनो मे अमगल या अश्लीलता का सकेत निकालना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार कामिनी के सुन्दर रूप मे अमगल की भावना करना है। इस प्रकार 'संस्कृत आलोचना' ने काव्य तथा नैतिकता के प्रश्न को बडी स्वाभाविक रीति से हल कर दिया है। काव्य 'सत्य शिव सुन्दर' होता है। वह सदा मगल का दायक तथा कल्याण का विधायक इसीलिए होता है कि वह सौन्दर्य का बोधक तथा विवेचक होता है।

जीवन-दर्शन

काव्य के साथ नैतिकता का सम्बन्ध क्या है? इस प्रश्न को लेकर पाश्चात्य आलोचको ने गहरी छानबीन की है। अधिकाश आलोचक तो दोनो का घनिष्ट सम्बन्ध मानते ही हैं, परन्तु ऐसे भी आलोचक है जो काव्य का सम्बन्ध नैतिकता के साथ रखने के सर्वथा विरोधी है। वे अपने उद्देश्य के लिए यही कहते है कि—'कला कला के लिए होती है' (आर्ट फॉर आर्ट्स सेक), परन्तु भारतवर्ष के आलोचको का स्पष्ट कथन रहा है कि काव्य का उद्देश्य सदा नैतिक ही होना चाहिए। काव्य यदि इस मार्ग को छोडकर ऐसा वर्णन करता है जिसमे पाठक का या श्रोता का

हृदय अनीति के मार्ग पर आरूढ हो, तो उस काव्य को हम काव्य ही नही कहते। हम काव्य आनन्द के लिए अवश्य पढते है, परन्तु यह तो एक प्रयोजन हुआ। इतने से ही हमारा कार्य नही चलता। हम काव्य को 'जीवन की आलोचना' मानते है। उसमें वर्णित विषय के साथ हम अपने जीवन को मिलाते है और यदि उसमें त्रुटि लक्षित होती है, तो उसे हटाकर जीवन को सुधारने का भी पूरा प्रयत्न करते है।

नायिका-भेद

यहाँ पूछा जा सकता है कि सस्कृत की आलोचना मे तथा तदनुसारी हिन्दी-आलोचना में नायिका का भेद इतने विस्तार से क्यो वर्णित है तथा शृगार-रस का इतना विस्तार क्यो लक्षित होता है कि वह अश्लीलता की कोटि को स्पष्ट स्पर्श करता है? कही-कही तो वह नितान्त अश्लील हो उठता है। ऐसी दशा में काव्य मे नैतिकता का दम भरना दम्भ नही है तो क्या है? इसके उत्तर में आचार्यो का कहना है कि नही, बिल्कुल नही। काव्य कभी अनैतिकता का उपदेश नही देता। नायिकाओं का तथा धृष्ठ, शठ आदि नायको का जो चरित्र चित्रित किया जाता है, वह साभिप्राय होता है। उसका तात्पर्य होता है। आपातत अशिव विषयो का जो वर्णन कही काव्य में मिलता है उसका तात्पर्य यही है कि पाठक ऐसे भी पात्रो से परिचित हो जायँ। आखिर वे भी इस ससार में विद्यमान है तथा अपना करतव दिखाया करते है। यदि काव्य में उनके चरित्र का उद्घाटन नही हुआ, तो सामान्य जनता को उससे परिचय पाने का अवसर ही कहाँ मिलेगा? यही कर्तव्य-दृष्टि कवियो को ऐसे विषयो के वर्णन की ओर अग्रसर करती है। आलोचक-शिरोमणि रुद्रट की यह उक्ति इस विषय में बडी ही स्पष्ट तथा सामयिक है—

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या ।
कर्तव्यतयान्येषा न तदुपायो विधातव्य. ॥
किन्तु तदीय वृत्त काव्याङ्गतया स केवल वर्षित ।
आराधयितु विदुषो न तेन दोषः कवेरत्र ॥

आशय यह है कि कवि को न तो स्वय परदारा की कामना करनी चाहिए और न दूसरो को उसका उपदेश देना चाहिए। कर्तव्यरूप से दूसरे के लिए न तो उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाना चाहिए। तब कवि ऐसा वर्णन अपने काव्य में

करता ही क्यो है ? इसका उत्तर है कि काव्य के अग होने के कारण वह विद्वानो की आरावना के लिए परदारा के चरित्र का वर्णन करता है । अतः उसका इस विपय मे कोई दोप नही होता। यह वहुत ही सुन्दर उत्तर है उक्त आक्षेप का। काव्य जीवन के नाना पक्षो को स्पर्श करता है। ऐसी दशा मे जीवन के इस कामपक्ष के वर्णन का अभाव काव्य मे महती त्रुटि होती। फलत ऐसे वर्णन करने के लिए कवि का कोई अपराव नहीं होता और न वह इसके लिए किसी न्यायालय में दण्ड का भागी वनता है। वह अपने कर्तव्य को ही निभाता है। इसलिए नायिकाभेद का यह विस्तृत वर्णन कवि के लिए कोई अपराव नही है।



पंचम परिच्छेद

काव्य का लक्षण

अब तक गत परिच्छेदो मे काव्य के हेतु तथा काव्य के प्रयोजन की सामान्य चर्चा की गई है। अब उसके स्वरूप या लक्षण जानने की नितान्त आवश्यकता है। सस्कृत के आचार्यो ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। लक्षण दो प्रकार के होते है—बहिरग-निरूपक और अन्तरग–निरूपक। बहिरग निरूपक लक्षण में उस वस्तु के स्वरूप के बोध कराने के लिए वस्तु के बाहरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है तथा अन्तरग निरूपक लक्षण मे वस्तु के भीतरी चिह्नो का वर्णन किया जाता है। काव्य के दोनो प्रकार के लक्षण सस्कृत आलोचना-शास्त्र में मिलते है। पहले में काव्य के बाहरी रूप का उसके अवयवो का, उसके अगो के सघटन का वर्णन किया जाता है और दूसरे मे वह विशेषता दिखलाई जाती है जो केवल काव्य मे ही प्राप्त होती है, अन्यत्र नही। आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण प्रथम प्रकार का है और विश्वनाथ तथा जगन्नाथ का काव्य-लक्षण दूसरे प्रकार का। यहाँ दोनो लक्षणो का निर्देश क्रमश किया जाता है।

बहिरंग लक्षण

आचार्य मम्मट की दृष्टि मे काव्य का लक्षण है—

तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि।

अर्थात् काव्य होता है शब्द और अर्थ—जो दोप से रहित हो, गुण से मण्डित हो तथा वे कही पर अलकार से हीन भी हो सकते है।

इस लक्षण मे काव्य के अग तथा उपागो की विशिष्टता का वर्णन किया गया है। काव्य में शब्द तथा अर्थ का मञ्जुल समन्वय होता है। काव्य कहाँ रहता है?

शब्द में या शब्दार्थ-युगल में ? इस प्रश्न के उत्तर में आलोचकों ने भिन्न-भिन्न मतों का उपन्यास किया है। कुछ आचार्य काव्य को शब्दमय ही मानते हैं। वे शब्द को ही काव्य में प्रधान मानते हैं, परन्तु अधिकांश आचार्यों की सम्मति में काव्य, शब्द तथा अर्थ दोनों के, मञ्जुल समन्वय में रहता है। जिस प्रकार शब्द रस के उन्मीलन में सहायता करता है, उसी प्रकार अर्थ भी। शब्द तथा अर्थ—दोनों का समन्वय काव्य में प्रस्तुत रहता है। शब्द तथा अर्थ का नित्य-सम्बन्ध रहता है। शब्द के उच्चारण करते ही अर्थ स्वत सामने चला जाता है। और शब्द अर्थ दोनों मिलकर काव्यगत आह्लाद के उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। 'वागर्थ' के नित्य सम्बन्ध की उपमा कालिदास ने 'अर्धनारीश्वर' से दी है। जिस प्रकार पार्वती तथा शिव का परस्पर नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार वाक् और अर्थ भी स्वभाव से ही नित्य सयुक्त रहते हैं। काव्य इन दोनों में समभाव से रहता है। शब्द तथा अर्थ को 'काव्य' शब्द से विभूषित किये जाने के लिए तीन विशिष्टताओं की आवश्यकता होती है—**(क) दोष का परिहार, (ख) गुण का सद्भाव, (ग) अलंकार की सर्वदा स्थिति।** परन्तु कभी-कभी अलकार से विरहित होने पर भी शब्द तथा अर्थ को 'काव्य' कहते हैं। इन विशिष्टताओं पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

(क) दोष का परिहार—काव्य के कतिपय विशिष्ट दोष होते हैं जैसे श्रुतिकटुता, संस्कारहीनता, भग्नप्रक्रमता आदि। ये यदि शब्द या अर्थ में विद्यमान रहते हैं, तो वहाँ 'काव्य' की सिद्धि नहीं होती। इस पर कतिपय आलोचकों का यह मत है कि दोष का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से न होकर उसके उत्कर्ष तथा अपकर्ष से है। घोड़े की पूँछ यदि किसी कारण से कट जाय या उसकी टाँग टूट जाय, तो क्या घोड़ा इन दोषों के आ जाने से घोड़ा नहीं रहता ? रहता वह घोड़ा ही है, परन्तु उसका मूल्य कम हो जाता है। वह लोगों की नजर से गिर जाता है। काव्य की भी यही दशा होती है। श्रुतिकटु दोष के होने पर कोई काव्य काव्यत्व से क्या हीन हो जाता है ? क्या उसे काव्य नहीं कह सकते ? वह काव्य अवश्यमेव रहता है, परन्तु वह हो जाता है दुष्ट काव्य। फलत दोष का सम्बन्ध काव्य के शरीर से नितान्त आवश्यक मानना उचित नहीं है। ऐसी आलोचना के विरुद्ध में यह कहना है कि मम्मट का मत बिल्कुल ठीक है। काव्य के शब्द-अर्थ को दोष से हीन होना नितान्त आवश्यक होता ही है। केवल दोष की सत्ता होने से काव्य त्याज्य नहीं होता। सब दोष दोष नहीं होते। कुछ दोष सामान्य होते हैं और कुछ दोष विशिष्ट

होते हैं। रस के दोष ही काव्य मे मुख्य होते हैं जिनका परिहार काव्य में सदा जरूरी होता है। क्षुद्र दोष काव्य मे भले बने रहें यदि रस दोष उसमे नही हैं, तो वह काव्य सच्चा काव्य है और उसका अनुशीलन परम श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार 'शब्दार्थौ' के लिए मम्मट ने जो 'अदोषौ' (दोष-रहित) विशेषण दिया है वह सर्वथा उचित तथा न्याय्य है।

(ख) गुण की सम्पत्ति—काव्य के शब्दार्थ को गुणो से युक्त होना नितान्त आवश्यक है। काव्य मे मुख्य तीन गुण होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये काव्य के (आत्मा) रस के अचल धर्म हैं अर्थात् काव्य मे इनकी सत्ता अनिवार्य है। गुणो का सम्बन्ध रस से है और गौण रूप से शब्द तथा अर्थ के साथ भी है। जिन शब्द तथा अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है उनमे गुण की स्थिति अनिवार्य होती है। मम्मट का यही कथन है।

इसके ऊपर विश्वनाथ कविराज की यह आपत्ति है कि गुणो के रहने से काव्य की उपादेयता बढती है और न रहने से उपादेयता घटती है। अत गुण का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से नही है। 'यह विद्वान् मनुष्य है' यहाँ मनुष्य मे विद्वत्ता गुण वर्णित है। फलत गुणो के होने से इस मनुष्य का आदर तथा सत्कार होता है। वह समाज मे पूजा पाता है और विद्वत्ता से हीन होने के कारण वह मूर्ख माना जाता है तथा समाज मे अपमान का भाजन बनता है। अत 'विद्वत्ता' की स्थिति मनुष्य में मनुष्यत्व के लिए आवश्यक नही होती, बल्कि उसके आदर-सत्कार में केवल सहायक बनती है। अत 'सगुणौ' पद को लक्षण के भीतर रखना ठीक नहीं। इसके उत्तर मे हमारा कहना है कि यह काव्य का लक्षण कोई वैज्ञानिक लक्षण नही है जिसमें ज्यादा मीनमेष किया जाय। यह तो काव्य का सामान्य विवरण है और ऐसे स्थल में गुणो की सम्पत्ति काव्य के लिए आवश्यक होती ही है। वाल्मीकि ने अपने रामायण मे इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लवकुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकाना च विशेषत ।
चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥

(बालकाण्ड ४।१७)

अहो, इस गायन मे विशेषकर श्लोको मे कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल मे होनेवाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पडती है। इस पद्य मे **माधुर्य** गुण तथा **भाविक** अलकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। महाभारत मे भी व्यासजी ने श्रव्यत्व, श्रुतिसुखत्व, समता तथा माधुर्य को काव्यरचना के लिए आवश्यक गुण माना है। **'श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्'**—यह काव्य का व्यासजी के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण है। इनकी समीक्षासे हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि काव्य मे गुणो का निवास बहुत ही आवश्यक होता है।

(ग) **अलंकार की निवार्यता**—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वदा अलकार से युक्त होना चाहिए, परन्तु स्थितिविशेष में वह निवार्य भी हो सकता है। अलकार की अनिवार्यता मम्मट नही मानते। वह स्थिति-विशेष कौन-सा है ? रस की दशा—काव्य मे रस की स्थिति होने पर अलकार की स्थिति आवश्यक नही होती। काव्य मे चमत्कार होना ही चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है—अलकार के द्वारा अथवा रस के द्वारा। अत रस के द्वारा चमत्कार उत्पन्न होने पर अलकार की आवश्यकता काव्य में नही होती। इस प्रकार मम्मट की दृष्टि मे अलकार की अपेक्षा गुण की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। काव्य मे अलकार से विहीन शब्दार्थ हो सकते है, परन्तु शब्दार्थ गुण-विहीन नही हो सकते।

एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझना चाहिए। संस्कृत का एक कवि अपनी दशा का वर्णन यो कर रहा है—

हारो नारोपित. कण्ठे मया विश्लेष-भीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्-सागर-भूधरा. ॥

किसी सुन्दरी के विषम वियोग से सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्था के साथ वर्तमान हीन दशा की तुलना कर रहा है —मैंने विलगता के डर से सुन्दरी के कण्ठ में हार नही पहनाया। क्योंकि हम दोनो के बीच में हार के आने से आश्लेष—आलिंगन ठीक ढग से नही जमता। यह तो हुई संयोग की सुहावनी कल्पना। परन्तु आज ! आज तो उसके और हमारे बीच में नदियाँ, समुद्र तथा पहाड़ आकर खड़े हो गये हैं। घनानन्द के शब्दों में नायक कहना चाहता है—

तब हार पहार से लागत हे
अब बीच में आनि पहार परे ॥

होते हैं। रस के दोष ही काव्य में मुख्य होते हैं जिनका परिहार काव्य में सदा जरूरी होता है। क्षुद्र दोष काव्य में भले बने रहें यदि रस दोष उसमें नहीं है, तो वह काव्य सच्चा काव्य है और उसका अनुशीलन परम श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार 'शब्दार्थौ' के लिए मम्मट ने जो 'अदोषौ' (दोष-रहित) विशेषण दिया है वह सर्वथा उचित तथा न्याय्य है।

(ख) **गुण की सम्पत्ति**—काव्य के शब्दार्थ को गुणों से युक्त होना नितान्त आवश्यक है। काव्य में मुख्य तीन गुण होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये काव्य के (आत्मा) रस के अचल धर्म हैं अर्थात् काव्य में इनकी सत्ता अनिवार्य है। गुणों का सम्बन्ध रस से है और गौण रूप से शब्द तथा अर्थ के साथ भी है। जिन शब्द तथा अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है उनमें गुण की स्थिति अनिवार्य होती है। मम्मट का यही कथन है।

इसके ऊपर विश्वनाथ कविराज की यह आपत्ति है कि गुणों के रहने से काव्य की उपादेयता बढ़ती है और न रहने से उपादेयता घटती है। अत गुण का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से नहीं है। 'यह विद्वान् मनुष्य है' यहाँ मनुष्य में विद्वत्ता गुण वर्णित है। फलत गुणों के होने से इस मनुष्य का आदर तथा सत्कार होता है। वह समाज में पूजा पाता है और विद्वत्ता से हीन होने के कारण वह मूर्ख माना जाता है तथा समाज में अपमान का भाजन बनता है। अत 'विद्वत्ता' की स्थिति मनुष्य में मनुष्यत्व के लिए आवश्यक नहीं होती, बल्कि उसके आदर-सत्कार में केवल सहायक बनती है। अत 'सगुणौ' पद को लक्षण के भीतर रखना ठीक नहीं। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यह काव्य का लक्षण कोई वैज्ञानिक लक्षण नहीं है जिसमें ज्यादा मीनमेष किया जाय। यह तो काव्य का सामान्य विवरण है और ऐसे स्थल में गुणों की सम्पत्ति काव्य के लिए आवश्यक होती ही है। वाल्मीकि ने अपने रामायण में इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लवकुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्॥

(बालकाण्ड ४।१७)

अहो, इस गायन मे विशेषकर श्लोकों मे कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल मे होनेवाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में **माधुर्य** गुण तथा भाविक अलंकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। महाभारत मे भी व्यासजी ने श्रव्यत्व, श्रुतिसुखत्व, समता तथा माधुर्य को काव्यरचना के लिए आवश्यक गुण माना है। 'श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावन शीलवर्धनम्'--यह काव्य का व्यासजी के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण है। इनकी समीक्षासे हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते है कि काव्य मे गुणो का निवास बहुत ही आवश्यक होता है।

(ग) **अलंकार की निवार्यता**—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वदा अलकार से युक्त होना चाहिए, परन्तु स्थितिविशेष में वह निवार्य भी हो सकता है। अलकार की अनिवार्यता मम्मट नहीं मानते। वह स्थिति-विशेष कौन-सा है ? रस की दशा--काव्य मे रस की स्थिति होने पर अलकार की स्थिति आवश्यक नही होती। काव्य मे चमत्कार होना ही चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है—अलकार के द्वारा अथवा रस के द्वारा। अत रस के द्वारा चमत्कार उत्पन्न होने पर अलकार की आवश्यकता काव्य में नही होती। इस प्रकार मम्मट की दृष्टि में अलकार की अपेक्षा गुण की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। काव्य मे अलकार से विहीन शब्दार्थ हो सकते है, परन्तु शब्दार्थ गुण-विहीन नही हो सकते।

एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझना चाहिए। संस्कृत का एक कवि अपनी दशा का वर्णन यो कर रहा है—

> हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष-भीरुणा।
> इदानीमावयोर्मध्ये सरित्-सागर-भूधराः॥

किसी सुन्दरी के विषम वियोग से सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्था के साथ वर्तमान हीन दशा की तुलना कर रहा है —मैंने विश्लेषता के डर से सुन्दरी के कण्ठ में हार नही पहनाया। क्योंकि हम दोनो के बीच में हार के आने से आश्लेष—आलिंगन ठीक ढग से नहीं जमता। यह तो हुई संयोग की सुहावनी कल्पना। परन्तु आज ! आज तो उसके और हमारे बीच में नदियाँ, समुद्र तथा पहाड़ आकर खड़े हो गये है। घनानन्द के शब्दो मे नायक कहना चाहता है—

> तब हार पहार से लागत है
> अब बीच मे आनि पहार परे॥

इस पद्य में अलंकार का चमत्कार बिल्कुल ही नहीं है। यदि कुछ है, तो केवल 'हारो नारो' में यमक की एक फीकी झलक है। इस पद्य का प्रधान चमत्कार है विप्रलम्भ शृंगार के कारण। ऐसी दशा में यहाँ रस की ही मुख्य स्थिति है। फलतः अलंकार से हीन होने पर भी यहाँ चमत्कार है और भरपूर चमत्कार है। ऐसी ही स्थिति को लक्ष्य कर मम्मट ने काव्य में अलंकार को अनिवार्य नहीं माना है।

इस प्रकार मम्मट का यह काव्यलक्षण काव्य का **वर्णनात्मक लक्षण** कहा जा सकता है क्योंकि इसमें काव्य के अंगों की विलक्षणता का वर्णन है। यह आदर्श काव्य का संकेत करता है। इस तरह काव्य में ऐसे शब्द-अर्थ होने चाहिए जिसमें दोष का परिहार हो और गुणों की सम्पत्ति रहे। अलंकार भी अनिवार्य नहीं होता। साधारण रीति से अलंकार भी वर्तमान रहता है, परन्तु अलंकार से रहित होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

अन्तरंग लक्षण

अब काव्य के अन्तरंग लक्षण पर विचार किया जाता है। विश्वनाथ कविराज ने काव्य का एक बहुत प्रख्यात लक्षण दिया है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। वह वाक्य जिसकी आत्मा रस है काव्य कहलाता है अर्थात् अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करनेवाले वाक्य को काव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस से सम्पन्न जो वाक्य होता है वही काव्य है। यहाँ 'रस' शब्द विस्तृत अर्थ में समझा जाता है। अर्थात् भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि रस की समीपवर्ती भावनायें भी यहाँ रस के अन्तर्गत समझी जाती हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ को यह लक्षण संकीर्ण प्रतीत होता है। उनका कथन है कि यदि इस लक्षण को ही हम आग्रहपूर्वक काव्य का स्वरूपाधायक मानेंगे, तो बड़े-बड़े महाकवि भी अपने काव्य के लिए व्याकुल हो उठेंगे (महाकवीनामाकुली-भाव-प्रसङ्गात्)। अर्थात् महाकवियों के काव्यों में भी काव्यत्व नहीं रहेगा। क्यों? महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में समुद्र, नदी, पर्वत आदि का वर्णन प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में कहीं भी रस का साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता। फलतः इन्हें अकाव्य कहना पड़ेगा। इसलिए रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना है। संस्कृत के अलंकार-प्रधान काव्यों में या पद्यों में रस की

सत्ता नही रहती तो क्या ऐसे पद्यो मे हम काव्यत्व नही माने ? इसलिए रस के ही लिए काव्य मे आग्रह दिखलाना न्यायसगत नही प्रतीत होता। अत पण्डितराज ने अपने काव्यलक्षण मे न रस की ओर सकेत किया है, न गुण की ओर। वस्तुत उन्होंने अर्थ की रमणीयता पर ही सबसे अधिक बल दिया है। उनका प्रख्यात काव्य-लक्षण है—

रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दः काव्यम्।

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य के शब्द तथा अर्थ शरीर होते हैं। काव्य मे शब्दो के द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमे चित्त रमण करे, आनन्द उठावे। 'रमणीयता' का ही पर्यायवाची शब्द है—चमत्कार। काव्य का अर्थ चमत्कारी अवश्य होना चाहिए। यहाँ 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग सकुचित अर्थ मे करके व्यापक अर्थ मे करना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते है कि **जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक आनन्द का सचार करती है वह "काव्य" कहलाती है।**

काव्य की वस्तु

कवि ससार की वस्तुओ के साथ अपना तादात्म्य या एकता स्थापित करता है, उनमे रमता है और अपनी प्रतिभा के बल पर उन्ही भावो का काव्य में इस सुन्दर ढग मे वर्णन करता है कि वे भाव श्रोता या पाठको के हृदय पर भी उसी प्रकार से खिच जाते हैं, अर्थात् पाठक भी उन्ही भावो का अनुभव करता है जिसमे कवि की आत्मा रमती थी। कवि की सबसे बडी सफलता का बीज यह है कि वह अपनी अनुभूतियो को पाठको के हृदय तक उसी रूप में पहुँचा देता है कि जिससे पाठक भी उस भाव या रस से पूर्णत सिक्त या आनन्दित हो उठे। इस प्रकार जगत् तथा प्रकृति के रूपो तथा व्यापारो के साथ कवि का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जगत् की ऐसी कोई भी वस्तु—बुरी या अच्छी, सुन्दर या कुरूप—नही होती जो रस का अग बनकर आनन्द उत्पन्न न करे। धनञ्जय की यह उक्ति इस विषय की पर्याप्त बोधिका है—

रम्य जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम्
उग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु ।

यद् वाप्यवस्तु कविभावक-भावनीय
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥
(दशरूपक ४।८५।)

अर्थात् संसार में रमणीय या निन्दित, उदार या नीच, उग्र या प्रसन्न, विकट या विकृत ऐसी वस्तु या अवस्तु नहीं होती जो कवि की भावना के सहारे रस रूप को प्राप्त नहीं करती। यह कथन बिल्कुल यथार्थ है।

श्मशान में हड्डियों का ढेर पड़ा हुआ है। मृतक शरीर में कीड़े-मकोड़े लगकर उसे दुर्गन्धयुक्त बना रहे हैं, सब चीजें सड़ी-गली बनी हैं। ऐसी विकृत-विकारयुक्त वस्तु जगत् में दूसरी नहीं हो सकती, परन्तु यही काव्य में वर्णित होने पर बीभत्स रस को उत्पन्न करती है। रमणीय वस्तु की तो कथा ही न्यारी है। कवि की प्रतिभा अवस्तु—केवल काल्पनिक या असिद्ध-वस्तु को भी रमणीय रूप देकर आनन्द का विषय बनाती है। सचमुच कवि का संसार बड़ा ही विशाल है। अहो भारो महान् कवे।

किस प्रकार कल्पित वस्तु या असत्य वस्तु का उपयोग सुन्दर काव्य का जन्म देता है, इसका भव्य उदाहरण श्रीहर्ष के नैषध काव्य में मिलता है। किसी राजा की स्तुति में कवि कह रहा है—

अस्य क्षोणिपतेः परार्ध्यपरया लक्षीकृताः संख्यया,
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाण-तिमिर-प्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरात्,
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधेः रोधसि ॥
(नैषधचरित १२।१०६)

श्लोक का आशय है कि इस राजा की अकीर्ति परार्ध्य से ऊपरवाली संख्या से गिनी जाती है तथा अन्धों के द्वारा देखे गये अन्धकार के समान काले रंग की है। ऐसी उस अकीर्ति को गा रहा है जो गूंगों का समुदाय बाँझ स्त्रियों के पेट से उत्पन्न हुआ है तथा जो कछुए की स्त्री के दूधवाले समुद्र के किनारे पर बैठा हुआ है और अष्टम स्वर में उसे गा रहा है। इस सुन्दर पद्य में अनेक अवस्तुओं का उपयोग राजा की स्तुति के अवसर पर किया गया है। परार्ध्य से ऊपर की संख्या, अन्धों के द्वारा दर्शन, अष्टम

म्वर, वांझिन का पुत्र, गूँगों का गायन, कछुए की स्त्री का दूध और उससे उत्पन्न दूध का समुद्र—ये समस्त वस्तुएँ कवि की कमनीय कल्पना से प्रसूत हैं। ये सब वस्तुये भौतिक जगत् में विद्यमान नहीं हैं, कवि ने केवल अपनी कल्पना के द्वारा ही इन्हें उत्पन्न किया है, परन्तु इन सबके उपयोग करने से यहाँ एक भव्य काव्य का उदय हुआ है। पदसमूह तब वाक्य बनता है जब उसमें 'योग्यता' होती है और योग्यता के लिए आवश्यक होता है पदों का परस्पर उचित सम्बन्ध। यहाँ योग्यता का सर्वथा अभाव है, तथापि यह काव्य है और सुन्दर काव्य है। इसलिए विश्वनाथ कविराज का काव्य-लक्षण कि रसात्मक वाक्य काव्य होता है प्रमाणहीन तथा निराधार लक्षण है। 'वाक्य से काव्य बनता है' यह कथन यहाँ ठीक नहीं है। इस श्लोक को हम वाक्य ही नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ परस्पर असम्बद्ध वस्तुओं का वर्णन है जिनकी असत्ता होने के कारण यह उचित वाक्य ही नहीं बन सकता। ध्यान देने की बात यही है कि कवि के लिए कोई भी चीज अनुपयोगी नहीं होती। वह जिस किसी भी वस्तु का उपयोग कर अपने काव्य को सुन्दर तथा शोभन बना सकता है।

काव्य का आनन्द

काव्य 'लोकोत्तर' आनन्द उत्पन्न करता है। जगत् के पदार्थों से जो सुख मिलता है वह सीमित होने के कारण से लौकिक होता है। वह खण्डित रहता है। अस्थायी होता है, परन्तु काव्य के द्वारा उत्पन्न आनन्द विलक्षण होता है। वह असीमित होता है—उसकी सीमा या इयत्ता नहीं होती। लोक में मनुष्य अपने ही सुखों से या आत्मीय जनों के सुखों से सुखी और दुःखों में दुःखी होता है। ऐसे उदात्त मानव बहुत ही कम होते हैं जो दूसरों के सुख से सुखी या दुःख से दुःखी हों। परन्तु काव्य या नाटक से उत्पन्न आनन्द विलक्षण होता है। काव्य का पाठक और नाटक का दर्शक दूसरे के सुखों से अत्यधिक सुखी होता है। दूसरों के दुःखों से वह नितान्त दुःखी होता है। यह सब करामात कवि की वर्णन करनेवाली शक्ति का है। वह जादूगर के जादू के समान है जो सिर पर चढकर नाचता है। काव्य में वर्णित होने पर विषयों में हृदय को आकर्षण करने की जो विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जाती है वह सार्वभौम होती है। वह किसी सहृदय को अछूता नहीं छोड़ती। उसके सामने सब प्रभावित हो जाते हैं। आजकल वसुधैव कुटुम्बकम्—संसार ही मेरा कुटुम्ब है—का पाठ पढाया जाता है कि संसार एक है और सब हमारे भाई-भाई हैं, परन्तु इस बात की सच्ची शिक्षा हमें काव्य से मिलती है। काव्य में आनन्द

में कोई भेद-भाव नहीं, कोई अलगाव-विलगाव नहीं। सब लोग उसका एक ही प्रकार से, समभाव से, आनन्द उठाते हैं। काव्य का यह विजयघोष है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
रसभाव-प्रमग्नानां वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

काव्य भेद

काव्य के तीन मुख्य भेद होते हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) अधम। काव्य में मुख्य अर्थ व्यंग्यार्थ होता है। उसकी प्रधानता होने पर उत्तम काव्य होता है। जहाँ व्यंग्य अर्थ तो है परन्तु गौण रूप में ही, वहाँ मध्यम काव्य होता है और जहाँ व्यंग्य अर्थ नहीं होता वहाँ अधम काव्य होता है। अतः काव्य में उत्तमता की कसौटी व्यंग्यार्थ ही होता है, इन्हीं तीनों प्रकारों का दूसरा नाम है—(१) ध्वनि, (२) **गुणीभूत-व्यंग्य** तथा (३) **चित्र काव्य**। इनका उदाहरण तथा लक्षण नीचे दिया जाता है।

ध्वनि काव्य

जहाँ वाच्य से व्यंग्य अर्थ में अधिक चमत्कार होता है उसे 'ध्वनि' कहते हैं।

उदाहरण

या ही अपमान मेरे शत्रु जो लखाई देत
तिनहूँ में तापस यों लंक ही में आनो है।
करत विधंस बस वीर जातुधानन कौं
देखौं हौं जिअत धिक रावन कहानो है।
इन्द्र को जितैया को सहस्र फिटकार
और व्यर्थ ही दिखात कुम्भकर्ण को जगानो है।
नेक ही सो नाक पुरवा को लूटि फूलि गए,
बीस इन विफल भुजान को बखानो है ॥

हनुमन्नाटक में रावण की गर्वोक्ति के प्रतिपादक एक प्रख्यात पद्य का यह हिन्दी अनुवाद है। रावण कह रहा है कि यही मेरा अनादर है जो मेरे भी शत्रु दिखाई देते हैं। तिनमें यह है तापस और वह लंका में आया है तथा राक्षसों के वीर वंशों

को नाश करता है और रावण जीता उसे देख रहा है। इन्द्र के जीतनेवाले मेघनाद को हजारों फटकार है। कुम्भकर्ण का जगाना व्यर्थ है। स्वर्गरूपी पुरवा (छोटा गाँव) को जीतकर फूलनेवाले इन हमारे बीसों भुजाओं को बारम्बार धिक्कार है।

इस पद्य में व्यंग्यार्थ का एक सुन्दर व्यूह ही वर्तमान है। 'मेरे' पद से सूचित होता है कि मेरे सामने इन्द्र और यम भय से थरथराते रहते हैं, उसके भी शत्रु हों। यह नितान्त अनादर का सूचक है। 'शत्रु' में बहुवचन विशेष महत्त्व का है। वह शत्रु यदि कोई वीर पुरुष होता, तो कोई बात भी होती। वह तो तपस्या में रत तपस्वी है और वह भी लंका में ही वर्तमान है खास मेरी राजधानी में ही। वह भी एक राक्षस को नहीं, प्रत्युत राक्षसों के वंश को मार रहा है। और आश्चर्य है यह रावण जी रहा है। 'रावण' का अर्थ है संसार को रुलानेवाला। इतना अपमान होने पर तो रावण को मर जाना चाहिए, परन्तु वह जी रहा है। यह अनौचित्य की पराकाष्ठा को सूचित करता है। इसी प्रकार मेघनाद को इन्द्रजीत कहने से उसकी अपराजेयता ध्वनित होती है अर्थात् वह सर्वथा अजेय है। अन्तिम चरण में स्वर्ग एक छोटा पुरवा या टोला कहा गया है जिससे यह सूचित होता है कि उसका जीतना मेरे लिए अत्यन्त सरल काम था, परन्तु उतने में ही मेरी बीसों भुजायें गर्व से फूल गई हैं जो अनौचित्य तथा अनादर का सूचक है। इस प्रकार इस सुन्दर पद्य में उत्साह स्थायी-भाव तथा वीररस की ध्वनि है।

गुणीभूत-व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य अर्थ प्रधान न होकर गौण हो जाय वहाँ 'गुणीभूत व्यंग्य' होता है। अर्थात् पद्य में व्यंग्य अर्थ की सत्ता तो अवश्य है, परन्तु वाच्य अर्थ व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है। ऐसी दशा में मध्यम कोटि का काव्य होता है। ध्वनि काव्य से इसका अन्तर स्पष्ट है। ध्वनि काव्य में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता तथा रुचिरता रहती है, परन्तु गुणीभूत व्यंग्य में वाच्य अर्थ का चमत्कार ध्वनि की अपेक्षा कहीं अधिक होता है और इसलिए यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा गौण या अप्रधान रहता है।

उदाहरण

बैठी गुरुजन बीच में, सुनि मुरली की तान।
मुरझनि अनि अकुलाय उर, परे सांकरे प्रान॥

राधा गुरुजन के बीच मे बैठी हुई है। उसी समय श्रीकृष्ण की मुरली बजती है। उसकी तान सुनकर वह हृदय मे अत्यन्त व्याकुल होकर मुरझा जाती है। प्राण सकट में पड़ जाते हैं। यह वाच्यार्थ है। मुरली के द्वारा सकेत पाने पर भी राधा कृष्ण से मिलने के लिए जाने मे असमर्थ है। यह व्यग्य अर्थ है। यह वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार है। क्यों ? तान सुनकर भी मिलने के लिए न जाना अनेक कारणों से हो सकता है। सम्भव है कि राधा के हृदय मे कृष्ण के लिए अब तनिक भी प्रेम नही है और इसलिए वह नही जा रही है। अत व्यग्यार्थ के मूल मे स्नेह का अभाव भी कारण हो सकता है, परन्तु ऐसी दुविधा वाच्य अर्थ मे नही है। 'हृदय ससोस कर मुरझाना' तो स्पष्ट ही गाढ अनुराग का सूचक है। इसलिए यहाँ वाच्यार्थ मे विशेष चमत्कार है। व्यग्यार्थ है अवश्य, परन्तु उसमें दम नही, चमत्कार नही, वह तो फीके रूप से झाँक रहा है।

चित्र काव्य

वह काव्य जिसमे व्यग्य अर्थ का अभाव हो तथा वाच्य अर्थ की ही केवल मात्र सत्ता हो वह अवर या अधम काव्य कहलाता है। इसी को **'चित्र काव्य'** कहते हैं। इसमे अलकार की प्रधानता रहती है—शब्दालकार के प्राधान्य होने पर होता है शब्दचित्र और अर्थालकार की प्रधानता होने पर होता है अर्थचित्र। इस काव्य मे कवि का लक्ष्य केवल शब्द या अर्थ को ही सुशोभित करने की या सजाने की ओर रहता है और इसलिए वह अन्य काव्यागो के लिए उद्योगशील नहीं होता। दोनो का उदारहण देखिए।

शब्दचित्र

कूलन मे केलिन कछारन मे कुजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकत है।
कहै 'पदमाकर' परागहूँ मे पौन हूँ में
पातन मे पीकन पलासन पगत है।
द्वार मे दिशान मे दुनी में देश-देशन मे
देखो दीप दीपन मे दीपत दिगत हैं।
बीथिन में ब्रज मे नवेलिन में बेलिन मे
बननमे बागन में बगरयो बसत है।

यहाँ 'क' प, द आदि अक्षरों की आवृत्ति होने से यह 'वृत्यनुप्रास' शब्दालंकार है। कवि का ध्यान इस शाब्दी सुषमा की ओर ही है। अतएव यह शब्दचित्र कहलावेगा। संस्कृत कवियों ने ऐसे भी श्लोकों की रचना की है कि जिनमें एक अक्षर के अतिरिक्त दूसरा अक्षर ही नहीं। किसी प्राचीन 'पाजक पण्डित' की यह पकारबहुला सूक्ति पढ़िये जिसमें प्रत्येक शब्द पकार से ही आरम्भ होता है। शाब्दी चमत्कृति का यह भव्य आदर्श है—

पूजा-पद्म-परम्परा-पुलकितौ पाण्योः परं पेलवौ ;
पुण्यौ पातकि-पाप-पाटन-पटू पृथ्वीं प्रपन्नौ प्रथाम् ।
प्रायः पर्वत-पुत्रिका-पृथु-पटैः पस्त्ये पुरा पूरितौ ;
पादौ पण्डित पाजकः पशुपतेः प्रीत्या पुरः पश्यतु ॥

इस घटाटोप का इतना ही अर्थ है कि पाजक पण्डित पशुपति के चरणों को प्रीति से अपने सामने अवलोकन करें। यह चतुर्थ चरण का अर्थ है। पहिले तीन पादों में चरणों के विशेषणों का व्यूह खड़ा किया गया है। इस पद्य में प्रत्येक शब्द पकार से आरम्भ होता है।

अर्थचित्र

आनन है, अरविन्द न फूले, अलीगन भूले कहा मँडरात हौ,
कीर तुम्हैं कहा बाउ लगी, भ्रम बिम्ब के ओठन को ललचात हौ।
"दास जू" व्याली न बेनी बनाव है, पापी कलापी कहा इतरात हौ,
बोलती बाल, न बाजती बीन, कहा सिगरे मिलि घेरत जात हौ॥

कवि किसी सुन्दरी के वर्णन-प्रसंग में कह रहा है कि यह मुख है, खिला हुआ कमल नहीं है। तब तुम भौंरे भूलकर क्यों इस मुख पर मँडरा रहे हो? ऐ सुग्गे, तुम्हें क्या बाई लगी है जो बिम्बफल के भ्रम से इन होठों के लिए लपक रहे हो। ए पापी मोर, यह गूँथी वेणी है, काली नागिन नहीं है कि उसे खाने के लिए इतने उतावले बन रहे हो। यह सुन्दरी बात बोल रही है, वीणा नहीं बज रही है। तो भ्रम में आकर सब लोग इसे क्यों घेर रहे हो? इस सुन्दर सवैये में अपह्नुति का चमत्कार है जिसमें भ्रान्ति होने से और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न हो गया है। 'भ्रान्तापह्नुति' को सजाने में ही कवि की प्रतिभा खर्च हुई है इस पद्य में। अतः इसे 'अर्थ-चित्र' नाम से पुकारते हैं।

काव्य और साहित्य

काव्य तथा साहित्य एक प्रकार से समानार्थक शब्द हैं, परन्तु दोनो से दो विभिन्न अभिप्रायो का प्रकाशन होता है। 'काव्य' का अर्थ है—**कवेः कर्म**, कवि का कर्म। कवि वही होता है जो किसी वस्तु के वर्णन मे निपुण होता है। वर्णना मे निपुण ऐसे कवि का कर्म (या रचना) 'काव्य' कहलाता है। उधर 'साहित्य' की व्युत्पत्ति 'सहित' शब्द से भाववाचक 'य' (ष्यञ्)प्रत्यय के योग से निष्पन्न होती है। **सहितयोः शब्दार्थयो भाव. साहित्यम्**। एक साथ सम्मिलित शब्द तथा अर्थ का भाव 'साहित्य' कहलाता है। यह पद द्योतित करता है कि कवि की रचना शब्द तथा अर्थ के परस्पर समन्वय या सामञ्जस्य का परिणत फल होती है। अभीप्ट अर्थ को प्रकट करने की शक्ति किसी विशिष्ट शब्द में ही होती है। कोई ही शब्द अभीष्ट अर्थ को प्रकट नही कर सकता। शब्दार्थ के साहित्य का तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ परस्पर स्पर्धा कर रमणीय होते है अर्थात् न शब्द अर्थ से घटकर है, और न अर्थ शब्द से न्यून। न कोई न्यून है और न कोई अतिरिक्त है अर्थात् न कोई घटकर है और न बढ़कर है, वल्कि दोनो सतुलित है। कुन्तक के शब्दो मे शब्द और अर्थ का यह सतुलन 'परस्पर-स्पर्धी' कहलावेगा ? जिस प्रकार दो मित्र आपस में स्पर्धा करके या होड रखकर उन्नति के शिखर पर पहुँच जाते है और आपस के सहयोग से एक आदर्श व्यक्तित्व की रचना करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी स्पर्धा कर सौन्दर्यशाली बनते है और आपस मे मिलकर एक आदर्श वस्तु की रचना करते है जो 'काव्य' कहलाता है। इसका आशय यही है कि 'साहित्य' (काव्य) में शब्द तथा अर्थ का पूर्ण सौहार्द होना चाहिए—दोनों ही सुन्दर तथा भव्य होने चाहिए। यही साहित्य की मनोरम कल्पना है।

द्वितीय खण्ड

काव्य-रूप

षष्ठ परिच्छेद

श्रव्य काव्य

काव्य के नाना रूपों का वर्णन संस्कृत अलंकार-शास्त्र में मिलता है। उनमें से प्रसिद्ध रूपों का ही यहाँ वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। काव्य मुख्यतया दो प्रकार का होता है—(१) श्रव्य काव्य और (२) दृश्य काव्य। 'श्रव्य' का अर्थ है सुनने योग्य। अत जिस काव्य को हम कानों से सुनकर आनन्द उठाते हैं वह है श्रव्य काव्य। इस प्रकार के काव्यों को कोई वक्ता पढता है और दूसरे लोग सुनकर उनसे उसका अर्थ समझते हैं तथा उससे आनन्द उठाते हैं। जैसे संस्कृत में कालिदास का महाकाव्य 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' और हिन्दी में तुलसी का 'रामचरितमानस' तथा केशवदास की 'रामचन्द्रिका'। 'दृश्य' का अर्थ है देखने योग्य। अत 'दृश्य काव्य' उस काव्य को कहते हैं जिसका आनन्द हम देखकर ही उठा सकते हैं। ये काव्य पढे तथा सुने भी जा सकते हैं, परन्तु इससे उनका पूरा आनन्द नहीं उठाया जा सकता। पूरा आनन्द उठाने के लिए उनका रंगमंच के ऊपर नटों के द्वारा अभिनय किया जाना नितान्त आवश्यक होता है। श्रव्य काव्य कानों के माध्यम से हमारे हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है, तो दृश्य काव्य नेत्रों के माध्यम से आनन्द का बोध कराता है। फलत इस माध्यम की भिन्नता के कारण काव्य के ये प्रसिद्ध दो रूप निष्पन्न होते हैं।

इन भेदों के भी उपभेद होते हैं। मोटे उपभेदों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। श्रव्य काव्य के मुख्यतया तीन भेद होते हैं—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य तथा (३) मुक्तक। महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य उस विशिष्ट काव्य की संज्ञा है जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण घटना जैसे संग्राम आदि का वर्णन विस्तार तथा विशदता के साथ किया जाता है। खण्डकाव्य महाकाव्य की अपेक्षा मात्रा में छोटा होता है, परन्तु विषय की दृष्टि से वह स्वत पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो

विषय तथा रस की दृष्टि से स्वय पूर्ण होता है। रचना की दृष्टि से काव्य के तीन और भेद होते हैं— (क) गद्य (ख) पद्य (ग) चम्पू। जिनमें छन्दोवद्ध रचना 'पद्य' कहलाती है, छद से रहित रचना 'गद्य' और गद्य-पद्य की मिश्रित रचना 'चम्पू' के नाम से अभिहित होती है।

दृश्य काव्य के दो भेद होते हैं—(क) रूपक तथा (ख) उपरूपक। नाटकीय लक्षणों से पूर्ण रचना 'रूपक' कहलाती है जिसके दस भेद होते हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अक तथा ईहामृग। **उपरूपक** में नृत्य की ही अधिकता रहती है और स्थान-स्थान पर नाटक के भी सवाद आदि तत्त्व मिले रहते है। इसके १८ भेद शास्त्रकारो ने वतलाये हैं जिनके नाम हैं— त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटयरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, रासक, प्रेंखण, सलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश, भाणिका तथा नाटिका।

महाकाव्य

महाकाव्य की सर्वप्रथम रचना महर्षि वाल्मीकि का 'रामायण' है। इसी ग्रन्थ की समीक्षा करने पर 'महाकाव्य' की कल्पना को आलकारिको ने प्रतिष्ठित किया। 'महाकाव्य' की महत्ता स्वरूप-जन्य नही है, प्रत्युत गुण जन्य है। कोई भी काव्य अपने विपुल काय के कारण महाकाव्य की पदवी से विभूषित नही किया जा सकता। उसके लिए कतिपय लक्षणो की स्थिति अनिवार्य होती है जिनका निर्देश सबसे पहिले दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक अलकार-ग्रन्थ में किया है (काव्यादर्श १।१४-१९)। महाकाव्य की रचना सर्गों में की जाती है। उसमें एक ही नायक होता है जो या तो देवता होता है अथवा उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृगार तथा शान्त—इन तीनो मे से कोई एक रस अगी (मुख्य) होता है और अन्य रस गौण रूप से ही वहाँ निवद्ध किये जाते हैं। कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन पुरुष का चरित वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार का वृत्त रचना के लिए चुना जाता है, परन्तु सर्ग के अन्त में वृत्त को बदल देने का नियम है। सर्ग का परिमाण न बडा होना चाहिए और न छोटा। सर्गों की सख्या आठ से अधिक होनी चाहिए तथा प्रति सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना भी अवश्य होनी चाहिए।

वृत्त को अलकृत तथा परिबृंहित करने के लिए नाना प्रकार के प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन भी स्थान-स्थान पर अपेक्षित होता है जैसे सन्ध्या, सूर्योदय, प्रदोष, रात्रि, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि का तथा वन, पर्वत, समुद्र तथा ऋतुओ का। बीच-बीच में शृगाररस का भी परिपोष किया जाता है और इसलिए स्त्रियो की जल-केलि आदि का भी वर्णन अपेक्षित रहता है। वीररस के प्रसग में लडाई, मन्त्रणा तथा आक्रमण आदि विषयो का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन रहता है। नायक तथा प्रतिनायक का सघर्ष महाकाव्य का मुख्य विषय होता है। अन्तिम उद्देश्य होता है धर्म तथा न्याय की विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश।

दण्डी की महाकाव्य की यही कल्पना है जिसे पिछले आलकारिको ने कुछ शब्द भेद के साथ दुहराया है। द्रट तथा विश्वनाथ कविराज ने इसी को भिन्न-भिन्न शब्दो में वर्णित किया है। एक बात ध्यान देने की यह है कि ये आलकारिक उतने ही विषयों के उपबृंहण तथा अलकरण को उचित मानते हैं जिसमे कथावस्तु का कथमपि विच्छेद न हो सके। यह बहुत ही आवश्यक वस्तु है। अलकरण तथा सजावट का अपना तो कोई मूल्य नही होता, वे इसीलिए आवश्यक माने जाते हैं जिसमे मूल वस्तु का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो। यदि अलकरणो से मूल वस्तु या कथानक का विच्छेद हो जाय और पाठक इन्ही के झमेले मे पडकर मुख्य कथानक को एकदम भूल बैठता हो, तो इसमे लाभ ही क्या ?

इस लक्षण की समीक्षा करने पर महाकाव्य के आवश्यक उपकरणों का परिचय हमे प्राप्त हो सकता है। महाकाव्य के तत्त्व नीचे लिखे प्रकार मे हैं :—

(क) **कथानक**—महाकाव्य का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होना चाहिए। भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटनाओ की कमी नहीं है, परन्तु इस कार्य के लिए वे ही चुनी जाती हैं जिनका हमारे जातीय जीवन में विशेष महत्त्व होता है तथा जिनका प्रभाव हमारे जीवन पर स्थायी रूप से होता है। क्षणिक महत्त्व की घटनायें इस कार्य के लिए कभी नहीं चुनी जाती। संस्कृत के महाकाव्य रामायण तथा महाभारत के कथानक के ऊपर विशेषरूप से आश्रित होते हैं। कारण स्पष्ट है। रामायण और महाभारत हमारे जातीय गौरव के स्तम्भ हैं और हमारी सस्कृति तथा सभ्यता के बोधक तथा प्रतिष्ठापक हैं। इसीलिए भारतवर्ष का कवि प्रत्येक युग में इन्हीं को अपने काव्य का विषय चुनता है तथा अपने युग के अनुसार इन

कथाओं का प्रदर्शन करता है। पुराणों में वर्णित घटनायें भी महाकाव्य के लिए चुनी जा सकती हैं। नीलकण्ठ कवि ने 'शिव लीलार्णव' में शिवपुराण का ही आधार लिया है तथा रत्नाकर कवि ने 'हरविजय' में भी उसी आधार पर अपने कथानक को प्रतिष्ठित किया है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य का कथानक किसी क्षुद्र या लघु घटना के आधार पर कभी नहीं निर्मित होता, न वह किसी सामान्य व्यक्ति का ही चरित्र चित्रित करता है। कथानक के चुनाव के लिए तथा वर्णन के प्रकार के लिए भी भव्यता महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक गुण है।

(ख) **पात्र-चित्रण**—वर्णित पात्रों के चरित्र को भी सुन्दरता से दिखलाना इस प्रकार के काव्य का उद्देश्य होता है। पात्रों में 'उदात्तता' का होना नितान्त आवश्यक होता है। चरित्र ऐसा होना चाहिए जिसको हम आदर्श मानकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अनुकरण कर सकें। यदि उसके नायक में आदर्श गुणों का अभाव हो तो वह हमारा हृदय कथमपि आकृष्ट नहीं कर सकता। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष दिखलाकर कथानक का विकास दिखलाया जाता है। नायक होता है न्याय तथा धर्म का रक्षक, जिसके कार्यों में प्रतिनायक विघ्न डालने के लिए खड़ा रहता है। फलतः प्रतिनायक को मारकर धर्म तथा न्याय का संरक्षण करना नायक का प्रधान कार्य होता है। नायक के चरित्र में इन शोभन गुणों का प्राधान्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

(ग) **रस**—महाकाव्य में शृंगार तथा वीररस का प्रदर्शन कवि को अभीष्ट होता है। शौर्य-मण्डित कथानक में वीररस का तथा शृंगारी विषयों में शृंगार रस का वर्णन नितान्त अपेक्षित होता है। अवान्तर रसों का भी वर्णन स्थान-स्थान पर आवश्यक होता है, परन्तु मुख्य रस का परिपोष ही इनका उद्देश्य होता है। मुख्य रस तथा गौण रस में कभी विरोध की भावना नहीं रहती। यदि ऐसा कभी हो, तो वह काव्य निन्दित तथा गर्हणीय माना जाता है।

(घ) **प्रकृति-चित्रण**—कथानक को सरसता तथा महत्ता प्रदान करने के लिए अवान्तर सामग्री से उसे मण्डित करना बहुत ही आवश्यक होता है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति के चित्रण को महाकाव्य में विशेष महत्त्व दिया है। प्रकृति के प्रति उनकी भावना विरोध की न थी। वे मानव तथा बाह्य प्रकृति को एक सुवर्ण-सूत्र में बाँधने के पक्षपाती थे। उचित भी यही है। प्रकृति अपना प्रभाव मानवीय

स्वभाव पर बिना डाले रह नहीं सकती और मनुष्य भी प्रकृति के प्रति अपना अनुराग प्रकट किये बिना रह नहीं सकता। दोनों में न विरोध है और न भेदभाव। महाकाव्य में प्रकृति का चित्रण दोनों रूपों में मिलता है—आलम्बन के रूप में तथा उद्दीपन के रूप मे। तडाग में खिले हुए नील कमल, उपवन में विकसित फूल, पञ्चम में कूकती हुई कोकिला—इन सबका वर्णन हमारे कवि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करते हैं और यह करना उचित ही है। वह प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन भी करता है। बाह्य प्रकृति को हमारा कवि, सुषमा का निकेतन तथा सौन्दर्य का सदन मानता है परन्तु उसके भीतरी रहस्य को जानने के लिए कवि में निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए। आज की 'नागरिक सभ्यता' में नगर का कवि प्रकृति से दूर हटता जाता है और इसीलिए उसके वर्णन में कृत्रिमता है। प्रकृति को उसने कभी स्वच्छन्द विहार करनेवाली देखा ही नहीं, तो वह उसका तद्रूप वर्णन कर ही कहां से सकता है? परन्तु संस्कृत के कवि प्रकृति के पुजारी थे और इसलिए उनके वर्णन स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं।

कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का एक मञ्जुल उदाहरण यहां दिया जाता है। हिमाचल की मनोरम सन्ध्या है। भगवान् शशिशेखर पार्वती की दृष्टि को सन्ध्याकालीन हैमवती सुषमा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे पिता के झरने सूरज के पश्चिम की ओर लटक जाने के कारण अब इन्द्रधनुष से विरहित दीख पड़ते हैं। बात यह है कि सूरज की किरणें जब झरनों से उठनेवाली फुही पर पड़ती है, तब हजारों इन्द्रधनुष जलकणों में दिखलाई पड़ते हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है जिसकी सत्यता का अनुभव जलप्रपात को देखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को होता है। प्रपातों के दर्शन की ओर दर्शकों के आकर्षण का रहस्य इसी सुषमा के भीतर छिपा है। महाकवि कालिदास तो हिमालय के प्रेमी कवि हैं। उनकी दृष्टि इन वैज्ञानिक दृश्यों के निरीक्षण में सर्वदा दत्तचित्त रहती है। कवि के इस तथ्य के दर्शनपरक श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए—

शीकर-व्यतिकरं मरीचिभि-
दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचाप- परिवेष- शून्यता,
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

कथाओ का प्रदर्शन करता है। पुराणो मे वर्णित घटनायें भी महाकाव्य के लिए चुनी जा सकती हैं। नीलकण्ठ कवि ने 'शिव लीलार्णव' में शिवपुराण का ही आधार लिया है तथा रत्नाकर कवि ने 'हरविजय' में भी उसी आधार पर अपने कथानक को प्रतिष्ठित किया है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य का कथानक किसी क्षुद्र या लघु घटना के आधार पर कभी नही निर्मित होता, न वह किसी सामान्य व्यक्ति का ही चरित्र चित्रित करता है। कथानक के चुनाव के लिए तथा वर्णन के प्रकार के लिए भी भव्यता महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक गुण है।

(ख) **पात्र-चित्रण**—वर्णित पात्रो के चरित्र को भी सुन्दरता से दिखलाना इस प्रकार के काव्य का उद्देश्य होता है। पात्रो मे 'उदात्तता' का होना नितान्त आवश्यक होता है। चरित्र ऐसा होना चाहिए जिसको हम आदर्श मानकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अनुकरण कर सकें। यदि उसके नायक में आदर्श गुणो का अभाव हो तो वह हमारा हृदय कथमपि आकृष्ट नही कर सकता। नायक तथा प्रतिनायक का सघर्ष दिखलाकर कथानक का विकास दिखलाया जाता है। नायक होता है न्याय तथा धर्म का रक्षक, जिसके कार्यों मे प्रतिनायक विघ्न डालने के लिए खडा रहता है। फलत प्रतिनायक को मारकर धर्म तथा न्याय का सरक्षण करना नायक का प्रधान कार्य होता है। नायक के चरित्र मे इन शोभन ुणो का प्राधान्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

(ग) **रस**—महाकाव्य में शृगार तथा वीररस का प्रदर्शन कवि को अभीष्ट होता है। शौर्य-मण्डित कथानक में वीररस का तथा शृगारी विषयो में शृगार रस का वर्णन नितान्त अपेक्षित होता है। अवान्तर रसो का भी वर्णन स्थान-स्थान पर आवश्यक होता है, परन्तु मुख्य रस का परिपोष ही इनका उद्देश्य होता है। मुख्य रस तथा गौण रस में कभी विरोध की भावना नही रहती। यदि ऐसा कभी हो, तो वह काव्य निन्दित तथा गर्हणीय माना जाता है।

(घ) **प्रकृति-चित्रण**—कथानक को सरसता तथा महत्ता प्रदान करने के लिए अवान्तर सामग्री से उसे मण्डित करना बहुत ही आवश्यक होता है। सस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति के चित्रण को महाकाव्य में विशेष महत्त्व दिया है। प्रकृति के प्रति उनकी भावना विरोध की न थी। वे मानव तथा बाह्य प्रकृति को एक सुवर्ण-सूत्र में बाँधने के पक्षपाती थे। उचित भी यही है। प्रकृति अपना प्रभाव मानवीय

स्वभाव पर बिना डाले रह नहीं सकती और मनुष्य भी प्रकृति के प्रति अपना अनुराग प्रकट किये बिना रह नही सकता। दोनों में न विरोध है और न भेदभाव। महाकाव्य में प्रकृति का चित्रण दोनों रूपों में मिलता है—आलम्बन के रूप मे तथा उद्दीपन के रूप मे। तडाग में खिले हुए नील कमल, उपवन मे विकसित फूल, पञ्चम में कूकती हुई कोकिला—इन सबका वर्णन हमारे कवि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करते हैं और यह करना उचित ही है। वह प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन भी करता है। बाह्य प्रकृति को हमारा कवि, सुषमा का निकेतन तथा सौन्दर्य का सदन मानता है परन्तु उसके भीतरी रहस्य को जानने के लिए कवि मे निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए। आज की 'नागरिक सभ्यता' में नगर का कवि प्रकृति से दूर हटता जाता है और इसीलिए उसके वर्णन मे कृत्रिमता है। प्रकृति को उसने कभी स्वच्छन्द विहार करनेवाली देखा ही नही, तो वह उसका तद्रूप वर्णन कर ही कहाँ से सकता है? परन्तु सस्कृत के कवि प्रकृति के पुजारी थे और इसलिए उनके वर्णन स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं।

कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का एक मञ्जुल उदाहरण यहाँ दिया जाता है। हिमाचल की मनोरम सन्ध्या है। भगवान् शशिशेखर पार्वती को दृष्टि को सन्ध्याकालीन हैमवती सुषमा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे पिता के झरने सूरज के पश्चिम की ओर लटक जाने के कारण अब इन्द्रधनुष से विरहित दीख पडते हैं। बात यह है कि सूरज की किरणे जब झरनों से उठनेवाली फुही पर पडती हैं, तब हजारों इन्द्रधनुष जलकणों में दिखलाई पडते हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है जिसकी सत्यता का अनुभव जलप्रपात को देखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को होता है। प्रपातों के दर्शन की ओर दर्शकों के आकर्षण का रहस्य इसी सुषमा के भीतर छिपा है। महाकवि कालिदास तो हिमालय के प्रेमी कवि हैं। उनकी दृष्टि इन वैज्ञानिक दृश्यों के निरीक्षण में सर्वथा कृतकार्य रहती है। कवि के इस तथ्य के वर्णनपरक श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए—

शीकर-व्यतिकरं मरीचिभि-
र्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचाप- परिवेष- शून्यता,
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

कथाओ का प्रदर्शन करता है। पुराणो मे वर्णित घटनायें भी महाकाव्य के लिए चुनी जा सकती है। नीलकण्ठ कवि ने 'शिव लीलार्णव' मे शिवपुराण का ही आधार लिया है तथा रत्नाकर कवि ने 'हरविजय' में भी उसी आधार पर अपने कथानक को प्रतिष्ठित किया है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य का कथानक किसी क्षुद्र या लघु घटना के आधार पर कभी नही निर्मित होता, न वह किसी सामान्य व्यक्ति का ही चरित्र चित्रित करता है। कथानक के चुनाव के लिए तथा वर्णन के प्रकार के लिए भी भव्यता महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक गुण है।

(ख) **पात्र-चित्रण**—वर्णित पात्रो के चरित्र को भी सुन्दरता से दिखलाना इस प्रकार के काव्य का उद्देश्य होता है। पात्रो में 'उदात्तता' का होना नितान्त आवश्यक होता है। चरित्र ऐसा होना चाहिए जिसको हम आदर्श मानकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अनुकरण कर सकें। यदि उसके नायक में आदर्श गुणो का अभाव हो तो वह हमारा हृदय कथमपि आकृष्ट नही कर सकता। नायक तथा प्रतिनायक का सघर्ष दिखलाकर कथानक का विकास दिखलाया जाता है। नायक होता है न्याय तथा धर्म का रक्षक, जिसके कार्यों में प्रतिनायक विघ्न डालने के लिए खडा रहता है। फलत प्रतिनायक को मारकर धर्म तथा न्याय का सरक्षण करना नायक का प्रधान कार्य होता है। नायक के चरित्र में इन शोभन गुणो का प्राधान्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

(ग) **रस**—महाकाव्य में शृगार तथा वीररस का प्रदर्शन कवि को अभीष्ट होता है। शौर्य-मण्डित कथानक में वीररस का तथा शृगारी विषयो में शृगार रस का वर्णन नितान्त अपेक्षित होता है। अवान्तर रसो का भी वर्णन स्थान-स्थान पर आवश्यक होता है, परन्तु मुख्य रस का परिपोष ही इनका उद्देश्य होता है। मुख्य रस तथा गौण रस में कभी विरोध की भावना नही रहती। यदि ऐसा कभी हो, तो वह काव्य निन्दित तथा गर्हणीय माना जाता है।

(घ) **प्रकृति-चित्रण**—कथानक को सरसता तथा महत्ता प्रदान करने के लिए अवान्तर सामग्री से उसे मण्डित करना बहुत ही आवश्यक होता है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति के चित्रण को महाकाव्य में विशेष महत्त्व दिया है। प्रकृति के प्रति उनकी भावना विरोध की न थी। वे मानव तथा बाह्य प्रकृति को एक सुवर्ण-सूत्र में बाँधने के पक्षपाती थे। उचित भी यही है। प्रकृति अपना प्रभाव मानवीय

स्वभाव पर बिना डाले रह नहीं सकती और मनुष्य भी प्रकृति के प्रति अपना अनुर
प्रकट किये बिना रह नहीं सकता। दोनों में न विरोध है और न भेदभाव। महाका
में प्रकृति का चित्रण दोनों रूपों में मिलता है—आलम्बन के रूप में तथा उद्दी
के रूप में। तडाग में खिले हुए नील कमल, उपवन में विकसित फूल, पञ्चम
कूकती हुई कोकिला—इन सबका वर्णन हमारे कवि उद्दीपन विभाव के अन्त
करते हैं और यह करना उचित ही है। वह प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में व
भी करता है। बाह्य प्रकृति को हमारा कवि, सुषमा का निकेतन तथा गौ
का सदन मानता है परन्तु उसके भीतरी रहस्य को जानने के लिए कवि में निरी
शक्ति होनी चाहिए। आज की 'नागरिक सभ्यता' में नगर का कवि प्रकृति से
हटता जाता है और इसीलिए उसके वर्णन में कृत्रिमता है। प्रकृति को उसने क
स्वच्छन्द विहार करनेवाली देखा ही नहीं, तो वह उसका तद्रूप वर्णन कर ही प
सकता है? परन्तु सस्कृत के कवि प्रकृति के पुजारी थे और इसलिए उनके व
स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं।

कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का एक मञ्जुल उदाहरण यहाँ दिया जाता है। हिमा
की मनोरम सन्ध्या है। भगवान् शशिशेखर पार्वती की दृष्टि को सन्ध्याकालीन हिम
सुषमा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे पिता के झरने सूरज
पश्चिम की ओर लटक जाने के कारण अब इन्द्रधनुष से विरहित दीख पड़ते
बात यह है कि सूरज की किरणें जब झरनों से उठनेवाली फुही पर पड़ती हैं,
हजारों इन्द्रधनुष जलकणों में दिखलाई पड़ते हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है जिस
सत्यता का अनुभव जलप्रपात को देखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को होता है। प्रप
के दर्शन की ओर दर्शकों के आकर्षण का रहस्य इसी सुषमा के भीतर छिपा
महाकवि कालिदास तो हिमालय के प्रेमी कवि हैं। उनकी दृष्टि इन वैज्ञा
दृश्यों के निरीक्षण में सर्वथा कृतकार्य रहती है। कवि के इस तथ्य के दर्शनप
श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए—

शीकर-व्यतिकरं मरीचिभि-
र्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचाप- परिवेष- शून्यतां,
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥

कथाओ का प्रदर्शन करता है। पुराणो मे वर्णित घटनायें भी महाकाव्य के लिए चुनी जा सकती हैं। नीलकण्ठ कवि ने 'शिव लीलार्णव' में शिवपुराण का ही आधार लिया है तथा रत्नाकर कवि ने 'हरविजय' में भी उसी आधार पर अपने कथानक को प्रतिष्ठित किया है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य का कथानक किसी क्षुद्र या लघु घटना के आधार पर कभी नही निर्मित होता, न वह किसी सामान्य व्यक्ति का ही चरित्र चित्रित करता है। कथानक के चुनाव के लिए तथा वर्णन के प्रकार के लिए भी भव्यता महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक गुण है।

(ख) **पात्र-चित्रण**—वर्णित पात्रो के चरित्र को भी सुन्दरता से दिखलाना इस प्रकार के काव्य का उद्देश्य होता है। पात्रो में 'उदात्तता' का होना नितान्त आवश्यक होता है। चरित्र ऐसा होना चाहिए जिसको हम आदर्श मानकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अनुकरण कर सकें। यदि उसके नायक में आदर्श गुणो का अभाव हो तो वह हमारा हृदय कथमपि आकृष्ट नही कर सकता। नायक तथा प्रतिनायक का सघर्ष दिखलाकर कथानक का विकास दिखलाया जाता है। नायक होता है न्याय तथा धर्म का रक्षक, जिसके कार्यों मे प्रतिनायक विघ्न डालने के लिए खडा रहता है। फलत प्रतिनायक को मारकर धर्म तथा न्याय का सरक्षण करना नायक का प्रधान कार्य होता है। नायक के चरित्र में इन शोभन गुणो का प्राधान्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

(ग) **रस**—महाकाव्य मे शृगार तथा वीररस का प्रदर्शन कवि को अभीष्ट होता है। शौर्य-मण्डित कथानक में वीररस का तथा शृगारी विषयो में शृगार रस का वर्णन नितान्त अपेक्षित होता है। अवान्तर रसों का भी वर्णन स्थान-स्थान पर आवश्यक होता है, परन्तु मुख्य रस का परिपोष ही इनका उद्देश्य होता है। मुख्य रस तथा गौण रस में कभी विरोध की भावना नही रहती। यदि ऐसा कभी हो, तो वह काव्य निन्दित तथा गर्हणीय माना जाता है।

(घ) **प्रकृति-चित्रण**—कथानक को सरसता तथा महत्ता प्रदान करने के लिए अवान्तर सामग्री से उसे मण्डित करना बहुत ही आवश्यक होता है। सस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति के चित्रण को महाकाव्य में विशेष महत्त्व दिया है। प्रकृति के प्रति उनकी भावना विरोध की न थी। वे मानव तथा बाह्य प्रकृति को एक सुवर्ण-सूत्र में बाँधने के पक्षपाती थे। उचित भी यही है। प्रकृति अपना प्रभाव मानवीय

है कि हम जाने कि कौन इसका वक्ता और कौन इसका बोधव्य है? कौन कह रहा है और किससे? इसके कथन का अवसर कब है? यह क्यों कहा गया? इन प्रश्नो के बिना उत्तर जाने हम महाकाव्य के पद्य का अर्थ भली भाँति नही जान सकते। परन्तु 'मुक्तक' इन सबसे 'मुक्त' (रहित) है, छोडा गया है। मुक्तक' नाम 'क' प्रत्यय स्वार्थ बोधक है। जैसे बाल और बालक एक ही होते है, उसी प्रकार 'मुक्त' और 'मुक्तक' एक ही हैं। इस प्रकार 'मुक्तक' का अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाहरी उपकरणो से मुक्त होकर स्वय रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की तनिक भी अपेक्षा नही होती। स्वय रस के समस्त उपकरण—विभाव, अनुभाव आदि—उपस्थित रहते हैं जिससे उसके पाठ से आनन्द उठाने के लिए पाठक को किसी प्रकार का आयास नही करना पडता। मुक्तक तो उन रस-भरे मोदको के समान हैं जिनके आस्वादनमात्र से सहृदयो का हृदय तुरन्त तृप्त तथा उल्लसित हो जाता है।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' में मुक्तको के पाँच भेद किये हैं, परन्तु इस भेद का मूल आधार विशेष व्यापक नही है। राजशेखर के द्वारा निर्दिष्ट पाँच भेद ये है—(१) शुद्ध-जिसमें बिना किसी अतिरिक्त सामग्री के किसी भावना का वर्णन होता है; और जिसमें किसी इतिवृत्त का सम्बन्ध नही रहता। (२) चित्र-जहाँ शुद्ध मुक्तक में भावो की अनेक चित्र विचित्र कल्पनायें प्रस्तुत की जाती हैं। (३) कथोत्थ (कथा से उत्थ, उठा हुआ)-किसी अतीत घटना का वर्णन करनेवाला मुक्तक, (४) संविधानकभू-जिसमे घटना की सम्भावना की जाती हैं, (५) आख्यानकवान्-जिसमे घटना को कवि अपनी मनोरम प्रतिभा के सहारे बहुत ही विस्तृत कर दिखलाता है। बिहारी की 'सतसई' से इन प्रकारों का हिन्दी उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होगे।

श्री राधिका की सुहावनी शोभा का, जिसमें किसी प्रकार की बनावट नही है, वर्णन पढने से उनका चित्र सामने खडा हो जाता है—

रस सिंगार मजन किए, कजन भजन दैन।
अजन-रजन हू बिना, खजन-गजन नैन॥

श्री राधिका के सामने कवि तीर्थों को दिव्य समझकर फेरने या तिरस्कार

यह उक्ति किसी रूढिवादी कवि की नही है, प्रत्युत उस कवि की है जो प्रकृति की लीलाओ को अपने नेत्रो से निरख कर आनन्द विभोर हो उठता है तथा आपा खो बैठता है। प्राकृतिक दृश्यो का यह भव्य वर्णन महाकाव्य का एक आवश्यक अग है जिसकी उपेक्षा कभी भी श्लाघनीय नही होती।

इन्ही तत्त्वो का योग महाकाव्य का जनक होता है।

खण्ड काव्य

वह काव्य जो मात्रा में महाकाव्य से छोटा हो परन्तु गुणो में उससे कथमपि न्यून न हो, 'खण्डकाव्य' कहलाता है। यह महाकाव्य का टुकडा न होकर, स्वय पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। परिमाण में कम होने के कारण इसमें महाकाव्य के विषय—युद्ध आदि—का विवरण नही दिया जाता, परन्तु इसमें कवि किसी विशिष्ट विषय पर अपने विचारो को प्रकट करता है। महाकाव्य विषय-प्रधान होता है, परन्तु खण्डकाव्य मुख्यतया विषयी-प्रधान होता है जिसमें लेखक कथानक के स्थूल चि में अपने वैयक्तिक विचारो को प्रसङ्गानुसार वर्णन करता है। 'मेघदूत' खण्डकाव्य का एक सुन्दर दृष्टान्त है। इसमें कालिदास ने एक विरही यक्ष के द्वारा अपनी वियोग-विधुरा पत्नी के पास प्रणय का सन्देश भेजवाया है। इसमें कथानक तो बिल्कुल छोटा है, परन्तु प्रकृति का वर्णन विशेष रूप से सुन्दर तथा भव्य है। यहाँ बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है और साथ ही साथ मानव हृदय के कोमल भावो का भी वर्णन बडा ही रुचिर है। यक्ष का प्रेम-सन्देश उसके कोमल हृदय का, स्वाभाविक स्नेह का तथा सच्ची सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है। इस प्रकार महाकाव्य के विषय से इसका कथमपि साम्य नही। किन्ही खण्डकाव्यो में ऐसा साम्य विद्यमान रह भी सकता है, परन्तु खण्डकाव्य तिस पर भी अपनी स्वतन्त्रता से मण्डित रहता ही है। 'खण्डकाव्य' के नामको को देखकर कितने ही आलोचको की यह भ्रान्त धारणा होती है कि यह प्रबन्ध काव्य का एक 'खण्ड मात्र' हैं, परन्तु वस्तुत ऐसी बात नही है।

मुक्तक

'मुक्तक' का अर्थ है सन्दर्भ, प्रकरण आदि से मुक्त या विरहित काव्य। महाकाव्य में सन्दर्भ का बडा महत्त्व होता है। किसी पद्य के अर्थ जानने के लिए यह जरूरी होता

है कि हम जानें कि कौन इसका वक्ता और कौन इसका बोधव्य है ? कौन कह रहा है और किससे ? इसके कथन का अवसर कब है ? यह क्यों कहा गया ? इन प्रश्नो के बिना उत्तर जाने हम महाकाव्य के पद्य का अर्थ भली भांति नही जान सकते। परन्तु 'मुक्तक' इन सबसे 'मुक्त' (रहित) है, छोडा गया है। मुक्तक' नाम 'क' प्रत्यय स्वार्थ बोधक है। जैसे बाल और बालक एक ही होते हैं, उसी प्रकार 'मुक्त' और 'मुक्तक' एक ही है। इस प्रकार 'मुक्तक' का अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाहरी उपकरणो से मुक्त होकर स्वय रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की तनिक भी अपेक्षा नही होती। स्वय रस के समस्त उपकरण—विभाव, अनुभाव आदि—उपस्थित रहते हैं जिससे उसके पाठ से आनन्द उठाने के लिए पाठक को किसी प्रकार का आयास नहीं करना पडता। मुक्तक तो उन रस-भरे मोदको के समान हैं जिनके आस्वादनमात्र से सहृदयों का हृदय तुरन्त तृप्त तथा उल्लसित हो जाता है।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' मे मुक्तको के पांच भेद किये हैं, परन्तु इस भेद का मूल आधार विशेष व्यापक नही है। राजशेखर के द्वारा निर्दिष्ट पांच भेद ये हैं—(१) शुद्ध–जिसमें बिना किसी अतिरिक्त सामग्री के किसी भावना का वर्णन होता है; और जिसमें किसी इतिवृत्त का सम्बन्ध नही रहता। (२) चित्र–जहां शुद्ध मुक्तक मे भावो की अनेक चित्र विचित्र कल्पनायें प्रस्तुत की जाती हैं। (३) कथोत्थ (कथा से उत्थ, उठा हुआ)–किसी अतीत घटना का वर्णन करनेवाला मुक्तक, (४) संविधानकभू–जिसमें घटना की सम्भावना की जाती है, (५) आख्यानकवान्–जिसमे घटना को कवि अपनी मनोरम प्रतिभा के सहारे बहुत ही विस्तृत कर दिखलाता है। बिहारी की 'सतसई' मे इन प्रकारो का हिन्दी उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

श्री राधिका की सुहावनी शोभा का, जिसमे किसी प्रकार की बनावट नहीं है, वर्णन पढने मे उनका चित्र सामने खडा हो जाता है—

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन।
अंजन-रंजन हू बिना, खंजन-गंजन नैन॥

श्री राधिका के सामने सखि तीर्यों को विघ्न समझकर फँसने या तिरस्कार

करने की बात कह रहा है, क्योंकि वह त्रिवेनी, जिसमें एक डुबकी लगाना दु ख से मोक्ष दिलाने की पराकाष्ठा है, उसके पैर को छूती है।

ताहि देखि मन तीरथन, विकटनि जाय वलाय।
जा मृगनैनी के सदा, वेनी परसत पाय।।

इन पद्यो के अर्थ समझने के लिए कही वाहर जाने की आवश्यकता नही है। ये अपने अर्थ वतलाने के लिए स्वत पूर्ण हैं और यही मुक्तक काव्य की निजी विशिष्टता होती है।

प्रवन्धकाव्य तथा मुक्तककाव्य में मुख्य भेद क्या है ? इतना तो निश्चित है कि स्थान की वहुलता के कारण प्रवन्धकाव्य मे जीवन की घटनाओ की जो भव्य तथा विशद झाँकी दिखलाई जा सकती है, वह मुक्तककाव्य मे नही है। मुक्तक मे जीवन की कोई एक मनोरम, परन्तु प्रभावशाली, छोटी परन्तु अन्तरग घटना का ही चित्रण सम्भव है। एक पद्य के सकीर्ण क्षेत्र में बँधे रहने के कारण कवि के सामने वह मैदान ही नही है, जिसमें वह अपनी प्रतिभा की दौड दिखा सके। परन्तु वह जितना स्थान पाता है उसी में ही वह जो कुछ दिखा पाता है, वह नितान्त सरस, हृदयावर्जक तथा प्रभावशाली होता है। सस्कृत साहित्य में कालिदास तथा अश्वघोष प्रवन्धकाव्य के रचयिता हैं और अमरुक तथा भर्तृहरि मुक्तककाव्य के। हिन्दी साहित्य में तुलसी तथा केशव प्रबन्ध कवि हैं और बिहारी तथा मतिराम मुक्तक कवि हैं। इनके काव्यो में जो अन्तर दीख पडता है, वह मर्मज्ञ पाठको की दृष्टि से अगम्य नही है। इसी रसपेशलता के कारण आनन्दवर्धन की प्रसिद्ध उक्ति है कि प्रवन्धो के समान मुक्तको में भी कविजन रसात्मक निबन्धन के विशेष आग्रही दीख पडते हैं और इसलिए अमरुक कवि के शृगार रस चुलानेवाले मुक्तक स्वत प्रवन्ध के समान हैं। तथ्य यह है कि मुक्तककवि रसकवि होता है। वह केवल रस के उन्मेष के ही लिए मुक्तको की रचना करता है। इसलिए मुक्तक (जैसे अमरुक के पद्य तथा विहारी के दोहे) विशेषत ध्वनिकाव्य के सुन्दर नमूने होते हैं।

अमरुक कवि के एक मुक्तक पर दृष्टिपात कीजिए —

प्रस्थान वलयैः कृत प्रियसखैरस्रैरजस्र गत,
धृत्या न क्षणमासित व्यवसित चित्तेन गन्तु पुरः।

यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता ,
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रिय-सुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ।

भावी प्रोषितपतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तभी हाथ के कंगनों ने प्रस्थान कर दिया—खिसक गये, प्रिय मित्र-आँसू भी लगातार जाने लगे। धृति एक क्षण के लिए भी न टिकी। मन जाने के लिए पहिले से ही तैयार हो गया। ऐ मेरे प्राण, जब तुम्हारा भी जाने का निश्चय है, तो अपने प्रिय मित्रों का संग-साथ मत छोड़ो। तुम भी अभी चलते बनो।

मुक्तकभेद

मुक्तक को हम मोटे तौर से दो भागों में बाँट सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक मुक्तक विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। इनका ही प्रचलित नाम 'स्तोत्र' है। संस्कृत में 'स्तोत्र' का एक विशाल साहित्य है। संस्कृत का भक्त कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों से चकित हो उठता है, तो कभी भगवान् के भी विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीन जनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्म-विस्मृत हो जाता है। बच्चा अपनी माता के पास मनचाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है, आत्मानन्द की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। भक्त कवि की यही दशा होती है। इसीलिए संस्कृत का मुक्तक-साहित्य हृदय के भावों के वर्णन करने में अपनी तुलना नहीं रखता। वह उस लघु-चित्र के समान होता है जिसके छोटे से दायरे में चित्र के पूरे अंग प्रत्यंग खींचे जाते हैं तथा जो देखते ही अद्भुत चमत्कार पैदा करता है।

महाकवि मतिराम ने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण के रूपवर्णन में अपने हृदय के भावों का अच्छा परिचय दिया है। इसे हम धार्मिक मुक्तक का अच्छा उदाहरण मान सकते हैं—

गुच्छनि के अवतंस लसै सिर, पच्छन अच्छ किरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव सों "मतिराम" सुहायो।
गुंजनि के उर मंजुल हार निकुंजनि तें कढ़ि बाहर आयो।
आजु को रूप लखैं नँदलाल को, आजहि नैनन को फल पायो ॥

इन भेदो का यदि अग्रेजी पद्धति से वर्गीकरण करना पडेगा तो हम महाकाव्य को 'एपिक पोइट्री' के अन्तर्गत तथा पिछले दोनो भेदो को 'लिरिक पोइट्री' के भीतर रखेंगे। 'एपिक' के समान ही महाकाव्य में कवि विषय ढूंढने के लिए अपने से बाहर जाता है और जातीय घटनाओ के वर्णन में अपनी प्रतिभा का वैभव दिखाता है। ये घटनाये वर्णन-प्रधान होती हैं अर्थात् उनमे सग्राम, आक्रमण, मारपीट आदि बाहरी घटनाओ का विवरण ही मुख्य रहता है। 'लिरिक' के समान मुक्तक काव्य का कवि विषय-निर्वाचन के लिए अपने से बाहर नही जाता, प्रत्युत अपने ही भीतर डूबकर भावो के प्रगट करने मे ही अपना काव्य गौरव मानता है। सस्कृत में गोवर्धनाचार्य तथा अमरुक इसके उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। हिन्दी में विहारी तथा मतिराम इस कोटि के प्रमुख कवि हैं।

इतरभेद

छन्दोबद्ध रचना 'पद्य' तथा छन्दोविहीन रचना 'गद्य' कहलाती है। सस्कृत आचार्यो के मन्तव्यानुसार 'छन्द' काव्य के लिए आवश्यक वस्तु नही है। काव्य की आवश्यक वस्तु तो रस है। यदि उसकी सत्ता है तो वह काव्य अवश्य है चाहे वह छन्द के माध्यम से प्रकट किया गया हो या नही। पद्यकाव्य के तो भेद ऊपर दिखलाये गये हैं। गद्यकाव्य दो प्रकार का मुख्यतया माना जाता है—**कथा** और **आख्यायिका।** इनके परस्पर वैशिष्ट्य के विषय में आलकारिको में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य भामह ने दोनो मे पार्थक्य दिखलाने का प्रथम उद्योग किया, परन्तु वह उद्योग सफल नही रहा। दोनो को पृथक् करनेवाली रेखा इतनी फीकी और धूमिल है कि दण्डी ने इसका सर्वथा तिरस्कार कर दिया। सस्कृत में इन दोनो प्रकार की रचनाओ को प्रस्तुत करने का श्रेय महाकवि बाणभट्ट को ही है। इन्होने 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' और हर्षचरित को 'आख्यायिका' नाम दिया है। दोनो में मुख्य भेद यह है कि **कथा** किसी प्राचीन आख्यान को कहते हैं जिसमे प्रतिभा के विलास को दिखाने के लिए कवि को अवसर मिलता है और **आख्यायिका** इसके विपरीत वह गद्यकाव्य है जिसका ऐतिहासिक आधार कोई न कोई अवश्य हो। कादम्बरी एक प्राचीन दन्तकथा या लोक-कथा के ऊपर आश्रित होने से स्पष्टत 'कथा' है और 'हर्षचरित' इतिहासप्रसिद्ध चरित तथा घटनाओ के वर्णन करने के कारण 'आख्यायिका' कहा जाता है।

जिस काव्य मे गद्य तथा पद्य का मिश्रण रहता है उसे चम्पूकाव्य कहते हैं। इस मिश्रण का उचित विभाग तो यही प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयो का वर्णन पद्य के द्वारा हो और वर्णनात्मक विषयो का विवरण गद्य के द्वारा हो, परन्तु चम्पू के लेखको ने इस तथ्य का अनुसरण तथा पालन अपने ग्रन्थो में समुचित रीति से नही किया। फलत. गद्य में वर्णित विषय का ही वर्णन कही-कही पद्यों के के द्वारा उपलब्ध होता है और कहीं-कही शुद्ध वर्णन ही पद्यो के द्वारा उपन्यस्त किये जाते हैं। सस्कृत में 'नलचम्पू', 'रामायण चम्पू', 'भारत चम्पू' आदि का एक विशाल साहित्य है। परन्तु हिन्दी में 'चम्पू' को लोकख्याति प्राप्त न हो सकी। चम्पू हिन्दी में होता ही नही, परन्तु कन्नड, तेलगु आदि द्राविडी भाषा के कवियो को 'चम्पू' काव्य प्रतिमा दिखलाने का एक अत्यन्त लोकप्रिय माध्यम है।

सप्तम परिच्छेद

(१) दृश्य-काव्य

काव्य के द्विविध भेदो का उल्लेख ऊपर किया गया है —श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य श्रवण के माध्यम द्वारा सामाजिक के हृदय को स्पर्श करता है और दृश्य काव्य नेत्र के माध्यम द्वारा दर्शक के हृदय को आकृष्ट करता है। दोनो का लक्ष्य है एक ही—सामाजिक का हृदयावर्जन, परन्तु इस लक्ष्य की सिद्धि के माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। श्रव्य काव्य में माध्यम श्रवण है और दृश्य काव्य में नेत्र। यह निर्विवाद सत्य है कि कानो से सुनी गई वस्तु की अपेक्षा नेत्रो के द्वारा देखी गई चीज़ विशेष रोचक होती और हृदय को अधिक खीचती है। इस कारण श्रव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होना उचित ही है।

रूपक की रमणीयता पर संस्कृत के आचार्यो ने बडी गम्भीरता से विमर्श किया है। दृश्य काव्य का सामान्य नाम है **रूपक** और 'नाटक' इसीका एक प्रधान अंग होता है। रूपक एक अलंकार होता है जिसमें एक वस्तु (जैसे मुख) के ऊपर तत्सदृश अन्य वस्तु (जैसे चन्द्रमा) का आरोप किया जाता है। इसी कारण दृश्य काव्य का भी नामकरण 'रूपक' पड गया है। नट तथा नटी राम तथा सीता की विभिन्न अवस्थाओ का रंगमंच के ऊपर अनुकरण करते हैं। वियोगी राम के समान नट भी सीता के विरह मे पञ्चवटी के वृक्षो से, लताओ से तथा पशुओ से सीता का समाचार पूछता हुआ चलता है तथा अपनी कला से राम की उस काल की अवस्था का अभिनय बडी सुन्दरता के साथ करता है। नटी भी अशोकवाटिका में रावण की राक्षसियो के द्वारा त्रस्त होनेवाली तथा आकाश से आग की चिनगारी माँगनेवाली सीता का अभिनय इतनी सफलता के साथ करती है कि दर्शको को इसका भान ही नही होता कि इनकी राम तथा सीता से पृथक् सत्ता है। अभिनय की कुशलता के कारण नट के ऊपर राम का तथा नटी के ऊपर सीता का आरोप दर्शक लोग स्वत करते हैं। इसीलिए

समारोप—ठीक-ठीक आरोप किये जाने—के कारण दृश्य काव्य को हम 'रूपक' के नाम से पुकारते हैं।

रूपक की रूपता

चाहे रूपक हो या महाकाव्य उनमें वर्णित या चित्रित घटनाओं का जब हम मानस प्रत्यक्ष करते हैं, तभी हमें अपने हृदय में आनन्द का बोध होता है और यही आनन्दबोध (या रसोन्मेष) तो काव्य का अन्तिम लक्ष्य ठहरा। श्रव्य काव्य में भी हम जीवन के साथ सम्पर्क रखते हैं, परन्तु यह सम्पर्क परोक्ष रूप से ही होता है, परन्तु दृश्य काव्य में हमारा सम्बन्ध वर्णित विषय के साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष होता है। समग्र घटनायें चित्रपट के समान नाना रंगों में हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं और हमारा हृदय आकृष्ट करती हैं। परिणाम यह होता है कि समग्र कथानक यथार्थ रूप से उपस्थित हो जाता है। उसमें अस्फुटता की कोई छाप रहती ही नहीं। इसीलिए चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण रूपक महाकाव्य की अपेक्षा सुन्दरतर माना जाता है।

इतना ही नहीं, रूपक की रमणीयता के विषय में एक अन्य गंभीर तर्क भी है। कवि की दृष्टि में नाटक उसकी प्रतिभा का सबसे श्रेष्ठ निदर्शन है। इसका कारण यह है कि वह नाटक के द्वारा स्वानुभूत आनन्द का दर्शकों के हृदय में बड़ी सरलता से संचार कर सकता है। और इस सुलभ संचरण का कारण है औचित्य। जिस काव्य में जितना ही औचित्य रहता है, वह उतनी ही मात्रा में श्रोता तथा दर्शक के हृदय में आनन्द का उद्बोधन कर सकता है। नाटक में औचित्य का सबसे अधिक अवलम्बन होता है। पात्र के वय के अनुसार ही उनका वेश रहता है। बालकृष्ण के माथे पर कलँगी सोहती है, तो बूढ़े नन्दबाबा के सिर पर पगड़ी। दोनों का वय जो भिन्न ठहरा। वेश के अनुरूप ही होता है गति का प्रचार और तदनुरूप होता है पाठ्य अर्थात् संवाद। तथा पाठ्य के अनुरूप ही अभिनय होता है। इस प्रकार नाटक में औचित्य की परम्परा बनाये रखी है। नाटक की नायिका वही 'प्राकृत' बोलती है जो वह अपने वास्तविक जीवन में तथा प्रतिदिन के व्यवहार में बोला करती है। यह जितना स्वाभाविक है, उतना उचित है। इधर श्रव्य काव्य में सब स्त्रीपात्र अपनी स्वाभाविक भाषा को छोड़कर 'संस्कृत' में बोलने के लिए बाध्य होते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार हम

नाटक में औचित्य का पूर्ण निर्वाह पाते है। स्वाभाविकता खुलकर यहाँ निवास करती है और इसलिए कर्ता की दृष्टि में अर्थात् कविपक्ष से रूपक में 'रसवत्ता' का बडा ही मधुर सन्निवेश रहता है।

सामाजिक की दृष्टि से भी नाटक की मनोज्ञता होती है। सामाजिक प्राय दो प्रकार का होता है। एक होता है सहृदय, जो काव्यकला के साथ गाढ़ परिचय तथा अभ्यास रखने के कारण कवि के हृदय के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है। दूसरा होता है 'अहृदय' जिसके हृदय में भावना की कथमपि प्रतीति नहीं होती। हम उन सहृदयो की बात नही करते जिनके स्वच्छ हृदय में काव्य अपना प्रतिबिम्ब सद्य डालते है और इसलिए जो कविता के पाठमात्र या श्रवणमात्र से ही रस की अनुभूति कर लेते है। रसानुभूति आवश्यक सामग्रियो की अपेक्षा रखती है। जब-तक ये विद्यमान न हो, तबतक दर्शक के हृदय मे आनन्द का उन्मेष नही होता। 'अहृदय' व्यक्तियो को तभी काव्य के पढने या सुनने से आनन्द आता है जब रसोपयोगी सामग्री को उसके हृदय में पैठने के लिए अवसर दिया जाय। बिहारीके—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
गाँठ परति दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

इस सरस दोहे पर वह कितना भी सर मारे, आनन्द नही आ सकता, जबतक इसके भीतर वर्तमान 'असगति' का खुलकर विवेचन उसके सामने न किया जाय। परन्तु नाटक में यह झमेला नही। रस के आस्वादन के लिए जिस उचित वातावरण की आवश्यकता होती है, वह रगमच पर उपस्थित पात्रो के वेप तथा सज्जा, परदो की चमक, रगमच की सजावट आदि के द्वारा तुरन्त उत्पन्न किया जाता है। भाषा की कठिनाई किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नही करती। हिन्दी के नाटको की बात जाने दीजिये। वहाँ तो भाषा के समझने में कोई विशेष कठिनाई नही होती। सस्कृत के नाटको के प्रति भी साधारण जनता के आकर्षण का रहस्य क्या है? 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक में—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥

की प्रस्तावना के साथ परदा हटता है और रथ पर, चढाये हुए धनुष को हाथ में लिया हुआ, राजकीय वेषभूषा से मण्डित राजा दुष्यन्त हरिन के पीछे दौडा

चला जाता है, तब बिना किसी व्याख्या के ही दर्शकों को समयोचित रस का आस्वादन होने लगता है। अनुकूल वातावरण के कारण से ही तो? यहाँ कल्पना को दौड़ाने की जरूरत नहीं होती। रस के उद्बोधन की समग्र सामग्री प्रस्तुत है रंगमंच के ऊपर—जंगल के सुहावने दृश्यों से चित्रित परदे, वेशभूषा से सुसज्जित राजा, तीखे दौड़नेवाले बेलगाम घोड़े तथा सामने भागनेवाला हरिन। बस, परदे के उठने की देर रहती है। रसास्वादन में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। अतः अहृदयों को सहृदय बनाने की भरपूर क्षमता नाटक में ही होती है। इसलिए संस्कृत के आचार्य डंके की चोट घोषित करते हैं—**काव्येषु नाटकं रम्यम्** अर्थात् काव्यों में नाटक ही रमणीय होता है। यह बात अनेक दृष्टियों से चरितार्थ है। जीवन की सत्यता को अनुभव की दृष्टि से, रसवत्ता से स्निग्ध होने की दृष्टि से, और रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से देखने पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि समग्र काव्य-प्रभेदों में रूपक सर्वथा अभिराम, हृदयंगम तथा रमणीय होता है। इसीलिए कविकुल गुरु कालिदास की यह उक्ति प्रशस्ति न होकर तथ्योक्ति है —

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

जगत् के प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है, कोई किसी चीज को पसन्द करता है, तो कोई किसी को। परन्तु नाटक की उपयोगिता के विषय में उन सबका एक मत है, क्योंकि भिन्न रुचि वाले प्राणियों के चित्त को नाना प्रकार से आवर्जन करने का एक ही साधन है और वह साधन है नाट्य।

(२) संस्कृत नाटक की विशिष्टता

संस्कृत नाटक की अनेक विशिष्टतायें इसे पश्चिमी साहित्य के नाटकों से स्पष्ट रूप से पृथक् करती हैं। एशिया के नाटकों पर, बृहत्तर भारत, जावा तथा सुमात्रा आदि देशों के नाटकों के ऊपर भी भारतीय नाटकों की अमिट छाप पड़ी है; इसे अब प्रमाणों के द्वारा पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। जावा का छायानाटक ('वयङ्ग') संस्कृत के छाया-नाटकों की छाया लेकर पुष्ट तथा समृद्ध हुआ है। भारतीय संस्कृति के प्रचार के साथ ही साथ भारतीय नाटकों का, कथाओं का तथा भारतीय महाकाव्यों का भी प्रचार इन देशों में सम्पन्न हुआ। इसका सुन्दर परिणाम यह है कि संस्कृत के नाट्यशास्त्र का अनुकरण केवल संस्कृत भाषा

के नाटको में ही नही होता, प्रत्युत इन पूर्वीय देशो के नाटको की रचना भी उसका अनुसरण बहुत अंश तक करती है।

(१) संस्कृत नाटकों मे हम संस्कृत के साथ प्राकृत भाषाओ का मनोरम मिश्रण पाते हैं। संस्कृत का नाटक लोक के व्यवहार को दृष्टि में रखकर निर्मित हुआ है और उस युग मे सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' थी। सामान्य रीति से संस्कृत समझने की योग्यता जनता मे पाई जाती थी, परन्तु व्यवहार में बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' थी और इसीलिए हम स्त्रियो तथा निम्न वर्गीय पात्रो को अपने भाषणो में प्राकृत भाषा का प्रयोग करते पाते हैं।

(२) आरम्भ से ही संस्कृत में नाटक 'अंकों' में विभक्त किये जाते हैं और एक अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रो का रङ्गमञ्च से बाहर चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटको में भी यही प्रथा है। नाटक का 'अंक' में विभाजन एक निराली चीज है जो यूनानी नाटको में नही पाई जाती। पाश्चात्य रूपको मे अंको का विभाजन रोमन लोगो का आविष्कार माना जाता है जो द्वितीय या तृतीय शती में ही प्रथम बार दृष्टिगोचर होता है, परन्तु भारत में तो यह विभाजन नाटक की मौलिक विशेषता है।

(३) संस्कृत के नाटक में **'अन्विति त्रयी'** का अभाव एक विलक्षण वस्तु है जो उसे यूनानी नाटको से सर्वथा पृथक् करती है। यूनानी नाटको में तीन प्रकार की 'अन्वितियाँ' (यूनिटीज) पाई जाती हैं—(क) **स्थलान्विति**=समग्र घटनायें नाटक में एक ही स्थान पर घटित होती हैं, (ख) **कालान्विति**=समस्त घटनायें एक ही काल में अर्थात् एक ही दिन के भीतर घटित होती हैं, (ग) **कार्यान्विति**= नाटक की समग्र घटनाओ का एक ही उद्देश्य तथा प्रयोजन होता है जिसका सम्पादन हर एक घटना के द्वारा उचित मात्रा में होता है। यूनान देश के आलोचक शिरोमणि अरस्तू का यह सिद्धान्त—'थ्री यूनिटीज' (अन्वितित्रयी) के नाम से विख्यात है जिसका पालन यूरोप के नाटको में, थोडी-थोडी मात्रा में, परन्तु फ्रेंच नाटको में, अक्षरश किया जाता था। 'कार्यान्विति' तो नाटक का मूलभूत तत्त्व है जिसके बिना नाटक अपने एकत्व तथा उद्देश्य को ही सिद्ध नही कर सकता। इसका अनुपालन प्रत्येक नाटक के लिए अनिवार्य होता है और इसलिए संस्कृत के नाटको में यह पूर्णतया वर्तमान है, परन्तु अन्य दोनो अन्वितियाँ यहाँ देखने को भी नही मिलती।

(४) नाटकीय पात्रों में 'विदूषक' एक निराला पात्र है जिसके जोड़ का पात्र यूनानी नाटकों में नहीं मिलता। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं होता है। विदूषक अपनी उपस्थिति से नाटक को रूखा-सूखा, नीरस तथा फीका होने से अवश्य बचाता है परन्तु वह नायक को अनेक कार्यों में, विशेषतः प्रणय-प्रसङ्ग में, बड़ी सहायता पहुँचाता है। मध्य-कालीन यूरोपीय नाटकों में 'फूल' (मूर्ख) नामक एक पात्र अवश्यमेव प्रयुक्त होता था, परन्तु वह निरा हास्य का उपादान होता था। उसके विपरीत, संस्कृत के नाटकों में 'विदूषक' बहुत ही उपयोगी, उपादेय तथा सरस पात्र है।

(५) संस्कृत के नाटकों में आदर्शवादी वातावरण उपस्थित करने में कवि व्यस्त रहता है। भारतीय ललितकला के समान ही संस्कृत नाटक दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना, कमनीयता की कोमल अभिव्यक्ति डालने में तथा रस की अनुभूति कराने में ही अपने को कृतार्थ समझता है। इसीलिए भावों के अभि-व्यञ्जक गीतात्मक पद्य ही नाटकों के सर्वस्व होते हैं जिनके द्वारा दर्शकों के गुप्त भावों का उद्बोधन नाट्यकर्ता बड़ी सुगमता के साथ करता है। पाश्चात्य नाटकों के समान 'संवाद' को सजाने तथा विकसित करने तथा 'चरित्र' के विश्लेषण की ओर हमारे नाटकों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रवृत्ति के कारण संस्कृत नाटकों में चित्रित पात्र 'परम्पराप्रयुक्त' होते हैं और अपने अपने समाज के प्रतिनिधि (टाइप) होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत नाटकों के पात्र वैयक्तिकता से मण्डित नहीं होते, परन्तु उन्हें 'प्रतिनिधि' रूप से दिखलाने का ही अधिकतर प्रयत्न दृष्टि-गोचर होता है। संस्कृत नाटक का वातावरण नितान्त सभ्य, शिष्ट तथा उदात्त होता है और इसीलिए अश्लीलता, घृणा तथा कुरुचि उत्पादक दृश्य रंगमंच के ऊपर कभी दिखलाये ही नहीं जाते—जैसे आलिङ्गना, युद्ध तथा वध, भोजन तथा स्नान, शयन तथा अनुलेपन आदि। आदर्शवादी तथा शिष्ट संस्कृत नाटक के लिए इन कुरुचिपूर्ण घटनाओं का निषेध भूषण है, दूषण नहीं।

(६) संस्कृत का नाटक कभी 'दुःखान्त' नहीं होता। उसका अन्त सदा ही शोभन घटनाओं में, पुनर्मिलन में, मैत्री में तथा विरोध के उपशमन में होता है। यूनानी नाटकों में 'ट्रैजिडी' ('विषाद' का दुःखान्त नाटक) ही सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है, और संस्कृत में उसका सर्वथा अभाव!!! इस कमी के कारण आलोचकों का ऐसा प्रहार होता आया है कि संस्कृत का नाटक एकाङ्गी है, अपूर्ण है, [illegible]

है; वह जीवन के सुखपक्ष का ही व्याख्याता है और दु खपक्ष की अवहेलना करने से वह जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण नही माना जा सकता। यह आलोचना वस्तुत भारत की सस्कृति, दार्शनिक विचार तथा कलात्मक दृष्टि से नितान्त अपरिचित होने से एकदम भ्रान्त है।

भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ मन्तव्य है कि जीवन का पर्यवसान सदा ही आनन्द का निकेतन होता है। मार्ग मे भले ही नाना प्रकार के विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने पडते हो, परन्तु गन्तव्य स्थान सदा आनन्दमय होता है। क्लेश का जीवन में आगमन कभी स्थायी नही होता। वह अपनी स्थिति से मानव के हृदय को दृढ तथा सहनशील बनाकर उसके जीवन को अधिक सरस तथा उपभोगयोग्य बनाता है। भारतीय जीवन दर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय सयोग सस्कृत नाटक को दु खान्त होने से बचाता है। भारतीय सस्कृति के अनुसार जीवन में सुव्यवस्था का राज्य है; अव्यवस्था, क्लेश या दु ख केवल ऊपरी सतह के ऊपर ही तैरते दीखते हैं। भीतर प्रवेश करने पर शीतल जल की धारा उसे सदा आप्यायित करती है। भौतिक घटनाओ का दु खद सघर्ष सर्वथा प्रयोजनहीन नही होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास मे कारणभूत बनता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दु ख तथा क्लेश को ही आत्यन्तिक वस्तु नही मानता, प्रत्युत वह उसे जीवन को अग्रसर करने तथा पूर्णता पर पहुँचाने का एक साधन मानता है जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणप्रद ही होता है।

कलात्मक दृष्टि का अनुशीलन नाटक के सुखान्त होने का अन्यतर हेतु है। कला का मुख्य लक्ष्य 'सत्य शिव सुन्दर' का उदय है। कला अपने साधक को सर्वदा ही सत्य, सुन्दर तथा शिव (कल्याण) की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास ठहरा। फलत उसे 'शिवान्त' या 'सुखान्त' होना ही स्वाभाविक रीति से उचित है।

ऐसी दशा में सस्कृत के नाटको में दु:ख का, और कमजोरियो का चित्रण क्या नही होता? इन विषयो के चित्रण से विरहित होने से क्या वह कभी पूर्ण तथा उपयोगी माना जा सकता है? इन प्रश्नो के उत्तर में निवेदन है कि चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के आदि मे अथवा मध्य में, अन्त में नही। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' से बढकर मानव क्लेश,

वेदना तथा परिताप का चित्रण करनेवाला दूसरा नाटक हो नहीं सकता। कवि ने राम तथा सीता के हृदय को क्षुभित करनेवाली नितान्त वेदनापूर्ण घटनायें नाटक के तृतीय तथा पंचम अंक में दिखलाई हैं जिन्हें देखकर वज्र का भी कलेजा फट जाता है तथा पत्थर भी रो उठता है (अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्), तथापि भवभूति ने राम तथा सीता का पुनर्मिलन दिखलाकर अपने नाटक को जो सुखान्त बनाया है वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यञ्जना है, भारतीय आशावादिता का एक मञ्जुल प्रतीक है जो जीवन को पूर्ण, मधुर तथा सामञ्जस्य-पूर्ण बनाता है। वाल्मीकि की दृष्टि में ऐतिहासिक रीत्या राम तथा सीता का आत्यन्तिक वियोग भले ही सिद्ध हो, परन्तु 'नाटकीय नैतिकता' की दृष्टि से सीता जैसी पवित्रात्मा का अपने पति से तथा प्रजारञ्जन के लिए सर्वस्व निछावर करनेवाले राजा राम का अपनी पत्नी से अन्तिम मिलन उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। यह वैशिष्ट्य वाह्यकला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक 'दर्शन' के ऊपर आश्रित है।

(३) नाटक तथा लोक-वृत्त

लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्थायें ही एकाकार होती हैं। किसी व्यक्ति को हम सांसारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते हैं तो किसी को दुःख के अन्धकारपूर्ण गर्त में अपने भाग्य को कोसते हुए मग्न पाते हैं। सुख तथा दुःख, हर्ष तथा विषाद, प्रसन्नता तथा उदासीनता—नाना प्रकार की मानसिक विकृतियों की विशाल परम्परा को ही सज्ञा संसार है। जगतीतल पर प्राणियों के मानस भावों में हम इतनी विचित्रता पाते हैं कि जगत् के वैचित्र्य का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोक-वृत्त का अनुकरण नाट्य है। नाट्य के 'त्रैलोक्यानुकृति' कहलाने का यही तात्पर्य है।

लोक के ऊपर नाट्य की प्रतिष्ठा इतनी अधिक है कि भरत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अभिनय या नाट्यप्रयोग की सफलता के निर्णय का अन्तिम निकष संसार ही है। मानव स्वभाव की विचित्रता, लोक तथा प्रकृति की गतिविधि जानना प्रत्येक नाटक के रचयिता और अभिनेता का मुख्य कार्य होना चाहिये। लोक-स्वभाव का अज्ञान नाट्यप्रयोग की असफलता का प्रधान कारण है। नाट्य

है; वह जीवन के सुखपक्ष का ही व्याख्याता है और दु खपक्ष की अवहेलना करने से वह जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण नही माना जा सकता। यह आलोचना वस्तुत भारत की सस्कृति, दार्शनिक विचार तथा कलात्मक दृष्टि से नितान्त अपरिचित होने से एकदम भ्रान्त है।

भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ मन्तव्य है कि जीवन का पर्यवसान सदा ही आनन्द का निकेतन होता है। मार्ग में भले ही नाना प्रकार के विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने पडते हो, परन्तु गन्तव्य स्थान सदा आनन्दमय होता है। क्लेश का जीवन में आगमन कभी स्थायी नही होता। वह अपनी स्थिति से मानव के हृदय को दृढ तथा सहनशील बनाकर उसके जीवन को अधिक सरस तथा उपभोगयोग्य बनाता है। भारतीय जीवन दर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय सयोग सस्कृत नाटक को दु खान्त होने से बचाता है। भारतीय सस्कृति के अनुसार जीवन में सुव्यवस्था का राज्य है, अव्यवस्था, क्लेश या दु ख केवल ऊपरी सतह के ऊपर ही तैरते दीखते हैं। भीतर प्रवेश करने पर शीतल जल की धारा उसे सदा आप्यायित करती है। भौतिक घटनाओ का दु खद सघर्ष सर्वथा प्रयोजनहीन नही होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास में कारणभूत बनता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दुःख तथा क्लेश को ही आत्यन्तिक वस्तु नही मानता, प्रत्युत वह उसे जीवन को अग्रसर करने तथा पूर्णता पर पहुँचाने का एक साधन मानता है जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणप्रद ही होता है।

कलात्मक दृष्टि का अनुशीलन नाटक के सुखान्त होने का अन्यतर हेतु है। कला का मुख्य लक्ष्य 'सत्य शिव सुन्दर' का उदय है। कला अपने साधक को सर्वदा ही सत्य, सुन्दर तथा शिव (कल्याण) की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास ठहरा। फलत उसे 'शिवान्त' या 'सुखान्त' होना ही स्वाभाविक रीति से उचित है।

ऐसी दशा में सस्कृत के नाटको में दु ख का, और कमजोरियो का चित्रण क्या नही होता? इन विषयो के चित्रण से विरहित होने से क्या वह कभी पूर्ण तथा उपयोगी माना जा सकता है? इन प्रश्नो के उत्तर में निवेदन है कि चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के आदि में अथवा मध्य में, अन्त में नही। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' से बढकर मानव क्लेश,

वेदना तथा परिताप का चित्रण करनेवाला दूसरा नाटक हो नहीं सकता। कवि ने राम तथा सीता के हृदय को क्षुभित करनेवाली नितान्त वेदनापूर्ण घटनायें नाटक के तृतीय तथा पंचम अंक में दिखलाई हैं जिन्हें देखकर वज्र का भी कलेजा फट जाता है तथा पत्थर भी रो उठता है (**अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्**), तथापि भवभूति ने राम तथा सीता का पुनर्मिलन दिखलाकर अपने नाटक को जो सुखान्त बनाया है वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यञ्जना है, भारतीय आशावादिता का एक मञ्जुल प्रतीक है जो जीवन को पूर्ण, मधुर तथा सामञ्जस्य-पूर्ण बनाता है। वाल्मीकि की दृष्टि में ऐतिहासिक रीत्या राम तथा सीता का आत्यन्तिक वियोग भले ही सिद्ध हो, परन्तु 'नाटकीय नैतिकता' की दृष्टि से सीता जैसी पवित्रात्मा का अपने पति से तथा प्रजारञ्जन के लिए सर्वस्व निछावर करनेवाले राजा राम का अपनी पत्नी से अन्तिम मिलन उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। यह वैशिष्ट्य बाह्यकला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक 'दर्शन' के ऊपर आश्रित है।

(३) नाटक तथा लोक-वृत्त

लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्थायें ही एकाकार होती हैं। किसी व्यक्ति को हम सांसारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते हैं तो किसी को दुःख के अन्धकारपूर्ण गर्त में अपने भाग्य को कोसते हुए मग्न पाते हैं। सुख तथा दुःख, हर्ष तथा विषाद, प्रसन्नता तथा उदासीनता——नाना प्रकार की मानसिक विकृतियों की विशाल परम्परा की ही संज्ञा संसार है। जगतीतल पर प्राणियों के मानस भावों में हम इतनी विचित्रता पाते हैं कि जगत् के वैचित्र्य का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोक-वृत्त का अनुकरण नाट्य है। नाट्य के 'त्रैलोक्यानुकृति' कहलाने का यही तात्पर्य है।

लोक के ऊपर नाट्य की प्रतिष्ठा इतनी अधिक है कि भरत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अभिनय या नाट्यकला की सफलता के निर्णय का अन्तिम निर्देश संसार ही है। मानव स्वभाव की विचित्रता, लोक तथा प्रकृति को भलीभाँति जानना प्रत्येक नाटक के रचयिता और अभिनेता का मुख्य कार्य होना चाहिये। लोक-स्वभाव का अज्ञान नाट्यकला की असफलता का प्रधान कारण है। नाट्य

का 'प्राण' लोक ही है। नाट्य मे कितनी वस्तुएँ ग्राह्य हैं और वर्ण्य हैं ? कितना अभिनय अभिनन्दनीय है और कितना निन्दनीय ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर 'लोक' से ही प्राप्त होता है। नाट्य सिद्धान्त का प्रतिपादक पण्डित कतिपय नियमो का ही अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन कर सकता है। इतने विस्तृत और व्यापक नियमो की जानकारी के लिए वह लोक की ओर अपनी उँगली का निर्देश कर देता है। नाट्य-शास्त्र ने इस तथ्य का निर्देश अनेक बार किया है। भरतमुनि के शब्दो मे —

लोक-सिद्धं भवेत् सिद्ध नाट्यं लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्य-प्रयोगे तु प्रमाण लोक इष्यते ॥११३॥
(नाट्यशास्त्र २६)

लोक से सिद्ध वस्तु सुतरा सिद्ध होती है। नाटक लोक के स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिए नाट्य के प्रयोग में प्रमाणभूत यदि कोई वस्तु है तो वह 'लोक' ही है। नाट्य का स्वभाव ही तो लोकचरित का अनुकरण है —

लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम् ।
तदङ्गाभिनयोपेत नाट्यमित्यभिसंज्ञितम् ॥११५॥
(नाट्यशास्त्र २६)

ऐसी वस्तुस्थिति में लोक की जो वार्ता नाना अवस्थाओ से समन्वित रहती है उसका सविधान नाटक मे अवश्य करना चाहिये। जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प, जो क्रियायें लोकधर्म में प्रवृत्त होती हैं उनका कीर्तन ही तो 'नाट्य' कहलाता है। स्थावर तथा जगम जगत की चेष्टाएँ इतनी विचित्र, विपुल तथा विविधरूप हैं, उनके भाव इतने सूक्ष्म तथा गूढ हैं कि इनका निर्णय करना शास्त्र की क्षमता के वाहर है। प्रकृति अर्थात् जगत् के प्राणियो के शील नाना प्रकार के होते हैं। यही शील नाट्य का प्रतिष्ठापीठ है। ऐसी दशामें शील का यथार्थ अभिनय नाटक में किस प्रकार किया जाय ? यही एक विषम प्रश्न है। इसका उचित उत्तर है— लोक का प्रामाण्य। लोक ही नाट्य का प्रमाण है।[1] इसीलिए भरतमुनि का आदेश

१—नानाशीला. प्रकृतय शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात् लोकप्रमाण हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥११९॥
(नाट्यशास्त्र अध्याय २६)

है कि जिन नियमों का निर्देश नाट्य-ग्रन्थों में नहीं दिया गया है उनका ग्रहण लोक से करना चाहिये।[1]

इस लोक प्रामाण्य के तत्त्व का भरत ने अपने ग्रन्थ में बड़े विवेक के साथ पालन किया है। नाट्य-प्रयोग में भरत ने इसलिए दो प्रकार के धर्मी माने हैं—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी। 'लोकधर्मी' से अभिप्राय उन धर्मों से है जो लोक-सिद्ध हैं तथा जिनका ग्रहण करने के लिए अभिनय में अतीव समीचीन है। 'नाट्य-धर्मी' का तात्पर्य नाट्य में प्रयुक्त होनेवाली अनेक परम्परागत वस्तुओं से है। लोक धर्मी का सिद्धान्त नाट्य में यथार्थवाद का पोषक है, तो नाट्यधर्मी का तथ्य नाट्य में आदर्शवाद तथा माननीय रूढ़ियों का प्रतिपादक है। मान्य दोनों हैं। इस तथ्य की दृष्टि से उन्होंने 'प्रकृति' का विचार किया है। उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से त्रिविध प्रकृति के गमन, स्थान तथा आसन का विधान नाट्य-शास्त्र के त्रयोदश अध्याय में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। आहार्य अभिनय के अवसर पर भरत ने नाटकीय पात्रों की वेश-भूषा सज्जा आदि की रचना का विवरण बड़ी विवेचना से किया है। रंगमंच के ऊपर नाना अवस्था के, नाना प्रकार के पात्र लाये जाते हैं। कभी स्त्रियाँ भी पुरुषों की भूमिका में अवतीर्ण होती हैं। और कभी पुरुष स्त्रियों की भूमिका में उपस्थित होते हैं। इन दोनों का आहार्य अभिनय एक प्रकार नहीं हो सकता। लोक के आदर्श पर यह नेपथ्य-विधान सम्पन्न किया जाता है। भरत ने भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए विभिन्न पाठ्य का निर्देश किया है (ना० शा० १९ अध्याय) प्रकृति के अनुरूप भाषा का विधान होता है (१९ तथा १८ अ०) पुरुषपात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं तथा स्त्रीपात्र प्राकृत भाषा का।

परन्तु पात्रों की योग्यता तथा सामाजिक स्थिति के अनुरूप प्राकृत भाषाओं में भी भिन्नता होती है। पाठ्य-विधान के भी नियम होते हैं। नाटक की रचना को लक्ष्य कर भरत ने कवियों को आदेश दिया है कि रस तथा भाव के अनुरूप माधुर्य, ओज आदि गुणों का तथा उपमा, रूपक, दीपक और अनुप्रास—इन चार अलंकारों का सन्निवेश उन्हें नाटक में करना चाहिये। अभिनय का मुख्य लक्ष्य दर्शकों के हृदय में रस की अनुभूति उत्पन्न करना है। यदि दर्शकों का मन रस के आनन्द से उल्लसित नहीं होता तो वह अभिनय केवल प्रदर्शनमात्र है, वह नाटकीय वस्तु नहीं। इन

१—नोक्तानि च मया यानि लोकग्राह्याणि तान्यपि। ना० शा० २४।२१४

रसोन्मेष की ओर नाट्य का समग्र सविधानक अग्रसर होता है। इसी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाट्य के समस्त अग जागरूक रहते हैं। अभिनय, प्रकृति, पाठ्य, छद, अलकार स्वर, सगीत-नाट्य की इस विशाल सामग्री का अवसान दर्शको के हृदय में तद्रूप रस-भाव का उन्मीलन कराना ही होता है। रस को अवलम्बन मानकर ही भरत ने गुण दोष की व्यवस्था की है। गुण वही है जो रस के अनुगुण हो और दोष वही होता है जो रस के प्रतिकूल हो। रसोन्मीलन में सहायक 'गुण' हैं और रसोन्मीलन के अपकर्षक दोष। समग्र अग इसी मन्त्र को सिद्ध करने के लिए विरचित होते हैं।

(४) नाटक के तत्त्व

रूपको की भिन्नता तीन तत्त्वो पर निर्भर होती हैं—(१) वस्तु, (२) नेता, (३) रस। वस्तु से अभिप्राय है कथानक या नाटकीय आख्यान, इतिवृत्त। अधिकारी, अभिनय तथा सवाद आदि के भेद से वस्तु के अनेक भेद हो सकते हैं।

वस्तु के भेद

(क) सस्कृत के आचार्यो ने अधिकारी की दृष्टि से वस्तु के दो भेद किये हैं—**आधिकारिक और प्रासंगिक**। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक 'अधिकारी'। अधिकारी से सम्बन्ध रखनेवाली कथा 'आधिकारिक' कहलाती है। वह तो नाटक की मुख्य कथा होती है, परन्तु नाटक में ऐसी अन्य भी कथायें हुआ करती हैं जो गौण हुआ करती हैं और विशेष स्थिति में मूल कथा को सहायता पहुँचाया करती हैं। इन्हें ही **प्रासगिक** कथा कहते हैं। ये प्रासगिक कथायें भी दो प्रकार की हो सकती हैं—बडी कथा जो दूरतक चलती रहती हैं और मूल कथा में बहुत ही अधिक सहायता और योग दिया करती हैं और छोटी-छोटी कथायें जो किसी विशेष अवसर पर आकर और मुख्य कथा की सहायता कर समाप्त हो जाती हैं। इनमें से पहिली को **'पताका'** तथा दूसरी को **'प्रकरी'** कहते हैं।

एक उदाहरण लीजिये। राम कथा के ऊपर विरचित नाटक सस्कृत में बहुत ही अधिक हैं। इनमें राम तथा रावण का युद्ध ही 'आधिकारिक' वस्तु है। सुग्रीव का चरित नाटक के लिए बहुत ही जरूरी होता है और बहुत दूर तक मूल कथा का अनुवर्तन भी करता है। फलत उसे 'पताका' के नाम से हम पुकारते हैं। 'श्रवणा'

नामक तापसी का वृत्तान्त अत्यन्त अल्प है और मूल कथा का सामान्यत सहायक है। अत वह 'प्रकरी' कहा जावेगा।

(ख) अभिनय के विचार से कथायें दो प्रकार की होती हैं—वाच्य तथा सूच्य। ऊपर जिसका विचार किया गया है वह कथा 'वाच्य' कहलाती है। नाटक मे समग्र घटनाओं के प्रदर्शन की आवश्यकता नही होती। कार्य की सिद्धि के लिए उनमें परिष्कार करना, काट-छाँट करना आवश्यक होता है। जो घटनायें कार्य की सिद्धि से सीधा लगाव या सम्बन्ध नही रखतीं, उन्हे काट-छाँटकर अलग करना तो पड़ता है, परन्तु कथा को अखण्ड बनाये रखने के लिए उनकी सूचना तो अवश्य ही दी जाती है। ऐसी ही घटनायें 'सूच्य' कहलाती हैं। इन्हीं का शास्त्रीय नाम है—अर्थोपक्षेपक जो सख्या मे पाँच होते हैं—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अकावतार, (५) अकास्य। इनका थोडा परिचय यहाँ दिया जाता है।

अर्थोपक्षेपक

(१) जो घटनायें अतीत हो गई और जो घटनायें अभी भविष्य में आनेवाली है उन दोनों की सूचना देनेवाला अश 'विष्कम्भक' कहलाता है और इनके सूचक मध्यम श्रेणी के पात्र होते है। (२) प्रवेशक में भी घटनाओं की सूचना पूर्ववत् दी जाती है, परन्तु इसमें सूचक पात्र अधम श्रेणी का ही होता है जैसे नौकर, नौकरानी आदि। नीच पात्रों से युक्त होने के कारण नाटक के आरम्भ मे, (प्रथम अक के आदि में) प्रवेशक का प्रयोग नही होता। विष्कम्भक कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है। नाटक के आरम्भ मे भी इसका प्रयोग वर्जनीय नही है। विष्कम्भक के दो भेद होते है—शुद्ध तथा मिश्र। 'शुद्ध विष्कम्भक' में सभी पात्र मध्यमश्रेणी के तथा संस्कृत बोलनेवाले होते हैं। 'मिश्र विष्कम्भक' में मध्यमश्रेणी तथा निम्न श्रेणी दोनों के पात्रों का मिश्रण होता है और प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है। प्रवेशक भी, विष्कम्भक के समान ही, सूचक होता है। इसके समग्र पात्र निम्न श्रेणी के होते है और प्राकृत भाषा बोलते हैं। इन दोनों के उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में मिलते हैं। इसके चतुर्थ अक मे कण्व का शिष्य आता है और कण्व के आश्रम में लौट आने की सूचना देता है। यह 'शुद्ध विष्कम्भक' का उदाहरण है। षष्ठ अंक के आरम्भ में हम मछुए को पकड़कर दो पुलिसों को लाते हुए पाते है। यह नीच पात्रों के द्वारा संपन्न होने के कारण 'प्रवेशक' का दृष्टान्त है।

(३) जहाँ परदे के भीतर से पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है वहाँ **'चूलिका'** होती है, जैसे त्तर–रामचरित के द्वितीय अक के आरम्भ में तपोवना का प्रवेश परदे के भीतर से सूचित किया जाता है।

(४) यदि किसी अक के अन्त में पात्रो के द्वारा किसी ऐमी वात की सूचना दी जाय जिससे अगले अक का आरम्भ होता है तो उसे **'अंकास्य'** या अकमुख कहते हैं। जैसे वीरचरित के द्वितीय अक के अन्त मे।

(५) जहाँ प्रथम अक की वस्तु का विच्छेद किये विना दूसरे अक की वस्तु आरम्भ हो, वहाँ **अकावतार** होता है अर्थात् जव प्रथम अक के पात्र किसी वात की सूचना दें तथा वे ही पात्र उसी कयावस्तु को लेकर अगले अक में भी प्रवेश करें, तव इसे 'अकावतार' कहते हैं। जैसे 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अक के अन्त में।

नाटको में वहुत सी बातें वर्ज्य मानी जाती हैं। उनका प्रदर्शन गमच के ऊपर नही होता। वे भी किसी-न-किसी प्रकार 'सूच्य' ही की जाती हैं जैसे दूर से वोलना, वध, युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन, मृत्यु, रमण आदि। इसी प्रकार की अन्य लज्जाकारी बातें, शयन, अवर-चुम्वन, नगर का घेर लेना, स्नान, चन्दन आदि का लेप तथा किसी वात का अति विस्तार भी गमच के ऊपर निषिद्ध माना जाता है और इसलिए ये भी 'ससूच्य' कोटि में आते हैं।

(ग) सवाद के विचार से भी कथा के विभाग किये जाते हैं। ये तीन होते हैं— सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति को यदि रगशाला में उपस्थित सब पुरुष सुनें, तो इसे **सर्वश्राव्य** कहते हैं। और यदि उनमें से कुछ ही लोग सुनें, तो इसे **'नियतश्राव्य'** कहते हैं। यदि कहनेवाला ही पात्र अपनी उक्ति सुनता है और दूसरे लोग उसे नही सुनते हैं या उनके सुनने के अधिकारी नही होते हैं, तो इसे **'अश्राव्य'** कहते हैं। इस अश्राव्य को ही 'स्वगतकथन' कहा जाता है। 'नियतश्राव्य' के दो भेद होते हैं—जनान्तिक और अपवारित। इस प्रकार सस्कृत के नाटयशास्त्री विद्वान् इस बात पर भी गहरा विचार करते थे कि यह उक्ति सवके सुनने योग्य है या नही, परन्तु आजकल की दृष्टि से 'सर्वश्राव्य' को छोडकर शेष दोनों भेद उपयोगी नही माने जाते। यदि स्वगतकथन की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की वात व्यक्त करते दिखलाई

पड़ता है जब रंगमंच के ऊपर उसे छोड़कर दूसरा पात्र उपस्थित नहीं रहता। इस-लिए इसे 'एकांत कथन' (सॉलिलॉकी) कहते हैं।

इस प्रकार संस्कृत के नाट्यकर्ताओं ने नाना दृष्टियों से नाटक के कथानक (या वस्तु) का विचार प्रस्तुत किया है। अब उसके विकास तथा परिवर्धन के नियम के विषय में ज्ञातव्य बातें संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं।

(५) पञ्च सन्धि

अवस्था-पञ्चक

लोक में जिस प्रकार कार्य की स्पष्ट पांच अवस्थायें होती हैं, नाटक में भी ठीक इसी प्रकार और इतनी ही अवस्थायें होती हैं। मान लीजिए किसी छात्र ने अपने जीवन का लक्ष्य एम० ए० परीक्षा में सफलता को मान रखा है। उस कार्य की पहिली दशा में वह छात्र अपने कार्य की सिद्धि के लिए उत्सुकता दिखलाता है। उसके हृदय में तीव्र इच्छा जागती है कि वह परीक्षा को पासकर अपने जीवन को कृतकृत्य बनावे। यह दशा 'आरम्भ' कहलाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार का व्यापार करता है। वह अपना घर छोड़कर महा-विद्यालय में पढ़ता है, घोर अध्यवसाय करता है और अन्त में एम० ए० की परीक्षा देता है। ये सब व्यापार उसके प्रयत्न के सूचक हैं। यह उसकी दूसरी दशा है जो 'यत्न' के नाम से पुकारी जाती है। परीक्षा देने पर उसे पता चलता है कि कुछ प्रश्नों का उत्तर तो वह ठीक-ठीक दे सका है, परन्तु कुछ के उत्तर बिल्कुल ठीक होने में उसे सन्देह रहता है। इसलिए उसे फल की प्राप्ति की आशा बनी रहती है। यह तीसरी दशा है—प्राप्त्याशा जहां फल के होने की सम्भावना तो रहती है, किन्तु वह अपाय (विघ्न) तथा उपाय दोनों की आशंकाओं से घिरी रहती है। अनंतर उपाय करने से जब विघ्नबाधायें हट जाती हैं और उसे विश्वास हो जाता है कि परीक्षाफल अच्छा ही होगा तब उस कार्य की चौथी दशा होती है—नियताप्ति जिसमें विरुद्ध बातों के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति आ जाती है। जब उसका नाम गजेट में निकल आता है, वह पास हो जाता है और उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता है, तब फल की प्राप्ति होने से कार्य की अन्तिम दशा होती है जिसका पारिभाषिक नाम 'फलागम' है।

यही बात नाटक के कथानक के विषय में भी लागू होती है। नाटक के आदि से लेकर अन्ततक कथानक या कथावस्तु की पूर्वोक्त पाँच अवस्थायें होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। कार्य की दशा का यह विश्लेषण नितान्त सुन्दर तथा व्यावहारिक है तथा यह विश्लेषण गूढ मनोवैज्ञानिकता का पर्याप्त सूचक है। यह दिखलाता है कि मानव को अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नाना विरोधी घटनाओ के साथ सघर्ष करना पडता है। वह सीधे ढग से अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकता, वल्कि रास्ते में आनेवाले विघ्नो को कुचलना तथा पददलित करना उसका आवश्यक कार्य होता है। इस प्रकार नाटक के कथानक मे 'सघर्ष' अवश्य रहता है। यह सघर्ष—विरुद्ध घटनाओ का आपस में रगड खाना तथा अपनी प्रभुता जमाने का भाव—नाटक की कथा में वहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह सघर्ष वाहरी घटनाओ मे होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु मानसिक वृत्तियो में भी जब सघर्ष दृष्टिगोचर होता है, तब वह सूक्ष्म रूप धारण करता है। सघर्ष जितना ही सूक्ष्म होगा, वह नाटक भी उतना ही प्रभावशाली, अन्तरग तथा प्रख्यात होगा। कालिदास तथा भवभूति के नाटको की प्रसिद्धि इसी कारण से है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कालिदास ने काम तथा धर्म का, कर्तव्य तथा स्नेह का परस्पर सघर्ष दिखलाया है तथा अन्त में धर्म की विजय होने में नाटक का महत्त्व तथा औदार्य परिस्फुटित होता है।

अर्थप्रकृति

फलरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अवान्तर घटनायें मिलकर व्यापार करती हैं और तब कही जाकर फल की सिद्धि होती है। इन्हें **अर्थप्रकृति** कहते हैं। 'अर्थ' का तात्पर्य है प्रयोजन या वस्तु का फल और 'प्रकृति' का अर्थ है कारण या हेतु। ये प्रयोजन की सिद्धि के कारण होते हैं और इसीलिए इनका नाम 'अर्थ-प्रकृति' है। ये पाँच प्रकार के होते हैं—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य।

फल के प्रथम हेतु को **बीज** कहते हैं। जिस प्रकार वृक्ष से फल पाने के लिए छोटा सा बीज जरूरी होता है, उसी प्रकार यह बीज भी होता है जो आरम्भ में वहुत ही छोटा है परन्तु आगे चलकर अनेक रूपो में विस्तार को पा लेता है। अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर जो घटना उसे प्रधान कथा के साथ जोडनेवाली होती है उसे जोड देने के हेतु को **'विन्दु'** कहते हैं। यह विन्दु उसी प्रकार नाटक में फैला दिखलाई

पडता है जिस प्रकार पानी के ऊपर तेल का बूंद। इसे 'बिन्दु' के नाम से पुकारने का यही रहस्य है। पताका तथा प्रकरी का लक्षण गत पृष्ठों में किया गया है। वह साध्य जिसकी सिद्धि के लिए नाटक में समग्र सामग्री एकत्र की जाती है 'कार्य' कहलाता है। अर्थ-प्रकृति के साथ पूर्वनिर्दिष्ट 'अवस्थापञ्चक' की तुलना करने पर दोनों के रूपों में भेद स्पष्टतया प्रतीत होता है। 'अर्थप्रकृति' तो भौतिक विभाजन है जिसका सम्बन्ध कथावस्तु से ही है। इनके होने पर नाटक का रूप या ढांचा खड़ा हो जाता है। परन्तु अवस्थाओं का सम्बन्ध, जैसा हमने उदाहरणों में दिखलाया है, नायक की मानसदशा से होता है। कार्य की सिद्धि के निमित्त नायक की मानसिक प्रवृत्ति का विश्लेषण इस 'अवस्थापञ्चक' में किया गया है।

सन्धिपञ्चक

'सन्धि' का अर्थ होता है जोड़। कोई भी वस्तु बिना जोड़ों के नहीं होती। अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर वह समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप में हमारे नेत्रों के सामने आता है। नाटक भी ऐसा ही एक समन्वित पदार्थ है जिसमें पांच सन्धियां होती हैं। सन्धि का सामान्य लक्षण दशरूपक में इस प्रकार का है—

अन्तरैकार्थसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति।

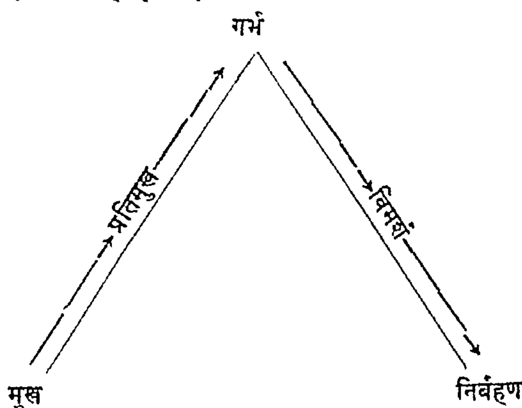
अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथांशों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहलाता है। इसमें पूर्ववर्णित अर्थप्रकृतियों या कार्य के अवस्थापञ्चक के साथ क्रमशः योग या सम्बन्ध होता है जिससे पांच सन्धियां उत्पन्न होती हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) अवमर्श या विमर्श तथा (५) निर्वहण (या उपसंहार)। बीज तथा आरम्भ को मिलानेवाली सन्धि को, जिसमें बहुत से रसों की सम्भावना होती है, मुखसन्धि कहते हैं। बिन्दु तथा यत्न को मिलानेवाली सन्धि 'प्रतिमुख' होती है जिसमें मुखसन्धि में उत्पन्न बीज कभी लक्षित होता है और कभी अलक्षित रहता है। जिस सन्धि में उपाय कहीं दब जाय और उसकी खोज करने के लिए बीज का और भी विकास हो उसे गर्भसन्धि कहते हैं। इसमें प्राप्त्याशा तथा पताका का योग होना चाहिए। इनमें से 'पताका' की आवश्यकता सर्वत्र नहीं रहती—कहीं वह विद्यमान रहती है और कहीं नहीं। परन्तु प्राप्त्याशा का तो होना एकदम निश्चित

है। इसमे फल छिपा रहता है और इसीलिए इसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं। जहाँ पर फल का उपाय तो पहले की अपेक्षा अधिक विकसित होता है, परन्तु विघ्नो के आ जाने से उसमें आघात पहुँचता है—वहाँ **विमर्श सन्धि** होती है। 'विमर्श' का अर्थ है विचार करना। इस सन्धि मे फल प्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है। यही इस नामकरण का कारण है। इसमे नियताप्ति तथा प्रकरी का योग अपेक्षित होता है, परन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक है। जहाँ कार्य तथा फलागम मिलते हैं अर्थात् प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है, वहाँ **निर्वहण सन्धि** होती है। इन दोनो तत्त्वो के समन्वय के लिए इस वृक्ष पर दृष्टिपात की कीजिए —

सन्धि-समन्विति

१ मुख— आरम्भ तथा बीज का सयोग।
२ प्रतिमुख—यत्न तथा बिन्दु का योग।
३ गर्भ—प्राप्त्याशा तथा पताका का योग।
४ विमर्श—नियताप्ति तथा प्रकरी का योग।
५ निर्वहण—फलागम तथा कार्य का योग।

सन्धियो का विचार करने से स्पष्ट है कि मुख से कार्य आरम्भ होता है, प्रतिमुख में बढता है, गर्भ मे उत्कर्ष को पाता है, विमर्श में वह फल की ओर झुकता है तथा निर्वहण में वह पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करता है। इन पञ्च सन्धियो की स्वरूप तुलना पाश्चात्य शैली मे 'ड्रैमेटिक लाइन्स' से भलीभाँति की जा सकती है। दोनो का स्वरूप प्राय एकसमान ही होता है। इनकी गति को इस रेखा-चित्र से समझिए—



इसका निष्कर्ष यही है कि मुखसन्धि में निहित बीज ही अन्तिम सन्धि में फल के रूप में परिणत हो जाता है, परन्तु उसे अंकुरित तथा विकसित, पल्लवित तथा परिणत होने में बीच की तीन सन्धियों के मध्य से होकर गुजरना बहुत ही जरूरी होता है। तभी उसका पूर्ण विकास होता है। पञ्च सन्धि की कल्पना का यही रहस्य है।

'रत्नावली' के कथानक का यहाँ भारतीय पद्धति से विश्लेषण किया जा रहा है। रत्नावली नाटिका का बीज वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारण-भूत अनुकूल दैव है जो राजा के अनुराग को बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार प्रथम अंक में अनुराग बीज का प्रक्षेप है और यही मुख-सन्धि भी वर्तमान है। बिन्दु का आक्षेप 'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवौ' वाले श्लोक में है। प्रतिमुख सन्धि द्वितीय अंक में आती है। जहाँ वत्सराज और सागरिका के मिलन के लिए उद्योगशील सुसंगता और विदूषक उस अनुरागबीज को पूर्णतया जान लेते हैं। तथा वासवदत्ता भी चित्रफलक के वृत्तान्त से उस अनुराग का अनुमान करती है। इस प्रकार दृश्य और अदृश्यरूप से विकसित होने के कारण इस अंक में प्रतिमुख सन्धि है। गर्भ सन्धि तृतीय अंक से है जहाँ वेश बदलकर सागरिका के अभिसरण से राजा के हृदय में उसकी प्राप्ति की आशा बँध जाती है, परन्तु वासवदत्ता के अड़ंगा लगा देने से उस आशा पर भी पानी फिर जाता है। अवमर्श सन्धि रत्नावली के चतुर्थ अंक में आग लगने तक के कथानक तक है, क्योंकि यहाँ वासवदत्ता की प्रसन्नता हो जाने से रत्नावली की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न दृष्टिगोचर नहीं होता। निर्वहण सन्धि चतुर्थ अंक के अन्त में है जहाँ वसुभूति तथा बाभ्रव्य के साक्षात् प्रमाण तथा विदूषक के गले में विद्यमान रत्नावली को देखकर सागरिका के सच्चे रूप का बोध होता है तथा राजा का उससे मिलन सम्पन्न होता है।

(६) पात्र-योजना

नेता—नेता के वर्णन के भीतर नायक तथा उसके परिकर का भी समावेश किया जाता है। नेता में शोभन गुणों की सत्ता अनिवार्य है। नायक तथा नायिका के कतिपय उचित परिकर से बने-बनाये उपलब्ध होते हैं जिनके भीतर प्रत्येक नाटक का नेता रखा जा सकता है। नेता के चार प्रधान भेद होते हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरप्रशान्त तथा (४) धीरोद्धत। धीरोदात्त प्रकृति का नायक प्रायः राजा या राजकुल में उत्पन्न [illegible] व्यक्ति होता है। यह अभिमान-

शून्य, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा विनयी होता है। जिस काम के करने का वह व्रतग्रहण कर लेता है वह उसे कभी छोडता नही। नायक के जितने शोभन तथा सामान्य गुण होते हैं वे सब इस नेता में पाये जाते हैं। **धीरललित** नायक कला का प्रेमी, चित्त का रसिक तथा राजपाट की चिन्ता से मुक्त होता है। वह भोगविलास में लिप्त रहता है, प्रेम का उपासक होता है और अनेक पत्नीवाला राजा होता है। राज-कार्य को मन्त्री के ऊपर छोडकर वह अपने आपको भोग-विलास में ही लगाये रहता है। धीरोदात्त के उदाहरण हैं राम तथा दुष्यन्त जो नाटक के नायक हैं। धीरललित नायक नाटिका का नेता होता है जैसे रत्नावली नाटिका का नेता राजा उदयन। **धीरप्रशान्त** ब्राह्मण तथा वैश्य जाति का व्यक्ति स्वभाव से शान्त होता है और इसलिए इस प्रकार का नायक इन्ही वर्णों में पाया जाता है। वह कला का प्रेमी भी होता है। प्रकरण का नेता इसी कोटि का होता है जैसे मृच्छकटिक का नेता चारुदत्त तथा मालतीमाधव का नेता माधव। **धीरोद्धत** नायक घमण्डी, ईर्ष्यालु, बकवादी और छली होता है, जैसे भीमसेन। नायिका का वर्णन स्थानाभाव से यहाँ नही किया गया है।

प्रकृतिविचार

भरतमुनि ने पात्रो को प्रकृति के अनुसार तीन वर्गो में बाँटा है—उत्तम प्रकृति, मध्यम प्रकृति तथा अधम प्रकृति। 'प्रकृति' का अर्थ है स्वभाव। स्वभाव के अनुसार ये तीन भेद हैं और इस प्रकृति के अनुसार ही उनके व्यापार होते हैं। उत्तम प्रकृति-वाला पुरुष सदा उदात्त व्यापारो में ही आसक्त होता है। वह ऐसा कोई भी कार्य नही करता जिससे उसकी गम्भीरता तथा सहानुभूति को कभी धक्का पहुँचे। मध्यम प्रकृति का कार्य साधारण लोगो का व्यापार होता है। अधम प्रकृतिवाला पुरुष स्वभाव से ही नीचे की ओर जानेवाला होता है। वह नीचो के साथ बैठता-उठता है, काम-धधा करता है। उधर ही उसकी चित्त-वृत्ति का रुझान होता है। एक बार जिस पात्र की जो भी प्रकृति स्वीकृत कर ली जाती है उसे पूरे नाटक में उसी प्रकार निर्वाह करना पडता है। उसकी बोल-चाल, भाषण-वचन सब उसकी प्रकृति के अनुरूप होने चाहिए।

एक उदाहरण से इसे समझना चाहिए। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में कालिदास ने महर्षि कण्व को उनकी उदात्त प्रकृति के अनुसार ही चित्रित किया है। वे उत्तम

प्रकृति के पात्र हैं। फलतः उनका प्रत्येक कार्य, भाषा तथा भाव, कथन तथा आचरण, सब कुछ उसी प्रकृति के अनुरूप है। वे वैदिक ऋषि हैं। इसके लिए उनके द्वारा प्रयुक्त उपमाओं में वैदिक यज्ञ याग की सुगन्धि आती है। जब शकुन्तला की राजा दुष्यन्त के प्रति प्रेमभावना का पता उन्हें मिलता है तब वे कह उठते हैं—धूम से आकुलित दृष्टि होने पर भी सौभाग्य से यजमान की आहुति ठीक अग्नि में ही पड़ी। यह उपमा यज्ञ से सम्बन्ध रखती है। उनके मुख से आशीर्वादवचन भी वैदिक छन्द के द्वारा अवतीर्ण किये गये हैं। यह सब कुछ उनकी उत्तम प्रकृति के अनुरूप ही निबद्ध किया गया है।

विदूषक के चरित्र की मीमांसा कीजिए। यह सब कुछ उसकी हास्य प्रकृति के अनुरूप ही है। वह भोजनभट्ट है। भोजन में अत्यासक्ति उसकी प्रधान रुचि है और अपने वचनों से दर्शकों के हृदय में हास्य उत्पन्न करना उसका मुख्य कार्य है। जब वह बातचीत करता है तब वह अपने प्रिय विषय भोजन को कभी भुलाता ही नहीं। कालिदास की एतद्विषयक उक्ति बड़ी सुन्दर है—सर्वदा औदरिकस्य अभ्यवहार्यमेव विषयः—उदरभक्त-पेटू पुरुष के लिए खाना-पीना ही हमेशा बात-चीत का विषय हुआ करता है। इसलिए जब विदूषक पूर्णिमा की रात को चन्द्रोदय होते देख कह उठता है कि नीले आकाश में उगनेवाला पूर्ण चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता है मानो नीलम के पात्र में रखा हुआ बनारसी मक्खन का गोला, तब हम कवि की सहृदयता पर रीझे बिना रह सकते। 'विद्धशालभञ्जिका' नाटिका का विदूषक सिन्धुवार के फूलों की उपमा सफेद भात के दानों के साथ देता है। यह कथन अपने औचित्य के कारण दोनों कार्य करता है—लोगों में हास्यरस भी उत्पन्न करता है तथा विदूषक की हास्यमयी प्रकृति को अभिव्यक्त करता है।

उसका रूप भी वैसे ही हास्यवर्धक होता है। विदूषक होता है गंजी खोपड़ी-वाला, पीली आँखोंवाला, हास्य स्वभाववाला, पीले बालोंवाला, भूरी दाढ़ीवाला तथा नाचनेवाला। अवसर के अनुकूल आचरण करनेवाली प्रतिभा से सम्पन्न, चारों प्रकार के नर्म को जाननेवाला, वेद का वेत्ता तथा नायक के मनोविनोद के साधन का पहुँचानेवाला विदूषक होता है—

खलतिः पिङ्गलाक्षश्च हास्यानुकारविभूषितः ।
पिङ्गकेशो हरिश्मश्रुर्नर्तकश्च विदूषकः ॥

र्गका

के निर

न होना

का भार

चाहिए। दूसरी बात यह है कि उन संवादों से दर्शकों को रसानुभूति होनी चाहिए अर्थात् संवाद न नीरस होने चाहिए और न केवल सूचना देनेवाला होना चाहिए बल्कि रस से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि बुद्धिमान् लोग ही उसे खेल सकते हैं। भरत की सम्मति में संवाद की योजना करते समय नाटक-कार को अलंकार के प्रपंच में नहीं पड़ना चाहिए, उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसमें ऐसी बात न आवे जो श्रोताओं की समझ में न आवे, या अस्वाभाविक हो या जो उचित न हो और जिसके अनुसार अभिनय करने में अभिनेताओं को असुविधा हो। संवाद के लिए औचित्य का बहुत ही अधिक महत्त्व होता है। क्या कहना चाहिए? कब कहना चाहिए? कैसे कहना चाहिए? इन प्रश्नों को समाधान कर विरचित संवाद ही प्रेक्षकों के हृदय को आकृष्ट करता है, दूसरा नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि नाटककार को काव्यशास्त्र का अध्ययन न करना चाहिए। कविकर्म के लिए काव्यशास्त्र का अनुशीलन नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु कवि को नाटक में यत्नपूर्वक खोजकर अलंकारों का विधान नहीं करना चाहिए, अन्यथा भाषा दुरूह, अस्वाभाविक, क्लिष्ट तथा दुर्बोध बन जाती है।

संवाद के लिए भाषा का अध्ययन आवश्यक है। संस्कृत के नाटकों में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण रहता है जो पात्र की सामाजिक और सांस्कृतिक योग्यता के अनुसार ही निबद्ध की जाती है। संवाद के लिए काव्य के समस्त गुण आवश्यक होते हैं, परन्तु दो गुणों की आवश्यकता अनिवार्य है। एक है प्रसाद और दूसरा है कुतूहल। 'प्रसाद' के द्वारा वक्ता की बात श्रोता के हृदय तक पहुँचती है। वह उसे भलीभाँति समझता है और उसका आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त होता है। 'कुतूहल' के द्वारा दर्शक की प्रवृत्ति नाटक देखने की ओर स्वतः आकृष्ट रहती है। यदि संवाद कुतूहलवर्धन न करेगा, तो वह फीका, अरुचिकर तथा अनाकर्षक होगा। संवाद में सदा आकर्षण रहना चाहिए। संवाद के दोष वे ही हैं जो सामान्य रूप से काव्य के दोष होते हैं—क्लिष्ट, अश्लील, असंगत, सन्दिग्धार्थ आदि।

आचार्यों ने पाठों के उच्चारण के लिए विशेष नियम बना रखा है। उच्चारण करनेवाले या पढ़नेवाले पात्र के गुण छः होते हैं—माधुर्य, अक्षरव्यक्ति, पदच्छेद, सुस्वरता, धैर्य तथा लयसमर्थता। शब्दों का उच्चारण मीठा होना चाहिए, कर्ण-कटु नहीं। अक्षरों को स्पष्ट बोलना चाहिए तथा अलग अलग बोलना चाहिए। स्वरों को उचित चढ़ाव-उतार के साथ बोलना चाहिए। 'सुस्वरता' बहुत ही।

तदा त्वप्रतिभो नर्मचतुर्भेदप्रयोगवित् ।
वेदविन्मर्मवेदी च यो नेतु स्यात् स विदूषक ।।
—शारदातनय

गमच के ऊपर अभिनय करनेवाले व्यक्तियो के स्वरूप में भी भेद किया जाता है। नट, भरत तथा शैलूप—इन तीनो का काम अभिनय करना ही है, परन्तु कार्यों में वैलक्षण्य भी है। जो लोग रस और भाव से युक्त भूतकाल की कथा को स्वाभाविक रीति से अभिनीत करते हैं, वे **नट** कहलाते हैं। **भरत** केवल दूसरे के वेप, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओ का अनुकरण भापा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियो से साथ करता है। अत भरत का कार्य नट की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली होता है। जो वर्तमान काल के लोगो के चरित्र को भूमिका (पार्ट) ग्रहण कर दिखलाता है वह 'शैलूष' (नकल उतारनेवाला) कहलाता है। इस प्रकार अन्य पात्रो के रूप तथा कार्य का वर्णन बडी सुन्दरता से शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' नामक अपने ग्रन्थ में किया है।

इस प्रकार भरतमुनि तथा शारदातनय आदि नाट्यकारो ने 'पात्र योजना' के विषय में भी बडो गम्भीर तथा उपादेय बातें लिखी हैं जिनका अनुशीलन आज के युग में भी किसी प्रकार कम उपयोगी तथा कम महत्त्वशाली नही है।

(७) संवाद योजना

सवादो के द्वारा ही नाटक का कथानक आ` बढता है और अपनी सिद्धि को प्राप्त करता है। सवाद के विषय में नाट्याचार्यों ने बडी उपादेय बातें विस्तार के साथ लिखी हैं। कौन नाटक दर्शको के लिए सुन्दर तथा उपयोगी होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भरतमुनि ने यो दिया है—"नाटक मृदु तथा ललित पदो से युक्त तथा अस्पष्ट शब्द अर्थ से हीन होना चाहिए। बुद्धिमानो को सुख देनेवाला, बुद्धिमानो के द्वारा खेला जा सकनेवाला, बहुत से रसो को व्यक्त करने का मार्ग खोलनेवाला, ठीक सन्धियो से सधा हुआ ही नाटक दर्शको के लिए उपयोगी होता है।" इसका तात्पर्य यह है कि भरतमुनि ने सवादयोजना के विपय में तीन बातें स्पष्टत प्रतिपादित की हैं। एक तो यह कि **संवाद** कही भी ऐसा न होना चाहिए कि जिसके अर्थ समझने मे श्रोताओ को कठिनाई हो। सुनते ही वक्ता का भाव स्पष्ट हो जाना

(४) प्रहसन—वस्तु कल्पित; मुख तथा निर्वहण सन्धि, पाखंडी, कामुक, धूर्त आदि पात्र, रस हास्य, अंक एक ही। विष्कम्भक और प्रवेशक से रहित।

(५) व्यायोग—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, गर्भ और विमर्श रहित तीन सन्धियाँ, धीरोद्धत नायक, अंक एक, हास्य तथा शृंगार से रहित छः रस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति, स्त्री के कारण युद्ध नहीं, एक दिन का चरित दिखलाया जाता है।

(६) डिम—पौराणिक वस्तु, चार अंक, विमर्श से हीन चार सन्धियों में विभक्त कथानक, धीरोद्धत सोलह नायक (देव, यक्ष, गन्धर्व आदि); रौद्ररस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति, माया, इन्द्रजाल की चेष्टायें। विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होता।

(७) समवकार—दैत्य-दानवों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक कथा, विमर्श सन्धि से रहित चार सन्धियों की स्थिति, अङ्क तीन, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के १२ नायक, वीररस, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति।

(८) वीथी—कल्पित वस्तु, एक अंक, शृंगारप्रिय नायक, शृंगाररस, कैशिकी वृत्ति।

(९) अंक—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु; मुख और निर्वहण सन्धि, प्राकृत पुरुष नायक, अंक एक, करुणरस, सात्त्वती वृत्ति, वाग्युद्ध और निर्वेदवचन की सत्ता।

(१०) ईहामृग—मिश्रित कथावस्तु, चार अंक, गर्भ और विमर्श से रहित तीन सन्धियाँ, धीरोदात्त नायक, शृंगाररस, प्रतिनायक धीरोद्धत। मृगी के समान अलभ्य नायिका की इच्छा होने से इसका विशिष्ट नामकरण।

नाटिका में नाटक तथा प्रकरण का मिश्रण रहता है। वस्तु कल्पित होती है तथा नायक धीरललित, रस शृंगाररस तथा कैशिकी वृत्ति, अङ्क चार। स्त्रियों का आधिक्य। प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर यह 'नाटिका' ही 'सट्टक' का नाम धारण करती है।

रूपक के ये ही मुख्य भेद होते हैं जिनमें नाटक सबसे प्रसिद्ध होता है। इसके बाद प्रकरण, प्रहसन तथा नाटिका मुख्य रूपक माने जा सकते हैं।

महत्त्वपूर्ण गुण है। रसो के अनुसार स्वर का परिवर्तन होता है। शृगार कोमल स्वर चाहता है, परन्तु रौद्र उग्र स्वर। स्वरो में भी प्रसग तथा विषय के अनुसार चढ़ाव-उतार होना ही चाहिए। तभी तो बोलने का प्रभाव श्रोता पर पडता है और उसका ध्यान आकृष्ट हो जाता है। बोलने में उचित लय भी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सवाद का कथन ऐसे ढग से होना चाहिए कि श्रोतागण आकृष्ट हो जायँ तथा पात्रो के कथनोपकथन में रस लेते हुए उसे सुनें। तभी तो पात्रो की भाषा मे आकर्पण उत्पन्न होता है।

इस प्रकार भरतमुनि ने सवाद के दोनो तत्त्वो—भाषातत्त्व तथा काव्यतत्त्व—पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किया है जिसका अनुसरण आज भी नाटक को उपादेय तथा रोचक बनाने के लिए उपयुक्त है। भारतीय नाटक न केवल आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित रहता है और न केवल यथार्थवाद पर, प्रत्युत उसमें दोनो का मञ्जुल समन्वय घटित होता है और यही कारण है कि आज के वैज्ञानिक रगमच के युग में भी सस्कृत के नाटको का अभिनय उतना ही आकर्पक तथा मनोरञ्जक सिद्ध हो रहा है। लण्डन, न्यूयार्क तथा मेलबोर्न में शाकुन्तल तथा मृच्छकटिक के सफल अभिनय से यह बात स्पष्टत प्रमाणित हो रही है।

(८) रूपक के भेद

इन्ही तीन तत्त्व के—वस्तु, नेता तथा रस के—आधार पर रूपक के १० भेद किये जाते हैं। इनका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है —

(१) **नाटक**—कथावस्तु इतिहास में या पुराण में प्रसिद्ध होनी चाहिए। पाँचो सन्धियों का विकास होना चाहिए। अको की सख्या ५ से लेकर १० तक होनी चाहिए। नायक होता है धीरोदात्त, वीर या शृगार रस की मुख्यता रहती है। वृत्ति सात्वती या आरभटी होती है।

(२) **प्रकरण**—वस्तु कल्पित, सन्धि पाँच, नायक धीरप्रशान्त, नायिका कुलवती या वेश्या, रस शृगार, वृत्ति कैशिकी, अक ५ से लेकर १० तक, नायक अमात्य, विप्र या वणिक् में से कोई एक।

(३) **भाण**—वस्तु कल्पित, जिसमें धूर्त के चरित का विशेष वर्णन रहता है, मुख तथा निर्वहण सन्धि, धूर्त या विट नायक, वीर और शृगार रस, अक एक ही, भारती या कैशिकी वृत्ति, एक ही पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग।

उत्थापनी, परिवर्ता, अपकृष्टा, अह्निता तथा विक्षिप्ता। इनका गायन विशिष्ट स्वर में विशिष्ट ताल तथा मात्रा के योग में होता था।

भरतमुनि का आदेश है कि नाट्यमण्डप पर्वत की गुफा के आकार का होना चाहिए जिसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था। खिड़कियाँ कम होनी चाहिए। वायु का सचार कम होना उचित है। ऐसा होने से उस मण्डप में गम्भीर शब्द हो सकता है। रंगमंच की रचना निर्वात में (विशेष हवादार जगहों में नहीं) होना चाहिए। नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और शब्दों का श्रवण श्रोताओं को ठीक-ठीक नहीं हो सकेगा—

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीर-शब्दवान् ॥

दर्शकों के बैठने के लिए आसन का उचित प्रबन्ध होता था। आजकल के समान दर्शकों के बैठने के लिए उस समय की गैलरी या सीढ़ीनुमा आसन की व्यवस्था कम आश्चर्यजनक नहीं है। दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ी के तरह आसन होते थे (सोपानाकृति)। जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं और इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। निवेशनों की बनावट तथा व्यवस्था ऐसी होती थी कि कहीं पर बैठकर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भली भाँति किया जा सकता था। यह बात बड़े महत्त्व की है और प्राचीन आचार्यों की व्यावहारिक बुद्धि का विशेष परिचायक है—

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैः - भूमिभाग - समुत्थितैः ।
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम् ॥

भारत का प्राचीन रंगमंच यथार्थवादी होते हुए भी आदर्शवादी था। वहाँ घृणोत्पादक या उद्वेगजनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। रंगपीठ पर भोजन तथा शयन, युद्ध तथा आलिंगन आदि का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े और हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय पाल-कम से बने पदार्थों को चाम से मढ़कर घोड़े या हाथी का रूप बनाकर रंगमंच पर दिखलाते थे।

(९) प्रेक्षागृह

अत्यन्त प्राचीन काल में नाटक का अभिनय बाहर मैदान में आकाश के नीचे ही हुआ करता था, परन्तु नाना प्रकार के विघ्नो के उठ खडे होने पर रगमच का आविर्भाव हुआ। नाट्यशास्त्र 'प्रेक्षागृह' का विवरण बडे विस्तार से प्रस्तुत करता है। प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र, तथा त्र्यस्र। इनमें विकृष्ट भेद विस्तृत होता था जिसमे देवताओ से सम्बद्ध दृश्य दिखलाये जाते थे। चतुरस्र स्पष्ट ही चौकोना होता था, परिमाण में मध्यम आकार का होता था और विशेष कर राजाओ के लिए निश्चित किया गया था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढग का प्रेक्षागृह था जो मात्रा मे सबसे छोटा था तथा सामान्य प्रकृति के लिए विहित था। प्रेक्षागृहो के विधान के विषय में भरत मुनि बडे ही वैज्ञानिक हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि प्रेक्षागृह का विस्तार में अधिक होना नितान्त अनुचित है, क्योंकि ऐसी दशा में उच्चारित शब्द स्पष्ट रूप से दर्शको के कानो तक पहुँच नही सकता। 'सुश्रव्यता' नाट्य का प्रधान गुण है और इसकी सिद्धि मध्यम परिमाण वाले प्रेक्षागृहो के अस्तित्व पर ही आश्रित हो सकती है—

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम् ।
अनभिव्यक्तवर्णत्वात् विस्वरत्वं भृश व्रजेत् ॥
(नाट्यशास्त्र २।१९)

प्रेक्षागृह का आधा भाग तो दर्शकों के निमित्त सुरक्षित रखा जाता था और आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए निश्चित रहता था। इसमें भी आधा भाग **रंग-पीठ** कहलाता था जिसके ऊपर अभिनय कार्य निष्पन्न होता था। सबसे पिछला भाग **'रगशीर्ष'** के नाम से अभिहित होता था और यही नटो के लिए नेपथ्य विधान होता था। प्रेक्षागृहो के विभिन्न स्थानो पर नाना देवताओ की पूजा होती थी। सूत्रधार का वस्तुत इन आवश्यक विधानो का सम्पादन ही मुख्य कार्य होता था। यह आरम्भिक पूजन 'पूर्वरग' कहलाता था और यह एक विस्तृत व्यापार होता था जिसका केवल अन्तिम अश **नान्दी** के नाम से आज भी सस्कृत नाटको में अवशिष्ट है। इस नान्दी के अनन्तर ही पात्र का प्रवेश होता था। पूर्वरग के अवसान में श्रोताओ के हृदयावर्जन के लिए सगीत का यथावत् सविधान होता था और इस अवसर पर गाई जानेवाली गीति **ध्रुवा** के नाम से विख्यात है। ध्रुवा गीति के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये गये है--

> वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनु स्मृता ।
> अंगनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥
>
> (नाट्यशास्त्र—५।२)

पाठ्य दो प्रकार का होता है—संस्कृत तथा प्राकृत। उच्च कोटि के पात्रों की भाषा संस्कृत होती है तथा नीच श्रेणी के पात्रों की भाषा प्राकृत होती है। नाट्य का पाठ्य कवित्वमय होता है। अतः उसके लिए दोषों का परिहार, गुण तथा अलंकारों का संग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। अभिनय का सर्वस्व होता है—औचित्य का विधान। जो वस्तु जिस प्रकार की होती है उसे उसी प्रकार से रंगमंच के ऊपर दिखलाना औचित्य की परिधि के भीतर आता है। भरत का विधान बड़ा ही साहित्यिक, सरस तथा उपादेय है। प्रथम तो उम्र के विचार से उचित वेष होना चाहिए। वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठ्य गतिप्रचार के अनुरूप होता है तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। इस नियम के यथावत् पालन करने से ही नाट्यकला में सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहार्य अभिनय के भीतर वेशभूषा तथा आभूषणों का विधान किया जाता है। अधिक आभूषणों के धारण करने से नट श्रान्त हो जाता है, इसीलिए ठोस सोने के गहनों के स्थान पर लाह से भरे गहने होने चाहिए। इसी प्रसंग में श्मश्रुकर्म का विधान भी किया जाता था। दाढ़ी रखने की प्रथा प्राचीन भारत में बहुलता से थी। अतः रंगमंच पर अवतीर्ण होनेवाले पात्रों के वेष को सजाने के लिए अच्छी दाढ़ी रखने का भी विशेष नियम रखा जाता था।

सात्त्विक अभिनय अन्तिम प्रकार का अभिनय है जिसमें पुरुषों की तथा स्त्रियों की नाना चेष्टाओं—हाव, भाव, हेला आदि—का प्रदर्शन दिखलाया जाता था। नाट्य के साथ संगीत का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। संगीत के प्रयोग से अभिनय नितान्त स्निग्ध तथा मंजुल हो जाता है। अतः आजकल की भाँति प्राचीन काल में संगीत का मधुर सन्निधान रंगमंच पर अवश्य होता था।

प्रवृत्ति—नाट्य प्राचीन काल में जीवित कला थी। नाट्य प्रदर्शन की तत्कालीन अनेक शैलियाँ थीं जिनमें चार शैली का, जिसे प्रवृत्ति कहते हैं भरत मुनि ने निर्देश किया है। नाट्यात्मक प्रवृत्ति का प्रयोजन निर्णय तथा उनके वर्णन देशों के

प्रथा थी। भारतीय रगमच के प्रभाव का वृहत्तर भारत की रगशाला पर पडना कोई अचरज की चीज नही है। कम्बोज, जावा तथा स्याम की गशालायें ठीक भारतीय रगशाला के समान होती थी। आज भी जावा में छाया नाटको का (जिन्हें वहाँ 'वयग' कहते हैं) वहुत प्रचार है जो भारत के 'पुत्तलिका नृत्य' के समान ही प्रयोग में लाये जाते है। इस प्रकार जावा का साहित्य, नाटको के विषय तथा प्रकार के समान अभिनय तथा प्रयोग के लिए भी भारतवर्ष का चिर ऋणी रहेगा।

(१०) अभिनय

अब प्राचीन काल के अभिनय की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अभिनय चार प्रकार के होते हैं—(१) आगिक, (२) वाचिक (३) आहार्य तथा (४) सात्त्विक। इन चारो अभिनयो के द्वारा प्रस्तुत कथावस्तु ही दर्शको के सामने अभिनेय पदार्थ का यथार्थ रूप दिखला सकती है तथा उनका मनोरजन कर सकती है। **आंगिक** अभिनय का सम्बन्ध दृष्टि, मुख, हस्त तथा पाद आदि नाना अवयवो से है। भरतमुनि ने इस अभिनय का इतना सागोपाग विस्तृत विवरण दिया है कि आजकल के वैज्ञानिक युग में भी वह विलक्षण तथा विचित्र प्रतीत होता है। हाथो के द्वारा प्रस्तुत अभिनय का प्रकार, दो चार दस नही प्रत्युत पूरे १०८ हैं। इन **अगहारो** का रूप भी समझना आजकल के लिए असम्भव हो जाता, परन्तु धन्य है तेरहवी शती में दक्षिण भारत पर शासन करनेवाले राजसिंह (१२४३ ई०–१२७३ ई०) को जिन्होने चिदम्बरम् में सुप्रसिद्ध शैव मन्दिर के गोपुर में इन समग्र करणो को नाट्यशास्त्र के तद्विषयक श्लोको के साथ खुदवाया है। ये आज भी नटराज मन्दिर की शोभा वढा रहे हैं। रस का सद्य उन्मीलन दर्शको के हृदय में करना ही नाट्य का प्रधान लक्ष्य है और इस कार्य में नेत्रो का विधान बडा ही सहायक होता है। भरत ने ३६ प्रकार की रस तथा भावोद्-वोधक दृष्टियो का विवरण अपने ग्रन्थ में दिया है जिनसे हमारे मनोभावो की अभि-व्यक्ति स्पष्ट रूप से दर्शको को होती है। इस प्रसग के महनीय मनोवैज्ञानिक मूल्य की ओर हम अपने श्रोताओ का ध्यान आकृष्ट करना उचित समझते है।

वाचिक अभिनय मे नटो तथा पात्रो के पाठ्य का विधान रहता है। पाठ्य के द्वारा ही कोई पात्र अपनी भावना अभिव्यक्त करता है तथा अन्य पात्रो के साथ कथनोपकथन में प्रवृत्त होता है। इसी लिए भरत ने इसे 'नाट्य का शरीर' माना है तथा इस कार्य में विशेष यत्न करने के लिए कहा है—

के अभ्युदय तथा विकास के ऊपर भी यूनानी नाटकों का गहरा प्रभाव मानते हैं। परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं है। यूनानी नाटकों का अभिनय खुले मैदान में दर्शकों के सुभीते के लिए किया जाता था। वहाँ किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। तब उधार कैसे लिया गया? यदि यह शब्द यूनानी रंगमंच से लिया गया होता, तो यह अपने सीमित पारिभाषिक अर्थ में ही व्यवहृत होता, परन्तु वस्तुस्थिति इससे नितान्त भिन्न है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार अभिनय कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। यदि मूल-शब्द 'यवनिका' ही होता, तो 'यवनी' का भी प्रयोग परदे के लिए न्याय्य तथा उचित होता। ऐसा न होने से स्पष्ट है कि भारतीय नाटककार 'जवनिका' के लिए यवनों के ऋणी नहीं है। नाटक का परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।

था। आवन्तिका में वीर तथा शृंगार रसो का प्रदर्शन मुख्य था। ओड्र मागधी पूरब भारत की प्रवृत्ति थी तथा मध्य देश की शैली पांचाली के नाम से पुकारी जाती थी।

भारतीय नाट्यशास्त्र का यह एक सामान्य चित्रण है। इससे स्पष्ट है कि नाट्य भारतवर्ष की प्रतिभा का स्वतन्त्र विलास है। जिस 'जवनिका' शब्द का आश्रय लेकर नाट्य के ऊपर यूनानी प्रभाव बतलाया जाता है वह शब्द वस्तुत जवनिका है, यवनिका नही। प्रयोग नाट्य का साधन है और दर्शको के हृदय में रस का उन्मेष लक्ष्य। इस व्यवसाय में प्राचीन नाट्य सर्वथा समर्थ होता था, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है।

(११) जवनिका

नाटक के परदे को 'जवनिका' कहते हैं। यह नाट्यशास्त्र का कोई पारिभाषिक शब्द नही है। 'जवनिका' शब्द का प्रयोग 'पटमण्डप' (खेमा) को कनेवाले परदे के लिए किया जाता था जिसे आजकल हिन्दी में 'कनात' कहते हैं। नाव की गति को तीव्र करने के लिए गोनघर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपडे को मल्लाह बाँधते हैं वह भी सस्कृत में 'जवनिका' ही कहलाता है। इन दोनो विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है-- ढकना, आवरण करना और इसलिए जवनिका का सामान्य अर्थ होता है किसी वस्तु को छिपा देनेवाला परदा। 'जवनिका' का एक दूसरा रूप 'जवनी' भी इसी अर्थ में गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' (आर्या सख्या ५३८) में प्रयुक्त है। फलत 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है—आवरण, परदा और इस प्रकार यह सस्कृत भाषा का एक सामान्य शब्द है। गति तथा वेगवाचक 'जु' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। अत 'जवनिका' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर-उधर हटाई जा सके। इस शब्द का प्रयोग सस्कृत के नाट्यशास्त्रीय तथा इतर ग्रन्थो में भी बहुश किया गया है।

वस्तुस्थिति यही है। परन्तु राजशेखर के प्राकृत भाषा में लिखे गये 'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक के अक 'जवनिकान्तर' कहलाते हैं। इसी शब्द का सस्कृत प्रतिरूप 'यवनिका' कर लिया गया है जो अनेक झगडो, आक्षेपो तथा विरुद्ध भावनाओं का घर है। 'यवनिका' शब्द की मीमासा कर यूरोपीय विद्वान् भारतीय नाटक के परदे को ही यवनदेश (यूनान) से उधार लिया हुआ नही मानते, प्रत्युत वे सस्कृत के नाटको

के अभ्युदय तथा विकाश के ऊपर भी यूनानी नाटकों का गहरा प्रभाव मानते हैं। परन्तु यह बात मानने योग्य नही है। यूनानी नाटकों का अभिनय खुले मैदान में दर्शको के सुभीते के लिए किया जाता था। वहाँ किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। तब उधार कैसे लिया गया ? यदि यह शब्द यूनानी रगमंच से लिया गया होता, तो यह अपने सीमित पारिभाषिक अर्थ मे ही व्यवहृत होता, परन्तु वस्तुस्थिति इससे नितान्त भिन्न है। ऐसी दशा मे 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णत' भ्रामक एव सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास मे स्वतन्त्र है, उसी प्रकार अभिनय कला मे भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। यदि मूल-शब्द 'यवनिका' ही होता, तो 'यवनी' का भी प्रयोग परदे के लिए न्याय्य तथा उचित होता। ऐसा न होने से स्पष्ट है कि भारतीय नाटककार 'जवनिका' के लिए यवनो के ऋणी नही है। नाटक का परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नही।

था। आवन्तिका मे वीर तथा शृगार रसो का प्रदर्शन मुख्य था। औड्र मागधी पूरब भारत की प्रवृत्ति थी तथा मध्य देश की शैली पाचाली के नाम से पुकारी जाती थी।

भारतीय नाट्यशास्त्र का यह एक सामान्य चित्रण है। इससे स्पष्ट है कि नाट्य भारतवर्ष की प्रतिभा का स्वतत्र विलास है। जिस 'जवनिका' शब्द का आश्रय लेकर नाट्य के ऊपर यूनानी प्रभाव वतलाया जाता है वह शब्द वस्तुत जवनिका है, यवनिका नही। प्रयोग नाट्य का साधन है और दर्शको के हृदय में रस का उन्मेष लक्ष्य। इस व्यवसाय में प्राचीन नाट्य सर्वथा समर्थ होता था, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है।

(११) जवनिका

नाटक के परदे को 'जवनिका' कहते है। यह नाट्यशास्त्र का कोई पारिभाषिक शब्द नही है। 'जवनिका' शब्द का प्रयोग 'पटमण्डप' (खेमा) को कनेवाले परदे के लिए किया जाता था जिसे आजकल हिन्दी में 'कनात' कहते है। नाव की गति को तीव्र करने के लिए गोनघर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपडे को मल्लाह वाँधते है वह भी सस्कृत में 'जवनिका' ही कहलाता है। इन दोनो विशिष्ट अर्थो का सामान्य रूप है-- ढकना, आवरण करना और इसलिए जवनिका का सामान्य अर्थ होता है किसी वस्तु को छिपा देनेवाला परदा। 'जवनिका' का एक दूसरा रूप 'जवनी' भी इसी अर्थ में गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' (आर्या सख्या ५३८) मे प्रयुक्त है। फलत 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है—आवरण, परदा और इस प्रकार यह सस्कृत भाषा का एक सामान्य शब्द है। गति तथा वेगवाचक 'जु' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। अत 'जवनिका' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर-उधर हटाई जा सके। इस शब्द का प्रयोग सस्कृत के नाट्यशास्त्रीय तथा इतर ग्रन्थो में भी बहुश किया गया है।

वस्तुस्थिति यही है। परन्तु राजशेखर के प्राकृत भाषा में लिखे गये 'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक के अक 'जवनिकान्तर' कहलाते है। इसी शब्द का सस्कृत प्रतिरूप 'यवनिका' कर लिया गया है जो अनेक झगडो, आक्षेपो तथा विरुद्ध भावनाओ का घर है। 'यवनिका' शब्द की मीमासा कर यूरोपीय विद्वान् भारतीय नाटक के परदे को ही यवनदेश (यूनान) से उधार लिया हुआ नही मानते, प्रत्युत वे सस्कृत के नाटको

तृतीय खण्ड

काव्य—सिद्धान्त

तृतीय खण्ड

काव्य—सिद्धान्त

अष्टम-परिच्छेद

औचित्य

काव्य के स्वरूप के विवेचन के अवसर पर हमने उसके अंगों के वैशिष्ट्य की चर्चा की है। काव्य के शब्द और अर्थ शरीर होते हैं। दोष काणत्व खञ्जत्व के समान होते हैं। गुण शूरता-वीरता के सदृश होते हैं। रीति अवयवों के संस्थान के समान होती है। रस आत्मा के तुल्य होता है। कटक, कुण्डल के तरह अलंकार होते हैं। जिस प्रकार दोषों से रहित तथा गुण-अलंकार से मण्डित सुन्दर अंगों को धारण करने-वाली कामिनी का शरीर दर्शकों के नेत्रों को आकृष्ट करता है उसी प्रकार कविता-कामिनी का भी शरीर होता है। आशय यह है कि काव्य के शब्द और अर्थ को दोषों से रहित होना चाहिए, रीति से सम्पन्न, गुण-अलंकार से विभूषित वक्रोक्ति से मण्डित, तथा रस से पेशल शब्द और अर्थ पाठकों के हृदय को आकृष्ट करने में समर्थ होते हैं। काव्य की आत्मा के विषय में भी विभिन्न सम्प्रदाय वालों के भिन्न भिन्न मत हैं। रीतिवादी रीति को, काव्य की आत्मा मानता है अलंकारवादी अलंकार को, ध्वनि-वादी ध्वनि को रसवादी रस को तथा वक्रोक्तिवादी वक्रोक्ति को। इनसे भी अधिक व्यापक एक काव्यतत्त्व है—औचित्य। इस प्रकार इस खण्ड में हम क्रमशः काव्य के मान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे और वे हैं—(१) औचित्य, (२) दोष (३) गुण, (४) रीति (५) वक्रोक्ति, (६) अलंकार (७) ध्वनि तथा (८) रस। इन सिद्धान्तों का पुष्ट विवेचन विषय की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक है।

औचित्य

संस्कृत आलोचना का सबसे व्यापक तत्त्व 'औचित्य' ही है। औचित्य का सामान्य रूप बड़ा ही व्यापक, किन्तु गूढ़ विषय है। 'औचित्य' का अर्थ है 'उचित का भाव'। जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे हम उचित कहते हैं और उचित का भाव

ही 'औचित्य' कहलाता है। किसी वस्तु के साथ सम्वद्ध या जुडी हुई वस्तु को अनुरूप, अनुकूल या उचित कहना चाहिए। वेढगी वस्तु के लिए साहित्य का क्षेत्र नही होता। व्यवहार में भी यही वस्तु देखी जाती है। मोतियो का हार पहना जाता है गले में तथा नूपुर वांधे जाते हैं पैर में। यदि मोतियो का हार गले को छोडकर दूसरी जगह (जैसे हाथ में) पहना जाय, तो वडा ही वेढगा तथा कुरूप लगता है। उससे उस अग का सौन्दर्य कभी नही वढता। उससे तो देखनेवालो को हँसी ही आती है। उसी प्रकार पैर में वाँधे गये पायजेवो की रुनझुन सुनकर श्रोताओ का हृदय आकृष्ट होता है। यदि कोई नर्तक पायजेवो को हाथ में वांधकर नाचता है, तो क्या वह कभी प्रशसा पा सकता है? असली वात यह है कि गहनो के स्थान वँधे हुए हैं—विल्कुल निश्चित किये गये हैं। वही रहकर वे अपनी शोभा वढ़ाते है, दर्शको का चित्त प्रसन्न करते हैं तथा पहननेवाले व्यक्ति के रूप की छटा को उद्दीप्त करते है, अन्यत्र नही।

कला में भी 'औचित्य' का पूर्ण महत्त्व होता है। चित्रकला का उदाहरण लीजिए। वही चित्र सुन्दर, भव्य तथा प्रभावशाली माना जाता है, जिसमें चित्रित व्यक्तियो के रूप-रग में, अग-प्रत्यग में, आपस में अनुकूलता विराजती है—'औचित्य' की सत्ता रहती है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रथम अक में शकुन्तला को अपनी दोनों सखियो के साथ कोमल वालपादपो को जल से सीचती हुई चित्रित किया है। इन तीनो वालिकाओ के हाथ में सीचने के लिए घडा है और ये घडे वय के अनुरूप वतलाये गये हैं। यह चित्र वडा ही सुहावना है--आश्रम मे रहनेवाली तापस कन्यकायें, जो प्राय· एक ही वय की हैं तथा जिनके हाथो में वय के अनुरूप ही 'सेचन घट' वर्तमान है। इस चित्र के चमत्कार का कारण यही औचित्य हैं। यदि उनके हाथ में उनकी अवस्था के प्रतिकूल घडे होते, वडी उम्रवाली वालिका के हाथ में छोटा घडा होता अथवा छोटी उम्र की कन्यका के हाथ में वडा घडा होता, तो यह दृश्य दर्शको के हृदय में क्या आनन्द उत्पन्न करता? यह तो उद्वेग, विषाद या हास्य ही पैदा करता।

कला के समान काव्य जगत् में भी औचित्य का वडा भारी महत्त्व होता है। काव्य तथा नाटक एक लक्ष्य तथा तात्पर्य को लेकर ही अग्रसर होते हैं और यही लक्ष्य क्रमश श्रोता तथा दर्शक के हृदय में रस का उन्मीलन करता है। यदि अभिनय में दर्शको को तद्रूप रस में तन्मय बनाने की योग्यता नही है, तो वह नाटक कभी भी सफल नही माना जा सकता। इसी प्रकार काव्य भी अपने वर्णनों के द्वारा श्रोताओ

कि चित्त में सहानुभूति तथा रस का उन्मीलन करना है। यह तात्पर्य तभी सिद्ध हो सकता है जब काव्य या नाटक रसमय होने के अतिरिक्त औचित्यपूर्ण भी हों। केवल रस की सत्ता से यह बात सिद्ध नहीं होती, प्रत्युत रस के साथ औचित्य का योग होना नितान्त आवश्यक होता है। काव्य को अलङ्कार सजाते हैं तथा गुण उसे सगुण बनाते हैं, परन्तु वे अकेले यह काम कर नहीं सकते। उचित अलङ्कार ही काव्य को सजाता है और उचित गुण ही उसे भूषित तथा पुष्ट करता है। उचित स्थान पर रखने से ही अलङ्कार की 'अलङ्कारता' है तथा उचित स्थान पर निविष्ट करने से ही गुण की 'गुणता' है। वह 'उपमा' ही कैसी जो विषय को रसानुकूल नहीं बनाती। माधुर्य काव्य का उपयोगी गुण अवश्य है, परन्तु यदि वह उचित स्थान पर मधुरता का आस्वादन न करावे, तो वह एकदम व्यर्थ होता है। पूर्णिमा में उगनेवाले चन्द्रमा को देखकर विदूषक की यह उक्ति कितनी फबती है—"नीलगगन में उदय होनेवाला राकेश ऐसा मालूम पड़ता है मानो नीलम की तश्तरी में रखा हुआ बनारसी मक्खन का गोला हो।" पेटू विदूषक के मुँह से इससे सुन्दर उपमा हो ही क्या सकती है? इस उपमा के चमत्कार का कारण है इसका औचित्य। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र की सम्मति में रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही होता है—

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

औचित्यका दृष्टान्त

औचित्य का उदाहरण देखिए। सीता के सौन्दर्य से मुग्ध होकर रावण व्याकुल-हृदय अचेत पड़ा हुआ है। उसी अवसर पर ब्रह्मा, बृहस्पति तथा नारद जैसे देवता और महर्षि लोग रावण के प्रताप से आक्रान्त होकर उसकी प्रशंसा स्तुति के लिए उपस्थित होते हैं। इनपर द्वारपाल सभी फटकार बताता है—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः, तूष्णीं बहिः स्थीयताम्;
स्वल्पं जल्प बृहस्पते! जडमते नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो;
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥

हे ब्रह्माजी वेदमन्त्रों के अध्ययन का यह समय नहीं है। आप बाहर जाकर चुपचाप खड़े रहिए। हे मन्द बृहस्पति! इतना बकवास मत कर; जानता नहीं यह इन्द्र

वज्र धारण करनेवाले की नही है। नारद जी महाराज ! आप स्तुति करना वन्द कर दीजिये। आज लका के राजा रावण सीता के मांगरूपी भाले से विद्धहृदय पड़े हैं। उनकी तवीयत अच्छी नही है।

यह श्लोक अत्यन्त मनोरम है तथा औचित्य के कारण इसकी रुचिरता विवेचको की दृष्टि मे वढी-चढी है। इस पद्य में विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए शव्दो का चुनाव वडा ही समीचीन तथा उचित है। वृहस्पति के लिए जडमति का प्रयोग अनुरूप ही है। इसीलिए उनके कथन को 'जल्पना' कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र के लिए 'वज्री' (वज्र को धारण करने वाला) शव्द का प्रयोग उनके औद्धत्य का परिचायक है। यह शब्द स्पष्ट सूचित कर रहा है कि इन्द्र उद्दण्डता का प्रतिनिधि है। उसमें कोमल कलाओ के आस्वादन लेने की तनिक भी योग्यता नही है। सीता के सिन्दूर से चर्चित मांग की उपमा रक्तरजित भालों से देना कितना औचित्यपूर्ण है। इसको तो सहृदय ही समक्ष सकते हैं। दोनों रगमें लाल और आकृति में लम्वे हैं और दोनो चोट करने मे चुस्त तथा चालाक हैं । अत यह उपमा सर्वथा अनुरूप और उचित है।

उचित पदो का प्रयोग न होने से काव्य का समग्र आनन्द जाता रहता है। उसका सारा मजा किरकिरा हो जाता है। कोई भी वाक्य अलकारो से कितना भी अलकृत क्यो न हो, परन्तु यदि उसमें औचित्य का अभाव हो—चाहे वह पद का हो या अर्थ का—तो उसकी सुन्दरता जाती रहती है, और वह कथमपि हृदय को आकृष्ट नही करता।

औचित्य के भेद

औचित्य के प्रभेद अनन्त हैं। काव्य के प्रत्येक अग और उपाग पर इस तथ्य का व्यापक प्रभाव है। इस तत्त्व के विशिष्ट मर्मज्ञ **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' नाम के प्रख्यात ग्रन्थ में औचित्य के इन २७ प्रकारो का व्यापक वर्णन किया है—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रवन्ध, (४) गुण, (५) अलकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिङ्ग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सार-

ग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२
आशीर्वाद।

यह केवल निदर्शनमात्र है। एक दो उदाहरण के द्वारा इस तत्त्व के समझाने उद्योग किया जाता है —

नामौचित्य

साहित्यिक दृष्टि से नामों की सार्थकता सिद्ध मानी जाती है। संस्कृत कोशो में एक ही व्यक्ति के अनेक नाम मिलते हैं, जैसे सबके हृदय में (आनन्द) त्पन्न करने के कारण कामदेव 'मदन' कहलाता है, वैसे ही सब प्राणियों दर्प के दलन करने के हेतु वही 'कन्दर्प' की संज्ञा पाता है। अङ्ग से रहित होने के का वही 'अनङ्ग', प्राणियों के मन में उत्पन्न होने से 'मनसिज' तथा फूलों के बाणों से य् होने से 'पुष्पबाण' कहलाता है। प्रकृत अर्थ के अनुरूप नाम चुनना भी कवि की कला एक सुन्दर दृष्टान्त होता है। महाकवि बिहारी ने इस दोहे में नाम के औचित्य बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

> करौ कुवत जग, कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
> दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभङ्गीलाल॥

हे दीनदयाल, संसार मेरी कितनी भी निन्दा करे, मैं अपनी कुटिलता को, पन को छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं हूँ। इसका एक कारण है। आप ठहरे त्रिभ लाल। खड़े होने की मुद्रा में आप के पैर टेढ़े हैं, कमर टेढ़ी है तथा सिर हुआ है। ऐसी दशा में मेरे सरल चित्त में रहने में आप बहुत ही दुःखी हों टेढ़ी चीज टेढ़े सन्दूक में अच्छी तरह रखी जा सकती है। सीधे स्थान में टेढ़ी को रखने पर बड़ी तकलीफ होती है। इसी लिए कवि अपने चित्त को भी टेढ़ा बना रखना चाहता है जिससे उसमें रहने के समय त्रिभंगीलाल जी को रहने में कि प्रकार का कष्ट न हो। इस सुन्दर दोहे में 'त्रिभंगीलाल' नाम को कृष्ण के चुनने से नामौचित्य का रुचिर दृष्टान्त प्रस्तुत होता है। कृष्ण के लिए नामों की कमी नहीं है। वह अपनी सुन्दरता से लोगों के चित्त को आकर्षित करने के कारण या 'कान्हा' है, वो गायों की सेवा करने से 'गोपाल' या 'गोविन्द' है। वही 'यशोदानन्दन' है तो कंस का 'अरि' है। ऐसी दशा में प्रसङ्ग-विशेष पर प्र

अर्थ के समर्थन के लिए उपयुक्त नाम को खोज निकालना तथा प्रयोग करना ऊँची काव्यप्रतिभा का निदर्शन है।

अलंकारौचित्य

अलकार का औचित्य वहाँ होता है, जहाँ वह प्रकृतरस, सन्दर्भ या प्रकरण को सर्वथा पुष्ट करे। तभी वह भूषण का काम कर सकता है। अलकार का 'अलकारत्व' इसी मे है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। यदि इस कार्य के करने में वह समर्थ नही होता तो वह भूषण कविता-कामिनी के लिए भारभूत ही होता है। बिहारी की यह सूक्ति यथार्थ ही है —

वा सोने को जारिये जासे टूटे कान।

नीरस काव्य मे अलकारों की झकार केवल हमारे कानो को ही सुख पहुँचाती है, हृदय का आवर्जन तनिक भी नही करती। इसीलिए ऐसे रसहीन अलकृत काव्य को आलोचकगण काव्य की निम्नतम कोटि—चित्रकाव्य—में रखते हैं —

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिश बाला॥

किसी विरहिणी की दयनीय दशा का वर्णन है। वह बाला—दुख के सहने में नितान्त अक्षम सुन्दरी—रातो दिन यही कहा करती है—'यह कपूर का लेप मेरे शरीर से दूर करो। मोती की माला हटा डालो। कमलो की क्या जरूरत है? ए सखि, मृणाल का रखना एकदम व्यर्थ है। उसे दूर फेंको। ये हमारे शरीर में गर्मी बढा रहे हैं। चैन लाने की दवा मुझे बेचैन बना रही है। अत इन्हें हटा डालो'। इस पद्य में प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृङ्गार है। इसके प्रथमार्ध मे रेफ का अनुप्रास तथा उत्तरार्ध में लकार का अनुप्रास प्रकृत रस के नितान्त पोषक हैं। लकार का बहुल प्रयोग तथा गलितप्राय पदो का विन्यास विप्रलम्भ शृङ्गार के सर्वथा उत्कर्षक होते हैं। लकार का प्रयोग कितनी अधिकता से इस पद्य के उत्तरार्ध में किया गया है—अलमलमालि मृणालै वाला—में पाँच बार लकार का कवि ने प्रयोग किया है। लकार माधुर्य का सूचक होता है और वियोग शृगार में माधुर्य की उत्कृष्टता को बढाने के लिए यह अनुप्रास बडा ही सुन्दर बन पडा है।

वृत्तौचित्य

कविता में उपयुक्त छन्द का प्रयोग वृत्तौचित्य कहलाता है। प्रत्येक भाषा के छन्दों की एक विशिष्ट प्रकृति होती है—अपना एक खास स्वभाव होता है। वृत्तों में लघु तथा गुरु का चुनाव संगीत के तत्त्व पर आश्रित रहता है। सच्चा कवि वही होता है जो विषय के अनुरूप छन्दों का चुनाव करता है। संस्कृत के छन्दों में तथा हिन्दी के छन्दों में संगीतात्मक प्रवाह होता है। किसी विषय के लिए किसी भी छन्द का प्रयोग उचित नहीं होता। 'मालिनी' का प्रयोग वहाँ बड़ा सरस होता है जहाँ सौम्य-भाव से विषय का आरम्भ कर पीछे उग्रता दिखलाने का अवसर आता है। इसी प्रकार 'मन्दाक्रान्ता' का प्रयोग विरहोत्पादक विषयों के वर्णन में बहुत ही अच्छा जमता है। 'मेघदूत' के विरह वर्णन में प्रयुक्त मन्दाक्रान्ता कालिदास का इसीलिए सिद्ध छन्द माना जाता है। हिन्दी में 'घनाक्षरी' का प्रयोग संस्कृत के 'स्रग्धरा' के समान रोमहर्षण युद्ध तथा तत्समान भयङ्कर वस्तुओं के वर्णन में ही उचित प्रतीत होता है, उधर 'सवैया' का प्रयोग वसन्ततिलका तथा मालिनी के सदृश हृदय के कमनीय भावों की व्यञ्जना के अवसर पर विशेष फबता है। घनानन्द तथा भारतेन्दु के सवैये शृङ्गाररस से पूर्ण होने के कारण हिन्दी साहित्य में इसीलिए इतने प्रसिद्ध हैं। घनानन्द का यह 'सवैया' कितना औचित्यपूर्ण है —

पहलें अपनाय सुजान सनेह सौं क्यों फिरि नेह कौं तोरियै जू,
निरधार अधार दै धार-मँझार दई गहि बाँहि न बोरियै जू।
'घन आनँद' आपने चातिक कौं गुन-बाँधि लै मोह न छोरियै जू,
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं यौं बिष घोरियै जू॥

इसी प्रकार 'घनाक्षरी' या 'कवित्त' का प्रयोग ओजस्वी विषयों के वर्णन में सर्वदा किया जाता है जिसे पढ़कर श्रोताओं के हृदय में वीररस का संचार तत्क्षण हो जाता है। भूषण तथा पद्माकर के कवित्त इसी कारण हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। भूषण ने कवित्त छन्द का प्रयोग यहाँ बड़ी सफलता के साथ किया है —

साहितनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कविराज बेफिकिरि हैं।
झूलत झलमलात झूलैं जरबाफन की,
जकरे जँजीर जोर करत किरिकिरि हैं।

'भूषन' भँवर भननात, घननात घट,
पग झननात, मनो घन रहे घिरि हैं।
जिनकी गरज सुनें दिग्गज वेआव होत,
मद ही के आव गडकाव होत गिरि हैं॥

पदौचित्य

उचित पदो के चुनाव में भी कवि अपनी प्रतिभा का प्रयोग करता है। स्त्री के वाचक अनेक पद वर्तमान हैं जैसे अगना, सुन्दरी, ललना तथा तन्वी आदि। इन सबका प्रयोग उचित स्थान पर ही शोभा देता है। 'अगना' का अर्थ है सुन्दर अगवाली महिला, 'ललना' से अभिप्राय है वह नारी जो अपनी सुन्दरता के कारण स्त्री समाज को शोभित करती है। 'तन्वी' का तात्पर्य विरह वेदना से खिन्न तथा कृश शरीरवाली स्त्री से है। उचित स्थान तथा उचित सन्दर्भ के अवसर पर इनका प्रयोग सुन्दर लगता है। कालिदास ने इसीलिए यक्ष की विरहविधुरा पत्नी के लिए 'तन्वी' का बहुश प्रयोग किया है—यथा 'तन्वी श्यामा विरहविधुरा पक्व-विम्बाधरोष्ठी' आदि प्रसिद्ध पद्य में।

नवम परिच्छेद

दोष

दोष की कालिमा से मनुष्य की बड़ी ही अप्रतिष्ठा होती है। दोष दोष ही होता है, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, एक हो या अनेक हो, गुप्त हो या प्रकट हो। कामिनी का शरीर है बड़ा ही सुन्दर, अंगों की चारुता तथा सुन्दर बनावट रसिकों के चित्त को बरबस आकृष्ट कर रही है, परन्तु उसके भाल के ऊपर दीख पड़ता है एक छोटा-सा सफेद दाग। इस छोटे से दाग ने—सफेद कोढ़ के चिह्न से छोटे से—उस सुन्दर अप्सरातुल्य मनोरम रूप को सदा के लिए नगण्य कर डाला। सौन्दर्य की दृष्टि से उस रमणीरत्न का मूल्य कोयले से भी कम हो जाता है!!! कविता-कामिनी के शरीर में भी दोष का यही प्रभाव होता है। कितना भी सुन्दर, सरस तथा [illegible] काव्य क्यों न हो, यदि उसमें एक छोटी-सी भी व्याकरणसम्बन्धी त्रुटि खटकती हुई दीख पड़ती हो, तो सारा गुड़ गोबर हो जाता है। समग्र सरसता उस एक त्रुटि के कारण नीरसता के रूप में बदल जाती है। एक भी कर्णकटु शब्द कानों में मानो सुई चुभाने लगता है। चित्त में खिन्नता उत्पन्न कर देता है। 'तार्न्ये की प्राप्ति ही है जीवन का शुभलक्ष्य' वाक्य में प्रथम पद के उच्चारण में जीभ कितना आयास और व्यायाम करती है, [illegible] हुई जान पड़ती है। [illegible] न हो? कहने का अभिप्राय है कि दोषों से बचना कवि तथा लेखक का परम धर्म है। [illegible] से पहिले उसे दोषों से बचाना नितान्त आवश्यक है।

दोष का लक्षण

काव्यदोष का लक्षण है रस का अपकर्षक होना। जिन बातों से कविता में रस की [illegible] होती है उन्हें 'दोष' के नाम से पुकारते हैं। [illegible]

है कि काव्य में रस ही मुख्य वस्तु है। उसी की सत्ता के कारण काव्य में काव्यत्व का जन्म होता है और इसीलिए रस को अक्षुण्ण, अन्यून, पूर्ण तथा समग्र बनाये रखने की बडी आवश्यकता होती है। इस रस के ऊपर यदि किसी प्रकार आघात पहुँचा या कही से कमी आई या थोडा भी ह्रास हुआ, तो समझ लीजिए कि वह काव्य आलोचकों की दृष्टि में गिर गया, सम्मान पाने की योग्यता से वह हीन हो गया।

किसी गोपी के रूप का यह वर्णन काफी सुन्दर है, परन्तु इसमें 'छन्दो भग' नामक दोप के आ जाने से इसकी समग्र सुन्दरता जाती रही—

केसर तिलक ललाट वेसरि वानक मुख वेस।
सुरँग ओढनी सीस वन सी वट विथुरे केस॥

इस दोहे पर जरा ध्यान दीजिए। दोहे के प्रथम चरण की समाप्ति नियमानुसार 'वेसरि' शब्द के 'वे' के वाद ही हो जाती है। वहाँ पर विश्राम होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नही है। दोहे का तीसरा चरण 'वनसी' के 'वन' के पश्चात् ही पूरा होता है। वही पर विराम होना चाहिए। विराम का नियम यह है कि वह किसी शब्द के अन्त पर ही नियमत होता है, परन्तु यहाँ शब्दो के वीच में ही पडता है। अतएव यह 'यतिभग' नामक दोप हुआ। इस दोप के आ जाने से यह सरल दोहा नितान्त दुष्ट तथा उद्वेगजनक हो गया है।

दोषभेद

काव्य में रस की मुख्यता होने के कारण ही **रसदोष** मुख्य दोष माना जाता है। रसकी प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है, और अर्थ का ज्ञान शब्द के अधीन रहता है। फलत शब्द तथा अर्थ के दोषो का दरजा रसदोष से घट कर है। शब्द भी पद तथा वाक्य के रूप में काव्य में उपस्थित होता है और अर्थ के लिए उपयोगी होता है। इसलिए पद तथा वाक्य में होनेवाले दोष भी परम्परया रस का अपकर्ष करने में कारणभूत माने जा सकते है। पद के किसी अश में भी दोष पाया जा सकता है। इसे पदाश दोष कहते हैं। इस प्रकार सस्कृत के आलोचक आचार्यों ने दोषो का वर्णन वडे ही विस्तार तथा सूक्ष्मता के साथ किया है जो उनकी सूक्ष्म विवेचना तथा आलोचनापद्धति को सूचित करता है। दोष पाँच प्रकार का होता है—(१) पद दोष, (२) पदाश दोष, (३) वाक्य दोष, (४) अर्थ दोष, (५) रस दोष। इन

प्रत्येक प्रकार के नाना भेद-प्रभेदों के कारण दोष का प्रसंग काव्यजगत् में एक सुदीर्घ व्यापार माना जाता है। इन समस्त दोषों के दिखलाने का तथा उदाहरण द्वारा मीमांसा करने का यहाँ न अवसर है और न स्थान। इसलिए यहाँ चुने हुए ही दोष दिखलाये जाते हैं।

पददोष

सच्ची कविता के लिए कतिपय आवश्यक नियम आलोचनाशास्त्रियों को मान्य हैं जिनके उल्लंघन करने से दोषों का उदय होता है। कविता से तथा मधुरता से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। कविता में ऐसे ही पदों का प्रयोग करना चाहिए जो कानों को मधुर मालूम पड़े। परन्तु यदि शब्दों की बनावट टेढ़ी-मेढ़ी जैसी हो जाती है, तो वे कानों को खटकने लगते हैं। इसका नाम है (१) श्रुतिकटु दोष। इस उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिए—

"पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता"

यहाँ 'विषयोत्कृष्टता' तथा 'विचारोत्कृष्टता' शब्दों में अक्षरों का योग इतना बेढंगा है कि वे कानों को बेतरह तीखे लगते हैं।

कोई भी लेखक वाक्यों के विन्यास में व्याकरण की अवहेलना नहीं कर सकता। व्याकरण ही भाषा का प्राण ठहरा। उसकी उपेक्षा पदों को अशुद्ध बना डालती है। ऐसे व्याकरण-विरुद्ध पदों में (२) 'च्युत संस्कृति' या '[illegible]' नामक दोष होता है।

पदों के प्रचलन की भी बड़ी आवश्यकता होती है। कोशों में उल्लिखित होने पर भी यदि कवियों के द्वारा प्रयोग नहीं होता, तो वह पद (३) 'अप्रयुक्त' कहलाता है। संस्कृत में 'दैवत' शब्द कोश की दृष्टि से पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग दोनों है (दैवतः तथा दैवतम्), परन्तु कवियों द्वारा इसका प्रयोग पुल्लिंग में नहीं होता। अतः 'दैवत' का प्रयोग 'अप्रयुक्त' दोष माना जायेगा।

दो अर्थ वाले शब्द को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना (४) 'निहतार्थ' कहलाता है। न अनुचित अर्थ वाले, न निरर्थक और न अवाचक पदों का प्रयोग वांछनीय है। ऐसा करने पर क्रमशः (५) अनुचितार्थ, (६) निरर्थक तथा (७) अवाचक पददोषों का उदय होता है। ऐसे

ही शिष्ट शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। ऐसा प्रयोग न करने से (८) **अश्लील** तथा (९) **ग्राम्य** दोष उत्पन्न होता है। किसी पद में या वाक्य में कभी अर्थ समझने में सन्देह नहीं होना चाहिए। ऐसा प्रयोग ही न करे कि कहीं सन्देह के लिए भी गुंजाइश हो। यदि ऐसा होगा, तो वक्ता या लेखक का अभीष्ट अर्थ कभी समझ में नहीं आ सकता। ऐसा दोष (१०) **संदिग्ध** कहलाता है जो पद में, वाक्य में तथा अर्थ में भी हो सकता है।

वाक्य मे विधेय अंश का विमर्शन प्रधानरूप से होना उचित होता है। जिसका विधान करना होता है उसका निर्देश मुख्य रूप से अलग करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि विधेय अंश का प्रतिपादन मुख्यतया नहीं किया जाता और तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है जिसका अन्वर्थ नाम है—(११) **अविमृष्ट विधेयांश**। उदाहरण से इसका रूप समझा जा सकता है। यत् तथा तद् पदों का, जो और वह पदों का, नित्य सम्बन्ध रहता है। किसी वाक्य में यदि यत् (जो) शब्द का प्रयोग किया गया है, तो उसके अनन्तर वाले वाक्य में तत् (वह) शब्द का प्रयोग नितान्त उचित ही होता है। ऐसा न करना एक महनीय दोष होता है। '**जिसे** हमने कल बुलाया था, **वही** राम आज आया है' इस वाक्य मे जिसे तथा वही का प्रयोग बहुत ही ठीक है। यदि 'वही' शब्द 'जिसे' के पास ही कहीं रखा जाय, तो वह विधेय अर्थ की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं कर सकता। इस स्थान पर समास का भी मूल्य भली भाँति आँका जा सकता है। समास के भीतर प्रवेश कर जाने पर किसी पद का प्राधान्य लुप्त हो जाता है और वह गौण कोटि में चला आता है। ऐसी स्थिति में विधेय अंश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित व्यापार होता है। शिवजी का वर्णन करते समय कालिदास का कथन है—'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य-जन्मता' अर्थात् शरीर विरूप आँखवाला है तथा अदृष्ट जन्म होने का भाव वर्तमान है। कहना यह है कि शिवजी का जन्म **अलक्षित है**, परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया और प्राधान्य नष्ट हो गया। यह सर्वथा अनुचित है।

कतिपय दोषों के उदाहरण

(४) निहतार्थ

रे रे शठ नीरद भयो, चपला विधु चित लाइ।
भव मकरध्वज तरन को, नाँहि न और उपाइ॥

हे शठ, तुम अब नीरद (दांतरहित—बुड्ढे) हो गये हो। लक्ष्मी (चपला) तथा विष्णु (विधु) में चित्त को लगावो। संसार रूपी समुद्र को तैरने के लिए और कोई भी उपाय नहीं है। यहां 'नीरद' का प्रसिद्ध अर्थ है बादल, पर यहां प्रयुक्त है 'दांत-रहित' अर्थ में, 'चपला' का बिजुली, विधु का चन्द्रमा, मकरध्वज का कामदेव ही प्रसिद्ध अर्थ है, परन्तु इस दोहे में उनका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसलिए निहतार्थ दोष हुआ।

(९) अनुचितार्थ

तो ते पसु रणयज्ञ में अमर होहिं जग सूर।

जगत् में शूर लोग रणरूपी यज्ञ में पशु बनकर (याने मारे जाने पर) अमर हो जाते हैं। यहां योद्धाओं को पशु बनने की बात कहना कायरता सूचित कर रहा है। पशु परतन्त्र होकर मारा जाता है, परन्तु योद्धा तो स्वतन्त्र होते हैं। अतः पशु की उपमा अनुचितार्थ सूचित करती है।

(१०) संदिग्धार्थ

"वन्द्या तेरी लक्ष्मी, करी वन्दना तासु"

तेरी लक्ष्मी 'वन्द्या' है। उसकी वन्दना करो। 'वन्द्या' के दो अर्थ होते हैं—वन्दनीया तथा बन्दी बनाई गई। कवि को कौन अर्थ अभीष्ट है। इसका पता नहीं चलता। इसलिए यह सन्देहजनक होने से संदिग्धार्थक प्रयोग है।

वाक्य-दोष

ऊपर प्रधान पददोषों का ही उल्लेख किया गया है। इनमें से कतिपय दोष पद के अंश में भी विद्यमान रहते हैं तथा प्रायः समस्त पददोष वाक्यों में भी विद्यमान रहते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वाक्यदोष भी होते हैं जिनकी स्थिति केवल वाक्य में ही होती है। इनमें से कतिपय महत्त्वशाली दोषों का यहां निर्देश किया जा रहा है —

(१) प्रतिकूल-वर्णता—मुख्य रस के अनुकूल ही वर्णों का विन्यास काव्य में किया जाता है। शृंगाररस में कोमल वर्णों का मधुर तथा सुकुमार होना नितान्त

आवश्यक होता है। यदि इस सर्वमान्य नियम का उल्लघन किया जाता है, तो 'प्रतिकूल वर्णता' का दोष गले पतित हो जाता है।

(२) **न्यूनपदता**—(३) **अधिक पदता**—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए उतने ही शब्दो का प्रयोग किसी वाक्य में करना चाहिए। 'जितना अर्थ उतना शब्द' यही प्रख्यात नियम है। यह न होने से कम पद हो जाने पर 'न्यूनपदता' तथा अधिक पद होने पर 'अधिकपदता' का दोष आना अनिवार्य होगा।

(४) **अभवन्मत-योग**—वाक्य में शब्दो का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी-कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नही घटता। उदाहरण के लिए देखिए। यदि एक प्रधान वाक्य के साथ अनेक अवान्तर वाक्य प्रयुक्त हो, तो किसी अवान्तर वाक्य में प्रयुक्त पद का सम्बन्ध मुख्य वाक्य के साथ हो नही सकता। उदाहरण—'विद्यालय के जो अध्यक्ष गणितविद्या में पारगत हैं तथा जिनके ऊपर इस नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्ही की अभ्यर्थना है।' यहाँ आरम्भ में दो अवान्तर वाक्य है तथा अन्त में है मुख्य वाक्य। इन तीनो वाक्यो में 'अध्यक्ष' शब्द का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उसे प्रथम अवान्तर वाक्य में ही निविष्ट होने के कारण यह अभिमत सम्बन्ध जमता नही अर्थात् उसका सम्बन्ध अन्य दोनो वाक्यो के साथ सिद्ध नही हो सकता।

(५) **कथितपदता**—तो इतना स्पष्ट दोष है कि इसका निराकरण न करना अपनी महनीय शब्द-दरिद्रता दिखलाना है। लेखक को चाहिए कि एक ही भाव तथा भावना के प्रकट करने के लिए नित्य-नूतन पदावली का प्रयोग करे। एक बार कहे गये पदो को फिर वही दुहराना लेखक के शब्दभण्डार के दारिद्रय का सूचक होता है। इससे बचना प्रत्येक लेखक का कर्तव्य होना चाहिए।

(६) **भग्नप्रक्रमता**—निबन्ध अथवा कविता में **सामञ्जस्य** या **सतुलन** ऐसा महनीय नियम है कि इसका पालन होना नितान्त आवश्यक है। यदि कोई वाक्य कर्मवाच्य में आरम्भ किया जाय तो तत्सम्बद्ध वाक्यो को भी उसी वाच्य में समाप्त करना 'सतुलन' की उपासना है। इसी प्रकार प्रकृति, सर्वनाम, पर्याय, कारक, वचन आदि का आरम्भण जिस ढग से किया जाय, उसी ढग से उसकी समाप्ति भी अपेक्षित होती है। कवि कहना चाहता है कि सूर्य के अस्ताचल 'गमन' करने पर निशा भी चली जाती है। अस्त **गते** हन्त निशापि **याता**। 'गते' में गम् धातु है तथा 'याता'

में 'या' (=जाना) धातु। साधारण रीति से 'गमन' और 'यान' में अन्तर नहीं है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों में महान् अन्तर है। सूर्य तथा निशा—इन दोनों का जाना एक समान ही है—इस अर्थ की द्योतना के लिए 'याता' को बदलकर प्रक्रान्त धातु के अनुरूप 'गता' करना होगा।

वाक्यदोष के कतिपय उदाहरण

(१) प्रतिकूल-वर्णता

पिय तिय लुट्टत है सुरस, ठट्टि लपट्टि लपट्टि।

टवर्ग का बहुल प्रयोग रौद्र रस के अनुकूल है, परन्तु यहाँ शृंगाररस के प्रसंग में उनका प्रयोग प्रतिकूल है। अतः प्रतिकूल-वर्णता।

(२) न्यूनपदता

राज तिहारे खड्ग ते, प्रगट भयो जस फूल।

हे राजन्, तुम्हारे तलवार से यशरूपी फूल प्रगट हुआ। यहाँ यश को फूल कहा गया है। अतः 'खड्ग' को लता कहना चाहिए। लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष।

(३) अधिकपदता

डसै तिहारे शत्रु को, खड्ग लता अहिराज।

तुम्हारी तलवार-लता रूपी साँप शत्रुओं को डस रहा है। यहाँ 'लता' पद बिना किसी काम के ही रखा गया है। अतः 'अधिकपदता' दोष है।

(४) अभवन्मत-योग

प्राण प्राणपति बिनु रह्यो, अब लौं धृक ब्रजलोग।

आशय है कि प्राणपति श्रीकृष्ण के बिना प्राण अब तक रह गया। इसलिए ब्रज के लोगों को धिक्कार है। यहाँ प्राण को धिक्कार है जो कृष्ण के बिना भी रह गए। ब्रज के लोगों को धिक्कार नहीं। अतः धृक् का अभीष्ट योग इस वाक्य में ठीक-ठीक नहीं लगता।

(५) कथितपदता

रतिलीला-श्रम को हरत लीला या नहि पौन।

यहाँ 'लीला' शब्द का प्रयोग दो बार किया गया है जो कवि की शब्ददरिद्रता दिखलाता है।

(६) भग्नप्रक्रम

जहाँ रैनि जागे सकल, ताही पै किन जात।

जहाँ का सम्बन्ध 'वहाँ' से है। 'जहाँ' के बाद 'वहाँ' का प्रयोग उचित है। 'ताही पै' का प्रयोग 'जहाँ' के बाद होना प्रक्रम का भग करना है।

तू हरि की अँखिया बसी, कान्ह बसै तुव नैन।

कोई सखी किसी गोपी से कह रही है कि तुम तो श्रीकृष्ण की आँखो में बसी हुई हो और कृष्ण तुम्हारे नयन में बसे हैं। एक व्यवहार दिखलाना लेखक को अभीष्ट है। राधा तथा कृष्ण का व्यवहार समान ही है। इसके लिए आवश्यक है कि नेत्र वाचक शब्द एक ही हो। भिन्न शब्दो के प्रयोग से अर्थ मे भिन्नता होती है। अत 'अँखिया' के बाद 'नैन' का प्रयोग पर्याय का प्रक्रम भग है। यदि प्रथम चरण में "कान्ह नयन मे तू बसी" कहा जाय, तो दोष का परिहार हो जाता है।

ऐसे स्थल मे 'कथितपदता' का दोष नही होता। क्योकि एक ही शब्द के प्रयोग करने से एकाकार की प्रतीति अभीष्ट होती है। जैसे—

उदयहोत रवि रक्त अरु रक्तहि होवत अस्त।
सपति और विपत्ति में सज्जन होत न व्यस्त॥

यहाँ एकरूपता की सिद्धि के लिए रक्त शब्द की आवृत्ति दोष नही है। 'ताम्र' के प्रयोग करने पर प्रक्रम–भग हो जाता।

अर्थ-दोष

अर्थ की रुचिरता के निमित्त कतिपय नियमो का पालन अत्यन्त आवश्यक होता है जिनके उल्लघन करने से अर्थदोषों का उदय होता है। शोभन अर्थ के लिए आवश्यक है कि (१) उसके समझने में किसी प्रकार कष्ट होना नहीं चाहिए, (२) न अर्थो में किसी प्रकार का परस्पर विरोध ही हो, (३) सदा नवीन अर्थ की ही सूचना होनी चाहिए और एक बार प्रकट किये अर्थ को फिर प्रगट करना नितान्त अनुचित होता है। (४) अर्थ को शिष्ट तथा सभ्य होना चाहिए जिसके सुनने से किसी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न न हो। (५) अर्थ में किसी प्रकार का सन्देह न होना चाहिए। वाक्य के

सुनते ही एक ही अर्थ का बोध झटिति होना चाहिए। यदि वाक्य सुनने पर अर्थ का बोध तुरन्त नहीं होता, तो ऐसे अर्थ से लाभ ही क्या? (६) कोई भी अर्थ प्रसिद्ध बात से विरुद्ध नहीं चाहिए तथा (७) नाना विद्याओं में प्रकटित तथ्य का ही अनुसरण होना चाहिए। यदि उससे विरुद्ध बातों का वर्णन किया जायगा, तो नितान्त उपेक्षणीय माना जावेगा। (८) अर्थ में नवीनता आनी चाहिए। एक बार जिस अर्थ का प्रकटन कर दिया जाय, फिर उसी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए। (९) अर्थ को स्वतः पूर्ण होना चाहिए। अर्थ के समझने में आकांक्षा का होना एकदम अनुचित होता है। (१०) अर्थ को जान कर चित्त में न अमंगल की भावना होनी चाहिए और न उद्वेग उत्पन्न होना चाहिए। अर्थ की शोभनता के ये कतिपय आदरणीय नियम हैं जिनका पालन अर्थ को उपादेय बनाता है और इनके त्याग करने से क्रमशः इन अर्थ दोषों की उत्पत्ति होती है—(१) कष्टार्थ, (२) व्याहत, (३) पुनरुक्त, (४) ग्राम्य, (५) सन्दिग्ध, (६) प्रसिद्धि-विरुद्ध, (७) विद्या-विरुद्ध, (८) अनवीकृत, (९) साकांक्ष तथा (१०) अश्लील। इन अर्थ दोषों में से कतिपय दोषों के दृष्टान्त यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं —

कष्टार्थ

तो पर वारौं चार मृग, चार विहंग फल चार।

तुम पर मैं चार पशुओं को निछावर करती हूँ, नयन पर मृग, [illegible], गति पर हाथी तथा कटि पर सिंह। वचन पर कोकिला को, ग्रीवा पर कपोत को, केश पर मोर को तथा नासिका पर शुक को इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निछावर करती हूँ और चार फलों को भी—दन्त पर दाड़िम को, कुच पर श्रीफल को, अधर पर बिम्बफल को तथा कपोल पर मधूक को वारती हूँ। स्पष्ट ही इसका अर्थ करना नितान्त कष्टकारक है।

व्याहत

जहाँ किसी वस्तु का [illegible] फिर [illegible] होता [illegible] सूचक [illegible] वहाँ व्याहत दोष होता है।

जिनके [illegible] को चन्द्रमादि [illegible]।
मोहि कुमार [illegible] बिना [illegible] ॥

यहाँ पूर्वार्ध में अपने लिए चन्द्रकला की निन्दा है और फिर उत्तरार्ध में उसी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है। पूर्व का पर से व्याघात।

प्रसिद्धि–विरुद्ध

लोक में अप्रसिद्ध बात का जहाँ उल्लेख हो। कविजनो ने काव्य के लिए बहुत से सिद्धान्तो को मान रखा है जैसे तरुणी के पैरों के आघात से अशोक का खिल जाना, आदि। इन्हें 'कविसमय' के नाम से पुकारते हैं। कवि-समय का विरोध करने पर ही यह दोष होता है। अत काव्य में न लोक की प्रसिद्ध बातो का विरोध होना चाहिए और न 'कविसमय' का।

भूलि न जइयो पथिक! तुम तिहि सरिता-पथ ओर।
तरुणि-पदाहत-अकुरित नव-अशोक उहि ओर॥

पथिक को कोई उस नदी की ओर बढने से रोक रहा है जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरो के आघात से अकुरित हो उठे हैं। यहाँ कविसमय का विरोध है। तरुणी के पैरो की चोट से अशोक खिलता है, अकुरित नही होता। अत प्रसिद्धि-विरोध दोष है।

अनवीकृत

जहाँ अर्थो मे नवीनता नही लाई गई हो, बल्कि वे एक ही प्रकार के हो, वहाँ यह दोष होता है।

सदा करत नभ गौन रवि, सदा चलत है पौन।
सदा धरत भुवि शेष सिर, धीर सदा रहै मौन॥

चारो चरणो में 'सदा' के प्रयोग से अर्थ में नवीनता नही आई है। अत यह अनवीकृत दोष है।

साकाङ्क्ष

जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दो की आकाक्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोप होता है।

परम विरागी चित्त निज, पुनि देवन को काम।
जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यो तजिहैं वन राम॥

रामचन्द्र का चित्त तो स्वय परम वैराग्य से युक्त है। फिर देवताओ का काम ठहरा। जननी कैकेयी की इच्छा तथा पिता दशरथ का वचन ठहरा। राम ऐसी दशा

में वन को क्यों छोड़ेंगे? कहना चाहता है—वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। इस दोहे में 'जाइबे' पद की आकांक्षा है। 'क्यों न जांय वन राम' कहने से यह आकांक्षा मिट जाती है। अत यही प्रयोग ग्राह्य है।

प्रकाशित-विरुद्ध

जो अर्थ प्रकाशित किया गया है उससे विरुद्ध अर्थ का जहाँ प्रकाशन होता है, वहाँ यह दोष होता है।

राज्य लक्ष्मि को प्राप्त हो नृप! तव ज्येष्ठ कुमार।

हे राजन्! आपका जेठा कुमार राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करे। इस वाक्य से राजा के मरने का विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है। जेठा कुमार तभी राज्यलक्ष्मी प्राप्त करता है जब राजा का देहान्त हो जाता है। अत प्रकाशित अर्थ से विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष यहाँ है।

इसी प्रकार जहाँ किसी बात के कहने में नियम की आवश्यकता हो वहाँ नियम को न कहना अथवा इसके विपरीत अनियम में नियम कहना—दोनों दोष माने जाते हैं। इसी प्रकार जिस अर्थ को विशेष शब्द द्वारा कहना चाहिए उसे सामान्य शब्द से कहना अथवा सामान्य कथन के स्थान पर विशेष शब्द के द्वारा कथन—ये दोनों दोष होते हैं। इस प्रकार अर्थ के दोषों का विशेष वर्णन आचार्यों ने संस्कृत ग्रन्थों में किया है।

रसदोष

कहा गया है कि रसदोष भी काव्य में मुख्य दोष होते हैं और इनका होना खटकता ही है। रस के उन्मीलन के विषय में हमारे आचार्यों ने कतिपय आवश्यक नियमों का निर्देश किया है जिनका अनुपालन काव्य को सरस तथा उत्कृष्ट बनाता है और जिनके तिरस्कार करने से काव्य नितान्त तुच्छ, उद्वेजक तथा अनुपादेय बन जाता है। उन आवश्यक नियमों का प्रकार अनुशीलन उचित है।

(१) रस सर्वदा व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा उन्मीलित होता है। अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता। इसी नियम के अतिक्रमण का अभि-

चारी भावो के प्रकटीकरण के विपय मे भी जागरूक रहता है। इस नियम के उल्लघन करने से 'स्वशब्द वाच्यता' नामक रसदोप का उदय होता है। 'उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड पडा'—इस वाक्य में वीररस की सत्ता नितान्त अनुचित है। वीरता की अभिव्यक्ति विभाव आदि के द्वारा होनी चाहिए, न कि 'वीर' शब्द के प्रयोग करने से। फलत यह वाक्य इस रसदोप का परिचायक दृष्टान्त है।

(२) किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढग से होना चाहिए। यदि कष्ट कल्पना करने से इसका प्रकटीकरण हो, तो यह रसदोप है।

(३) विरोधी रस के विभाव आदि का ग्रहण नही करना चाहिए। शृगार का शान्तरस विरोधी होता है। फलत शृगाररस के वर्णन के अवसर पर शान्तरस के विभाव आदि का ग्रहण एकदम दोप माना जावेगा।

(४) रस का उद्दीपन वारम्वार नही करना चाहिए। अवसर आने पर रस का वर्णन एक वार ही सुन्दरता के साथ कर देना चाहिए। पुन पुन उस रस की दीप्ति दोष मानी जाती है। जैसे कुमारसम्भव में 'रति-विलाप' के समय करुण की वारम्वार दीप्ति अनुचित है।

(५) अचानक न तो रस का प्रस्तार करना चाहिए और न चलते हुए रस का उच्छेद ही करना चाहिए। इस नियम के तिरस्कार से 'अकाण्डे प्रथन' तथा 'अकाण्डे छेद' नामक दोषो की उत्पत्ति होती है।

(६) अङ्गी अर्थात् मुख्य पदार्थ नायक आदि का ही वर्णन काव्य में उचित है। अग का अत्यन्त विस्तार कभी न करना चाहिए। ऐसा करने से **'अङ्गातिविस्तृति'** नामक 'रसदोष' होता है।

(७) काव्य या नाटक में अङ्गी पदार्थ का वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है। उसका तिरस्कार कर उसे विल्कुल भुला डालना नितान्त अनुचित होता है।

(८) नाटक मे चित्रित पात्रो के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही होना चाहिए। प्रकृति अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं—(क) दिव्य=स्वर्ग में रहनेवाले देव, अप्सरा आदि, (ख) अदिव्य=पृथ्वीचारी जीव, (ग) दिव्या-दिव्य=दोनो गुणो से मिश्रित पात्र। इन रूपो के समान ही उनका कार्य-कलाप

काव्य-नाटक में चित्रित करना कवि का परम धर्म होता है। तभी तो यथार्थ होने से नाटक का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है। इसका उल्लंघन 'प्रकृति-विपर्यय' कहलाता है। यह नियम नाटक के लिए बहुत आवश्यक है। नाटक के रूप-विवेचन के अवसर पर हमने विस्तार के साथ दिखाया है कि नाटक लोक के ऊपर आश्रित रहता है और इसलिए लोकसिद्ध नियमों का पालन करना कवि के लिए बहुत ही आवश्यक होता है।

काव्य के दोषों में रसदोष ही अन्तरंग दोष स्वीकृत किया जाता है तथा अन्य दोष तदपेक्षया बहिरंग माने जाते हैं। दोषों का एक और भी वर्गीकरण आचार्यों ने किया है—(क) **नित्य दोष**, (ख) **अनित्य दोष**।

'**नित्य दोष**' से अभिप्राय उन दोषों से है जो अपने जीवन में सदा दोष ही बने रहते हैं और किसी भी दशा में अपने स्वरूप से विहीन नहीं होते। जैसे 'च्युत संस्कार' दोष। व्याकरण से अशुद्ध पद सदा ही दुष्ट होता है और वह हमेशा उद्वेगजनक होता है।

अनित्य दोष—उन दोषों को कहते हैं जो किसी अवस्था-विशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण रूप बन जाते हैं जैसे 'श्रुतिकटु' दोष। यह दोष तभी दोष है जब वहाँ शृंगाररस की स्थिति है। वीर या बीभत्स या रौद्र रस के विन्यास करने पर वहीं श्रुतिकटु दोष गुण बन जाता है, क्योंकि इन रसों में तो रूक्ष वर्णों के पद ओज गुण के अभिव्यञ्जक होने से वीर आदि रसों के सर्वथा उपकारक होते हैं। 'अधिक पदता' अवश्य दोष है, परन्तु भय तथा हर्ष में वक्ता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित तथा मनोवैज्ञानिक होता है। इसलिए यह इस अवस्था पर गुण ही माना जाता है। इस प्रकार अनेक दोष स्थान-विशेष में गुण भी बन जाते हैं।

दशम परिच्छेद

गुण और रीति

लोक में किसी व्यक्ति को हम अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखते है, उसका नाम सुनते ही हमारी भौहें तन जाती है और घृणा की भावना जाग पडती है। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है जिन्हें हम अत्यन्त सत्कार की दृष्टि से देखते है और जिनका नाम सुनते ही हमारा हृदय उनके प्रति आदर तथा सम्मान की भावना से भर जाता है। इस तिरस्कार और सत्कार की भावना के उदय का कारण क्या है ? पहिले मे दोपो की सत्ता तथा दूसरे मे गुणो का सद्भाव। शारीरिक दोपो के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोपो के कारण। उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणो के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य-जगत् की दशा भी ठीक ऐसी ही है। दोपो के कारण यदि काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवण-पेशलता के कारण प्रशसनीय होता है तथा श्रोताओ के हृदय को आकृष्ट करता है। महाकवि मतिराम का यह शारदा की स्तुति मे लिखा गया दोहा—

अग ललित सित रग पट, अगराग अवतस।
हसवाहिनी कीजियै, वाहन मेरो हस॥

श्रोताओ के हृदय को वलात् अपनी ओर क्यो खींचता है ? क्या कारण है कि इस छोटे से पद्य में श्रवण के साथ ही साथ चित्त को चमत्कृत करने की अद्भुत कला विद्यमान है ? इन प्रश्नो का एक ही उत्तर है—गुणो के सद्भाव के कारण, माधुर्य की सत्ता के कारण।

गुण का लक्षण

शौर्य आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर के साथ नहीं रहता, प्रत्युत आत्मा के ही साथ होता है। शरीर से दुबले-पतले आदमी को भी हम अत्यन्त शौर्यशाली काम करते इसी लिए पाते हैं कि उनके भीतर शूरता भरी रहती है अर्थात् उस मनुष्य की आत्मा शूर होती है। काव्य में भी ठीक यही दशा होती है। कहा गया है कि शब्द तथा अर्थ तो काव्य के शरीर होते हैं तथा रस ही आत्मा के स्थान पर होता है अर्थात् रस ही काव्य में मुख्य होता है और गुण मुख्य रस के ही धर्म होते हैं। इसी से उनका साक्षात् सम्बन्ध होता है।

गुण इस प्रकार काव्य की शोभा बढ़ानेवाले अन्तरंग धर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। वह शब्द तथा अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और इसलिए वह काव्य की शोभा बढ़ानेवाला बाहरी धर्म होता है। इतना ही नहीं दोनों में एक विशेष अन्तर यह भी होता है कि गुणों की स्थिति काव्य में सदा सर्वदा रहती है। ऐसा कोई काव्य नहीं होता जिसमें गुण कहीं न कहीं विद्यमान न हो। निर्गुण काव्य की रचना असम्भव है। परन्तु अलंकार के लिए यह अनिवार्य स्थिति नहीं होती। वह काव्य में साधारणतया रहता है, परन्तु उसके अभाव में भी काव्य का स्वरूप बना रहता है, यदि उसकी शोभा के आधायक अन्य तत्त्व जैसे रस आदि वर्तमान हों। गुण रस का सदा पोषक होता है, परन्तु अलंकार ऐसा नहीं होता। यदि रस वर्तमान रहता है, तो अलंकार शब्द या अर्थ के द्वारा उसका उपकार करता है। परन्तु यह दशा सदा नहीं रहती। अलंकार वर्तमान होकर भी कभी-कभी रस का कभी भी उपकार नहीं करता, प्रत्युत कभी-कभी तो वह उस रस के विरोधी भावों को पुष्ट करता है। इस प्रकार गुण तथा अलंकार में महान् अन्तर है—मौलिक भेद है। थोड़े में हम यह कहते हैं कि काव्य में सदा विद्यमान रहनेवाले (अचल स्थितिवाले) तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ानेवाले, रस के धर्म को गुण कहते हैं।

गुणों का भेद

गुणों की संख्या के विषय में प्राचीन आचार्यों में महान् मतभेद है। आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है और उनके नाम ये हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद (३) समता (४) समाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७)

सुकुमारता, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता, (१०) कान्ति। दण्डी ने भी गुणो की सख्या तथा अभिधान तो यही माना, परन्तु उनके स्वरूप के विषय मे काफी भिन्नता है। वामन ने इन गुणो को द्विगुणित कर दिया। शब्द तथा अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण इनके स्वरूप में वे विशेष अन्तर मानते हैं। भोजराज के हाथो इनकी सख्या में और भी वृद्धि हो जाती है, परन्तु इन सब गुणो का समावेश तीन ही गुणो के भीतर किया जाता है और इन गुणो के नाम हैं—(१) **माधुर्य**, (२) **ओज** तथा (३) **प्रसाद**।

लोक व्यवहार को ध्यान मे रखने से इन गुणो का स्वरूप भली भाँति ध्यान में आ सकता है। मान लीजिए हम किसी से प्रेमपूर्ण बाते कर रहे हैं, उस समय हम कठोर शब्दो का व्यवहार नही करते, बल्कि 'मीठी-मीठी' बाते करते है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध होकर बातें करते हैं, तो उस समय हम मीठी बातो का व्यवहार न कर 'कडे शब्दो' का व्यवहार करेगे। इसी प्रकार बिना प्रयत्न किये हम किसी से बातचीत करते हैं, तो उस समय हम 'सीधे-सादे' शब्दो का व्यवहार करते हैं। लेख लिखते समय या व्याख्यान देते समय हम विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नपूर्वक शब्दो का प्रयोग करते हैं, परन्तु बातचीत करते समय हम किसी प्रकार का प्रयत्न नही करते। हमारा ध्यान इसी बात की ओर रहता है कि हमारी बातो को दूसरा व्यक्ति आसानी के साथ समझता जाता है या नही। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इसी अनुभव का उपयोग हम काव्यगुणो के रूप को समझने के लिए भी भली भाँति कर सकते हैं।

गुणो का प्रयोग रसो को ध्यान में रखकर किया जाता है। जितने कोमल भाव-वाले रस हैं जैसे शृगार, शान्त, विप्रलम्भ आदि, इनकी कोमलता की रक्षा हम 'मधुर' शब्दो के प्रयोग के द्वारा कर सकते हैं। इसी प्रकार उग्र भाववाले रस जैसे वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसो की उग्रता का ठीक ठीक प्रदर्शन तभी हम कर सकते हैं, जब हम 'कठोर' शब्दो का प्रयोग करते हैं। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि कविता के द्वारा कवि अपने हृदय के भावो को दूसरो पर प्रकट करता है। यही उसका वास्तविक उद्देश्य है और इसलिए आवश्यक है कि कविता में न तो अप्रचलित शब्दो का प्रयोग हो और न क्लिष्ट शब्दो का, क्योंकि ऐसा करने से कवि अपने हृदय की बात को दूसरो तक भली भाँति जल्दी से जल्दी नही पहुँचा सकता। उस कविता से ससार को लाभ ही क्या है जिसे

'गुड़ समझे या सुदा समझे'। इसलिए कविता में सीधे-सादे, शीघ्र समझ में आने-वाले, बहुप्रचलित शब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है। कविता [illegible] [illegible] नहीं बनती, प्रत्युत श्रोताओं के हृदय को उसी प्रकार व्याप्त कर लेती है जिस प्रकार सूखे काठ में लगी हुई आग पूरे काठ को क्षण भर में पकड़ लेती है। भाव के प्रसार के लिए तथा उसे ठीक ठीक समझने के लिए 'प्रसादमयी' वाणी का प्रयोग नितान्त आवश्यक होता है। बोलचाल के इस प्रसिद्ध प्रकार पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि गुण मुख्यतया तीन प्रकार के हो सकते हैं और उनका विवेचन भी [illegible] [illegible] पर किया जाना चाहिए।

माधुर्य गुण

गुणों का नियमन वर्णों, समास तथा रचना के द्वारा होता है। माधुर्य गुण में ट, ठ, ड, और ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पञ्चम वर्ण पहिले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ तथा णकार ह्रस्व स्वर से युक्त होते हैं। समास का सर्वथा अभाव होता है या छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है। इस गुण में चित्त एकदम पिघल-सा बन जाता है। करुण, विप्रलम्भ तथा शान्तरस में माधुर्य क्रम से अधिक से अधिक प्रभावशाली होता है। देव कवि की यह सुन्दर घनाक्षरी माधुर्य गुण का रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत करती है —

मंद मंद चढ़ि चल्यौ चैत निसि चंद चारु,
    मंद मंद चाँदनी पसारत लतान तें।
मंद मंद जमुना-तरंगिनि हिलोरैं लेति
    मंद मंद मोद मनु मल्लिका सुमन तें।
"देव कवि" मंद मंद सीतल सुगंध पौन
    [illegible] छबि [illegible] [illegible] [illegible] तें।
मंद मंद मुरली बजावत अधर धरि
    मंद मंद निकसी मधुर मुसकान तें॥

ओज गुण

वर्गों के प्रथम वर्ण का द्वितीय से और तृतीय का चतुर्थ से योग (जैसे प्रच्छ, बद्ध आदि), रेफ के साथ किसी वर्ण का योग, किसी वर्ण का उसी वर्ण [illegible]

के साथ योग (जैसे वित्त, चित्त आदि) तथा ट, ठ, ड, ढ, श तथा ष का प्रयोग, दीर्घ समास तथा विकट रचना 'ओज' गुण के अभिव्यञ्जक होते हैं। भूषण कवि के कवित्त तथा भवभूति के पद्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ओज गुण चित्त के विस्तार का जनक होता है। वह वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसो मे क्रमश अधिकता से विद्यमान रहता है।

महाकवि भूषण का यह युद्ध का वर्णन करनेवाला छप्पय ओजगुण से पूर्णतया मण्डित है—

मुड कटत कहुँ रुड नटत कहुँ सुड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन।
भूत फिरत करि वृत्त भिरत सुरदूत घिरत तहँ।
चडि नचत गन मडि रचत धुनि डडि मचत जहँ।
इमि ठानि घोर घमसान अति 'भूषन' तेज कियो अटल।
सिवराज साहि-सुव खग्ग वल दलि अडोल वहलोल दल॥

प्रसादगुण

जव काव्य में ऐसे शब्दो का प्रयोग किया जाय, जो सुनते ही श्रोता के चित्त पर चढ जाय तथा समझ में आ जाय, तव वहाँ 'प्रसादगुण' की स्थिति होती है। इसकी स्थिति सव रसो में तथा सव रचनाओ मे होती है। माधुर्य तथा ओज के समान यह किसी रसविशेष के साथ सम्वद्ध नही रहता, प्रत्युत सव रसो का तथा सव रचनाओ का सावारण धर्म होनेवाला गुण है। इनका मुख्य रूप से सम्वन्ध रस के ही साथ होता है जो काव्य की आत्मा होता है। गौण रीति से इनका सम्वन्ध शव्द तथा अर्थ के साथ भी माना जाता है।

मतिराम की यह सवैया जो मानवती नायिका के स्वरूप का वर्णन करती है प्रसादगुण का सुन्दर दृष्टान्त है—

सो मनमोहन होत लटू मुख, जाके भटू विधु की छवि छाजै,
खोल कै नैनन देखै जो नेक तो, स्याम-सरोज-पराजय साजै।
जो विहसै मुख सुन्दर तो "मतिराम" विहान को वारिज लाजै,
वोलै अली मृदु मजुल वोल तो, कोकिल-वोलनि को मद भाजै।

इस सवैया को पढ़ते ही मानवती का रूप नेत्रों के सामने अनायास नाच सा हो जाता है। इस पद्य के समझने में पाठकों को किसी प्रकार बुद्धि को कष्ट देने की जरूरत नहीं होती। अतः यह प्रसादगुण से सर्वथा पूर्ण है।

रीति

लेखक अपनी रुचि तथा स्वभाव के अनुसार अपने हृदय के भावों को एक विचित्र प्रकार से प्रकट किया करता है। कोई लेखक साधारण अर्थ के प्रतिपादन के लिए असाधारण शब्दों का प्रयोग किया करता है, तो अन्य लेखक विशिष्ट भावों को प्रकट करने के लिए सामान्य शब्दों का व्यवहार करता है। अपने मनोगत भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए विभिन्न लेखक नवीन तथा विशिष्ट मार्ग का अवलम्बन किया करते हैं। कभी अर्थ तो एक ही होता है, परन्तु उसकी योजना, शब्द तथा वाक्य का विन्यास भिन्न-भिन्न कवियों तथा लेखकों के हाथ में भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी विशिष्ट लिखने के ढंग को शैली या रीति के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक लेखक की अपनी खास शैली होती है जिसमें वह लिखा करता है, चाहे वह थोड़ा लिखे या बहुत लिखे। इसीलिए जितने कवि हैं, उतनी रीतियाँ हैं। जितने लेखक हैं, उतनी शैलियाँ हैं। सम्भवतः आचार्य दण्डी का यह कथन नितान्त सत्य है कि रीतियाँ अनन्त हैं और उनका परस्पर भेद भी बहुत ही सूक्ष्म होता है। ईख, दूध, गुड़, चीनी तथा मिश्री का मिठास सामान्य रीति से एक ही प्रकार का मालूम पड़ता है, परन्तु विवेकी पुरुष बतलाता है कि यह मिठास वस्तुतः अलग-अलग है। दूध में मिश्री के मिठास का प्रवेश उसमें चीनी [illegible] उसे मीठा बनाना नहीं जानता। चीनी और मिश्री के मिठास का अन्तर तो साधारण जन भी समझ सकता है। उनके मिठास के पार्थक्य को ठीक-ठीक बतलाना एक टेढ़ी खीर है। शैलियों की भी यही विशिष्टता है। लेखकों की शैलियों का अन्तर इतना सूक्ष्म तथा बारीक होता है कि उसे ठीक-ठीक निर्धारण करना बड़ा कठिन व्यापार होता है। तथापि उन सूक्ष्म भेदों पर ध्यान न रखकर रीति के स्वरूप तथा प्रकार का एक सामान्य विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पदों की विशिष्ट रचना या संघटन का नाम रीति है। रीति की [illegible] शरीर में अंगों के संगठन के साथ दी जाती है। [illegible]

एक बनाये रहते हैं। यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायें, तो यह शरीर नितान्त कुरूप मालूम पडेगा। आँखें मुखमण्डल में ही रहकर शोभा पाती हैं। अगर उन्हें वहाँ से हटाकर कही अन्यत्र रखा जावेगा, तो शरीर को बहुत ही बेढगा बना देंगी। पदो के सघटन की भी यही दशा होती है। पदो को अपने अपने स्थानो पर रखने से ही कविता मे या निबन्ध मे चमत्कार आता है तथा एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। एक विशेष बात इस लक्षण मे ध्यान देने की है। रीति पदो की **विशिष्ट** रचना होती है, केवल रचना नही। वह पदो की **संघटना** होती है, केवल घटना नही। विचारणीय विषय है कि यह विशिष्टता क्या है? इस सघटना का सम्यक् रूप क्या है? जिसके उपस्थित होने से रीति का उदय होता है। विशिष्टता से तात्पर्य है—गुणो की सत्ता अर्थात् पदो की रचना में गुणो का निवास। इस प्रकार **रीति** का लक्षण है **पदों की वह रचना जिसमें काव्य-गुणो की स्थिति अवश्यमेव विद्यमान हो।**

रीति के भेद

रीतियाँ मुख्यतया तीन प्रकार की होती हैं—(१) **वैदर्भी**, (२) **गौडी**, (३) **पाञ्चाली**। गुणो के वर्णन प्रसग में ऊपर हमने दिखलाया है कि चित्त की मुख्यतया तीन दशायें होती हैं। पहली दशा का निदर्शन वह चित्त है जो किसी कोमल या करुणापूर्ण वाक्य को सुनकर एकदम पिघल उठता है। वह पहिले कितना भी कठोर क्यो न हो, करुण वाक्य सुनते ही वह नितान्त कोमल हो जाता है, ठीक मोम के समान। ऐसी दशा में माधुर्य गुण का उदय होता है और इसके ऊपर आश्रित होने वाली रीति **वैदर्भी** कहलाती है। चित्त की एक दूसरी दशा का नाम है दीप्ति-जिसमें चित्त सकोचभाव को छोडकर एकदम विस्तृत हो जाता है अर्थात् फैल जाता है ठीक फूल की पखुडियो के समान। ऐसी दशा में ओज (गुण) का प्रादुर्भाव होता है और इस गुण पर आश्रित होनेवाली रीति **गौडी** के नाम से विख्यात होती है। चित्त की एक तीसरी दशा भी होती है जिसे हम 'प्रसाद' या प्रसन्नता के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस अवस्था में चित्त पूर्वोल्लिखित दोनो अवस्थाओ के बीच में विद्यमान रहता है। न तो वह पिघलकर गलितप्राय हो जाता है और न वह दीप्त बनकर एकदम विस्तृत बन जाता है। वह नितान्त सरल तथा प्रसन्न रहता है क्योकि उसमें किसी प्रकार का कालुष्य या मल नही रहता ठीक निर्मल जल के

समान । इसी दशा में प्रसादगुण का उदय होता है जो आरम्भ से ऊपर की दोनों अवस्थाओं में भी विद्यमान रहता है। पाञ्चाली रीति वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवर्तिनी शैली है जिसमें सुकुमार वर्णों का प्राचुर्य रहता है।

'प्रसाद' गुण सब संघटनाओं का एक सामान्य गुण माना जाता है अर्थात् सब संघटनाओं में प्रसाद गुण का रहना अनिवार्य माना जाता है। इसका यही अभिप्राय होता है कि लेखक अपने भावों को श्रोताओं के हृदय तक ठीक ठीक पहुँचाता है और इसके लिए उसे ऐसे विशद शब्दों का प्रयोग करना चाहिए कि सुननेवाला व्यक्ति बिना किसी सन्देह के उसके भावों को ठीक ढंग से समझ ले। इसी में किसी रचना की सफलता होती है। यदि वाक्य सुनने के बाद श्रोता वक्ता के भाव को उसी क्षण नहीं समझ सका, प्रत्युत इधर-उधर को टटोलता फिरता रहता है, तो समझना चाहिए कि उसके कथन का ढंग बिल्कुल अव्यवस्थित है। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने 'प्रसाद' गुण को रीति का एक सामान्य गुण माना है जिसका पूर्ण निर्वाह करना प्रत्येक लेखक का कर्तव्य होता है।

रीति के कतिपय नियामक तत्त्वों का भी पता विभिन्न संस्कृत के आलोचकों के ग्रन्थों में मिलता है। वक्ता, वाच्य, विषय तथा रस का औचित्य रीति के प्रकार में नियामक माना जाता है। कवि के स्वभाव के ऊपर रीति आश्रित है। इसी से सौम्य वक्ता वैदर्भी का, परन्तु उद्धत वक्ता गौड़ी रीति का आश्रय लेकर अपने विचारों को प्रकट करता है। वाच्य अर्थात् वर्णित वस्तु के आधार भी रीति का निर्णय किया जाता है। आनन्दकन्द श्री [illegible] का वर्णन वैदर्भी में करना, परन्तु भयानक प्राणियों के उग्र तथा ओज का वर्णन गौड़ी रीति में ठीक जँचता है। इसी प्रकार काव्य के [illegible] रस भी रीति के प्रकार के लिए नियामक माने जाते हैं।

[illegible] हिन्दी [illegible] रीति [illegible] हैं तथा [illegible] गौड़ी रीति [illegible] हिन्दी में [illegible] गौड़ी रीति [illegible] [illegible] [illegible] हिन्दी [illegible] है —

रनित भृङ्ग घटावली झरत दान मधुनीर ।
मद मद आवत चल्यो कुजर कुज समीर ।।

इस दोहे मे माधुर्य गुण का प्रयोग बडी चिरता के साथ किया गया है । फलत यह वैदर्भी का सुन्दर उदाहरण है ।

गौडी रीति के दृष्टान्त के लिए महाकवि भूषण का यह कवित्त परिचय दे सकता है—

वद्दल न होहिं दल दच्छिन घमड माँहि,
घटा हू न होहिं दल शिवाजी हँकारी के ।
दामिनी दमक नाहिं खुले खग्ग वीरन के,
वीर सिर छाप लखु तीजा असवारी के ।
देखि देखि मुगलो की हरमैं भवन त्यागैं
उझकि उझकि उठै वहत वयारी के ।
दिल्ली मति भूली कहै वात घनघोर घोर
वाजत नगारे ये सितारे गढधारी के ।।

महाकवि मतिराम का यह दोहा प्रसाद गुण का सुचारु परिचायक है । इसके सुनते ही दोहे का अर्थ स्पष्ट ही समझ में आ जाता है । इसलिए यहाँ रीति 'पाञ्चाली' है ।

करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिये न रोष ।
नाह सनेह समुद्र में, वूडि जात सब दोष ।।
(सतसई)

रीति और कविस्वभाव

सस्कृत के आलोचको ने रीति के विषय मे एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वात कही है । उनका कहना है कि **रीति, लेखक तथा कवि के स्वभाव से साक्षात् सम्बन्ध रखती है** । मनुष्य के चरित्र में उसका स्वभाव ही सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है जो उसके मस्तक पर रहता है तथा लोगो को सदा आकृष्ट किया करता है । मनुष्य के आदर-सत्कार, मान तथा अपमान, पाने में उसका स्वभाव ही विशेषत कारण हुआ करता है । सौम्य स्वभाव का मनुष्य जहाँ समाज में आदर पाता है, वही उग्र स्वभाववाला व्यक्ति तिरस्कार तथा अपमान का भाजन बनता है। ऐसी स्थिति होने पर कवि-

स्वभाव को रीति के निर्वाचन में भी कारण मानना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। इसलिए कुन्तक नामक आचार्य की सम्मति में काव्य की रचना पर, उसके विशिष्ट प्रकार ग्रहण करने के ऊपर, शैली के निर्धारण पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है—लेखक के स्वभाव का, न तो उसके प्रान्त का और न तो उसके देश का।

स्वभाव अनन्त होने पर भी मोटे तौर से तीन प्रकार का होता है—(१) सुकुमार (२) विचित्र तथा (३) मध्यम। किन्हीं कवियों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी वस्तु का वर्णन स्वाभाविक ढंग से करते हैं, वे स्वाभाविक सौन्दर्य के उपासक होते हैं। बनावटी बातों से कोसों दूर रहते हैं और काव्य में रस तथा भाव के ऊपर ही उनकी दृष्टि गड़ी रहती है। ऐसे कवि सुकुमार स्वभाव के माने जाते हैं जैसे संस्कृत में वाल्मीकि और कालिदास तथा हिन्दी में सूरदास तथा तुलसीदास। ऐसे कवियों की रीति **सुकुमार मार्ग** ही कहलाती है जिसमें सरल तथा कोमल शब्दों के द्वारा हृदय के गूढ़ भावों का स्वाभाविक ढंग से वर्णन होता है। विचित्र स्वभाव-वाले व्यक्ति सजावट के विशेष प्रेमी होते हैं। उनका चित्त वस्तुओं को नाना प्रकार के अलंकारों के द्वारा सजाने, सुन्दर बनाने तथा उन्हें चमत्कृत बनाने की ओर विशेष रूप से रमता है। फलतः ऐसे व्यक्तियों के द्वारा निर्मित रचनाओं को हम विचित्र **मार्ग** के नाम से पुकारते हैं। नाना रंग-बिरंगे रत्नों से जटित गहने हृदय के ऊपर जो प्रभाव डालते हैं अथवा [illegible] जिस प्रकार का चमत्कार या चकाचौंध हृदय पर पैदा करती है वैसा ही प्रभाव अलंकारों से पूर्ण तथा आभरणों से मण्डित कविता हृदय पर डालती है। विचित्र मार्ग की कविता में **कलापक्ष** की ही विशेष उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के विरोधी तथा भिन्न-भिन्न छोरों पर विराजमान माने जाते हैं। इन दोनों के बीच में भी एक मार्ग **मध्यम मार्ग** है जिसकी उपासना मध्यम स्वभाववाले व्यक्ति किया करते हैं। इस मार्ग में न तो रस भाव की ही विशेष उपासना होती है, और न अलंकारों के अधिक सजावट पर ही विशेष ध्यान रहता है। बल्कि इन दोनों का [illegible] रहता है और इसमें दोनों पूर्व मार्गों के गुण तथा [illegible] मिश्रित रूप में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार सुकुमारमार्ग वैदर्भी रीति का, विचित्र मार्ग गौडी रीति का तथा मध्यम मार्ग पाञ्चाली रीति का ही रूपान्तर है।

इस प्रकार रीति को कविस्वभाव के ऊपर आश्रित मानकर सस्कृत आलोचना ने कविता के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्राचीन युग में ही प्रशस्त बनाया था, जिसकी विशिष्टता पश्चिमी आलोचक अभी मानने के लिए उद्यत हुआ है।

वृत्ति

ीति के अनन्तर 'वृत्ति' का विचार करना आवश्यक है। वृत्ति से हमारा तात्पर्य अभिधा आदिक शब्दव्यापारो मे नही है, प्रत्युत सात्त्वती आदिक नाटक में दृश्यमान वृत्तियो से है। नाटक मे वृत्ति का बहुत ही बडा महत्त्व होता है और इमीलिए वृत्तियाँ नाटक की मातायें कही जाती हैं, **(वृत्तयो नाट्यमातर)**।

'वृत्ति' का स्वरूप क्या है तथा नाटक में उसका महत्त्व क्या है? इन प्रश्नो का उत्तर देना नितान्त आवश्यक है। 'वृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति वृत् धातु से ति (क्तिन्) प्रत्यय के योग से होती है। वर्तन का अर्थ होता है जीवन और वृत्ति उस जीवन को सहायता पहुँचानेवाली जीविका है। इसलिए 'वृत्ति' का अर्थ हुआ पुरुपार्थ का साधक व्यापार, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देने-वाला व्यापार। वृत्ति का क्षेत्र तो नितान्त विस्तृत है और समस्त जगत् को व्याप्त करता है। काव्य तथा नाटक भी वृत्ति के क्षेत्र के भीतर हैं, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। आचार्य अभिनवगुप्त ने एक छोटे वाक्य मे वृत्ति के स्वरूप का विशद परिचय दिया है—

काय-वाङ्-मनसा चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तय.।

इसका अभिप्राय है कि नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टायें ही 'वृत्तियाँ' कहलाती हैं। भोजराज के अनुसार चित्त के विकास, विक्षेप, सकोच तथा विस्तार की दशा मे पात्रो के जो व्यवहार, व्यापार या वर्तन हुआ करते हैं, उन्ही का एक सामान्य नाम है—वृत्ति। अवस्थाओ का प्रभाव शरीर तथा मन दोनो पर पडता है। सूक्ष्म होने से मन पर प्रभाव पहिले पडता है और उसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर शरीर के ऊपर भी होती है। यदि कोई हट्टा-कट्टा आदमी एक गरीब दुर्बल व्यक्ति के ऊपर अनायास लाठी का प्रहार करता है, तो दर्शक के हृदय में क्रोध का उदय होना स्वाभाविक है। चित्त के क्रोधावेश मे आते ही शरीर की विचित्र दशा होती है—भौहें तन जाती हैं, मुखमण्डल

तमतमा उठता है, अधरपुट फड़कने लगते हैं और आँखों में रक्त दौड़ जाता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में ऐसा दर्शक जो कुछ व्यापार करता है जिससे उसके मन तथा शरीर की अवस्थाओं का पूरा प्रभाव पड़ता है वृत्ति कहलावेगा।

नायक की प्रवृत्ति नाटक में तो एक प्रकार की नहीं होती। वह रस तथा अवस्था के अनुरूप बदलती रहती है। किसी नाटक का नायक—जैसे रत्नावली का उदयन—शृङ्गारिकी चेष्टाओं में मग्न दीखता है, वह अपनी प्रेयसी सागरिका से मिलने के लिए नाना प्रकार की चेष्टायें करता है, तो दूसरे नाटक का नायक—जैसे वेणीसंहार में भीमसेन—युद्ध के कार्यों में लगा रहता है। वह संग्राम में पहुँचकर शस्त्र-अस्त्रों से अपने वैरियों को मौत के घाट पहुँचाता है, तो कभी वह रोष के आवेश में अपने शत्रुओं पर भीषण आक्रमण करता है। इससे स्पष्ट है कि नायक के स्वभाव के ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ अवस्था के भेद से तथा रस की भिन्नता के कारण नाना प्रकार की होती हैं। वृत्तियाँ मुख्यतया चार प्रकार की होती हैं—(१) भारती, (२) सात्वती, (३) कैशिकी तथा (४) आरभटी। इनमें से भारती शब्द-प्रधान होने से 'शब्दवृत्ति' तथा इतर तीन अर्थप्रधान होने से 'अर्थवृत्ति' के नाम से प्रख्यात हैं।

वृत्तियों के चार भेद

विचार करने पर हम यही कह सकते हैं कि नाटक में चार वृत्तियाँ ही हो सकती हैं। नाट्य है क्या? वचन तथा चेष्टा का सम्मिलन। रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर नट वचनों के द्वारा अपने मनोगत अभिप्राय का प्रकाशन करता है तथा नाना प्रकार की चेष्टायें दिखलाकर अपने भावप्रकाशन को स्पष्ट तथा पुष्ट करता है। वचन से सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति को 'भारती' कहते हैं। [illegible]—[illegible]। [illegible] वाक्-चेष्टा पर आश्रित वृत्ति का नाम भारती [illegible]। चेष्टा भी दो प्रकार की होती है—आङ्गिक अभिनय तथा [illegible] अभिनय। [illegible] [illegible] सात्वती वृत्ति। [illegible]

का होता है। जब क्रोध, भय आदि उग्र भावों का प्रदर्शन अभीष्ट होता है, तब चेष्टा भी तदनुरूप ही उग्र होती है। यह उग्र व्यापार या उग्र आंगिक अभिनय **आरभटी वृत्ति** हुआ। इसके विपरीत सौम्य आंगिक अभिनय के द्वारा नट सौम्य भावों—जैसे प्रेम, रति, हास्य आदि—को दिखलाता है। मृदु संभाषण, संगीत तथा नृत्य के द्वारा नाटकीय पात्र नाटक में सौकुमार्य का प्रदर्शन करता है। यह मृदुल आंगिक अभिनय होता है—**कैशिकी वृत्ति**। इस प्रकार चार वृत्तियाँ नाट्य तथा लोक के क्षेत्र को व्याप्त करती हैं। अभिनवगुप्त की शब्दावली में भारती वाक्-चेष्टा, वाचिकाभिनय या पाठ्य है, सात्त्विकी मनश्चेष्टा या सात्त्विकाभिनय है। **कायचेष्टा** दो प्रकार की है—उग्र तथा सौम्य—आरभटी तथा कैशिकी। इस प्रकार वृत्ति-चतुष्टय की कल्पना सर्वथा न्याय्य तथा प्रमाणिक है।

वृत्ति और रस

नाटक में वृत्तियों की योजना का प्रधान अभिप्राय दर्शकों के हृदय में रस तथा भाव का संचार करना है। नाट्य का प्रधान लक्ष्य रस का आविर्भाव है। नाटक में अन्य जितने कार्य हैं वे सब आनुषङ्गिक हैं। प्रधान फल की ओर सफल कवि की दृष्टि सदैव जागरूक रहती है। रसोन्मेषरूपी फल यदि सिद्ध नहीं होता, तो चित्र-विचित्र सामग्रियों से सुसज्जित होने पर भी तथा अभिनय के आकर्षक होने पर भी वह नाटक दर्शकों के मन का न तो अनुरंजन कर सकता है और न अपने उद्देश्य की पूर्ति में ही सफलता लाभ कर सकता है। इसी लिये भरतमुनि ने वृत्तियों का सम्बन्ध विभिन्न रसों के साथ स्थापित कर दिया है।

कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृङ्गार तथा हास्यरस के प्रसङ्ग में किया जाता है। सात्त्वती का वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में, आरभटी का भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसों में तथा भारती का करुण तथा अद्भुत रसों में प्रयोग किया जाता है। पिछले नाट्यकारों ने भी वृत्ति और रस के इस सामञ्जस्य को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है —

शृङ्गारे चैव हास्ये च, वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया॥
भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्भुत-संश्रया॥

(नाट्यशास्त्र २२।६५–६६)

भारती वृत्ति

संस्कृतमयी तथा वाक्प्रधाना है। भरतमुनि के अनुसार जिस वृत्ति में संस्कृत वाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों के द्वारा प्रयोग में लाई गई हो, जो स्त्रियों में सर्वथा वर्जित हो, उसे भरतों (नटों) के द्वारा सदा प्रयोज्य होने से भारती वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति के चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना (२) आमुख (३) वीथी (४) प्रहसन।

सात्वती वृत्ति

इस वृत्ति का नामकरण सत्त्व-शब्द के योग से हुआ है। सत्त्वशाली पुरुषों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण यह वृत्ति 'सात्त्वती' नाम से अभिहित की जाती है। भरतमुनि के अनुसार इस वृत्ति में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। न्यायसम्मत वृत्त का विधान रहता है, हर्ष से यह उद्भट रहती है तथा इसमें शोक का सर्वथा अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे बलशाली पुरुष की जो वीरभावापन्न चेष्टायें होती हैं उन्हीं का अवलम्बन कर इस सात्त्वती वृत्ति की स्थिति रहती है।

कैशिकी वृत्ति

कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति 'केश' शब्द से स्पष्ट ही ज्ञात पड़ती है। इसी लिये भरतमुनि ने इस वृत्ति का सम्बन्ध भगवान् विष्णु के द्वारा केशपाश बाँधने से दिखलाया है। मधुकैटभ-युद्ध में भगवान् विष्णु ने इन दोनों असुरों से युद्ध करने के लिए जो अपना केशपाश बाँधा उसी से कैशिकी वृत्ति आविर्भूत हुई। भरत ने इसका लक्षण दिखलाते हुए बतलाया है कि जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य के विधान से विशिष्ट हो, सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित हो, स्त्रियों से युक्त हो, जिसमें नाचने और गाने की बहुलता हो, उसे काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से सम्पन्न होने से ही 'कैशिकी' नाम से पुकारा जाता है। इसके चार भेद हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्म-गर्भ।

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति आरभट शब्द से हुई है जिसका अर्थ है साहसी तथा उद्धत पुरुष। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का निर्देश होता

भाँति हो जाता है। इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में नाटयशास्त्र मे लिखा है कि जिस वृत्ति में मायाजनित इन्द्रजाल का वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने तथा लाँघने आदि की विचित्र योजना हो, उसे 'आरभटी' वृत्ति कहते हैं। इनके चार भेद होते हैं—सक्षिप्तक, अवघातक, वस्तु-स्थापन तथा सफेट।

प्रवृत्ति

आज भी भारतवर्ष के भिन्न प्रदेशो मे पात्रो की वेशभूषा तथा अभिनय-सगीत का प्रकार एक समान नही है। बगालियो की वेशभूषा एक विचित्रता लिये हुए हैं—वहाँ की स्त्रियो का केशपाश इतना रुचिर होता है कि भारतवर्ष मे इतनी सुन्दरता तथा रुचिरता अन्य प्रान्तो की स्त्रियो के कचकलाप मे शायद ही मिले। बगालियो की ढीली धोती तो प्रसिद्ध ही है। मराठो की पगडी, रहन-सहन, दम्भ तथा स्वाभिमान-भरे वचन स्वतन्त्र रूप से अलग ही दीखते हैं। उधर द्रविडो का पहनावा तथा श्लोको को गा-गाकर पढना तथा अभिनय की विचित्रता दर्शक को आकृष्ट किये बिना नही रहती। इसी लिए इन प्रान्तीय विशिष्टताओ से मण्डित वहाँ के अभिनय में भी विचित्रता होती है। नाटक की इन्ही शैलियो को **प्रवृत्ति** के नाम से आचार्य लोग पुकारते हैं। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाटचशास्त्र में विद्यमान है और इसी का अनुसरण राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' में बहुश किया है।

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति के रूप में पार्थक्य है। उनके लक्षण हैं—**वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति। विलास-विन्यासक्रमो वृत्ति। वचन-विन्यास-क्रमो रीति** अर्थात् वेप के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है, विलास का विन्यास वृत्ति है तथा वचनो का विन्यासक्रम रीति है। निष्कर्ष यह है कि राजशेखर के अनुसार रीति का सम्बन्ध वचनो की रचना से, वृत्ति का व्यापार से तथा प्रवृत्ति का वेपभूषा तथा बाहरी सजावट से है। सक्षेप में इन तीनो का पारस्परिक विभेद यहाँ सरलता से दिखलाया गया है। '**प्रवृत्ति**' का अर्थ है नाना देशो की वेप-भूषा, भाषा, आचार, वार्ता आदि का ख्यापन करनेवाला साधन। 'प्रवृत्ति' की सख्या चार है—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३) पाञ्चाली, (४) औड्रमागधी। भारतवर्ष को चार विभागो में विभक्त करने से यह चार भेद सम्पन्न होते है। भारतवर्ष के पश्चिम भाग में **आवन्ती,** विन्ध्यपर्वत से दक्षिण भारत में **दाक्षिणात्या,** पूरबी भारत में **औड्रमागधी** तथा मध्य और उत्तर भारत में **पाञ्चाली** प्रवृत्ति का क्षेत्र माना गया

है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के चतुर्दश अध्याय में इन देशों का तथा तत्सम्बद्ध प्रवृत्तियों का विशेष वर्णन किया है। परन्तु यह वर्णन इतना न्यून है कि इन प्रवृत्तियों का वैशिष्ट्य भली भाँति लक्षित नहीं होता। दाक्षिणात्यों के विषय में भरत का कथन है कि वे नृत्य, वाद्य तथा गीत के विशेष प्रेमी होते हैं, कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य होता है तथा उनका अङ्गाभिनय चतुर, मधुर तथा ललित होता है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति की यही विशेषता लक्षित होती है। 'आवन्तिका' प्रवृत्ति में सात्वती और कैशिकी वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। औड्रमागधी का क्षेत्र अङ्ग तथा उड्र (उड़ीसा) से सम्बद्ध भारत के पूर्वी प्रान्त हैं। पाञ्चाली में सात्वती तथा आरभटी की प्रधानता रहती है। यहाँ गीत और लय का कम ही प्रयोग होता है तथा एक विशिष्ट प्रकार का प्रयोग होता है। काव्यमीमांसा के वर्णन से भी इन प्रवृत्तियों के स्वरूप का यत् किञ्चित् परिचय हमें प्राप्त होता है।



एकादश परिच्छेद

वक्रोक्ति सिद्धान्त

किसी महाविद्यालय का एक सुन्दर कक्ष है। विद्यार्थियो का खासा जमघट है। नाना प्रकार के साहित्य-सिद्धान्तो की चर्चा बडे जोरो से चल रही है। छात्र ध्यानमग्न की दशा मे अपने अध्ययन में सलग्न हैं। इतने मे अध्यापक ने विस्मय-भरे विलोचनो से देखा कि दरवाजे के सामने एक विशालकाय लम्बी डील-डीलवाला आदमी हाथ मे भारी-भरकम लट्ठ लिए हुए छात्रो को घूर-घूरकर देख रहा है। अध्यापक जी बोल उठे—यह देखो, आज हमारा पुण्य कितना विशाल है, साक्षात् वामन भगवान् हाथ में दण्ड लिए हुए हमे दर्शन देने के लिए बरामदे में खडे दीख पडते हैं। अध्यापक के वचनो से छात्रो का ध्यान उधर आकृष्ट होता है और वे सबके सब आनन्द से चिल्ला उठते हैं—धन्य है हम! धन्य हमारे भाग्य!!!

यही है **वक्रोक्ति**—अध्यापक जी के वचन वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं!

एक दूसरे विद्यालय में चलिए। विद्यालय अभी गर्मी की छुट्टी के बाद खुला है। छात्र एक दूसरे से अपरिचित ही हैं। अध्यापक भी छात्रो से परिचय करने में व्यस्त हैं और एक-एक छात्र से वे प्रश्न पूछकर परिचय पा रहे हैं। एक से वे पूछते हैं—तुम कहाँ से आये हो? दूसरे से वे पूछते हैं—तुम किस विद्यालय के छात्र हो? परन्तु तीसरे से उनके पूछने का ढग बिल्कुल विचित्र है। वे पूछते हैं—कहिए, वह कौन-सा विद्यालय है जिसके छात्रो तथा अध्यापको को आपने अपने विरह से उत्सुक बनाकर इस विद्यालय मे पधारने का क्लेश स्वीकार किया है? इस प्रश्न को सुनते ही सब लडको के होठो पर मुसकराहट बिखर उठती है। वे इस प्रश्न के ढग पर रीझ कर आनन्द से एक साथ बोल उठते हैं—क्या ही सुन्दर प्रश्न पूछने का ग है? यह तो साधारण बात नही है, यह तो कवित्व है!!!

यही है वक्रोक्ति। अध्यापक का अन्तिम प्रश्न वक्रोक्ति से स्निग्ध होने के कारण ही इतना मग्न, मनोरम तथा चमत्कारी है। ठीक है, 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'। कुन्तक का कथन ठीक ही है कि वक्रोक्ति काव्य का जीवन है, सर्वस्व है, प्राण है।

त्रिविध शब्द

भाषा के द्वारा ही मानव अपने भावों को प्रकट करता है। लोक व्यवहार तथा भाव के प्रकाशन का एकमात्र आधार शब्द ही होता है। इसीलिए महाकवि दण्डी ने शब्द की उपमा ज्योति के साथ दी है। यदि ज्योति संसार में न हो, तो यह घनघोर अन्धकार मय हो जायेगा। इसी प्रकार शब्द की सत्ता न होने से यह संसार भी अँधेरी रात की तरह एक भयानक स्वप्न बन जायगा। शब्द का उपयोग दोनों करते हैं—काव्य तथा शास्त्र। दोनों का तात्पर्य होता है अपने विचार को जनता के हृदय तक समझाकर पहुँचाना। आलोचकों ने वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दों को तीन भागों में विभक्त किया है—वेद-शब्द, शास्त्र-शब्द तथा काव्य-शब्द। श्रुति में शब्दों की प्रधानता होती है। वैदिक मन्त्र में प्रयुक्त शब्द न तो अपने स्थान से हटाया जा सकता है और न पर्यायवाची शब्दों से बदला ही जा सकता है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्'—पुरुषसूक्त के इस प्रसिद्ध मन्त्र में न तो कोई शब्द अपने स्थान से हटाया जा सकता है और उन्हें हटाकर इनके समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। वेद-शब्द लोक में प्रभु या राजा की आज्ञा के समान है। शास्त्रों का शब्द अर्थप्रधान होता है। शास्त्र अपने [illegible] के द्वारा पाठकों के सामने अपना उपदेश प्रकट करता है। वह किसी प्रकार का आग्रह नहीं [illegible] कि तुम ऐसा [illegible] ही करो। वह केवल समझा देता है, आदेश नहीं। [illegible] से [illegible] होते हैं। यहाँ न शब्द की प्रधानता रहती है, न [illegible], यहाँ [illegible] की। कविता में कहने के ढंग में ही विचित्रता होती है। [illegible] प्रभु, सुहृद् तथा कान्ता के [illegible] ही [illegible] है।

इन [illegible] में शब्द की प्रधानता [illegible]। [illegible] 'रस' [illegible] सुहृद् के [illegible] के समान होती है। [illegible] उपदेश देता है। [illegible]

हैं। उसके कहने का ढग ही इतना सुन्दर तथा रसमय होता है कि वह चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यदि अलकारो की समानता अपेक्षित हो, तो हम कह सकते हैं कि वेद मे प्रधानता है 'रूपक' अलकार की, शास्त्र मे 'स्वभावोक्ति' की और काव्य मे 'वक्रोक्ति' की। वक्रोक्ति काव्य का सर्वस्व हैं, जीवनाधायक तत्त्व है जिसके बिना काव्य अपने असली रूप से गिर जाता है और उस चमत्कार से विरहित हो जाता है जो सहृदयो के हृदय को खिलाता हैं, अलौकिक आनन्द पैदा करता है तथा चित्त को आकृष्ट कर उसे भव्यता मे भर देता है। रहीम का यह दोहा 'वक्रोक्ति' के कारण ही इतना मञ्जुल तथा चित्त मे चुभनेवाला बन गया है—

मनसिज माली की उपज, कहि 'रहीम' ना जाय।
फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम दृग आय॥

रहीम कवि की इस सूक्ति के चमत्कार पर ध्यान दीजिए। कामदेव नामक माली की अद्‌भुत कला का वर्णन कोई भी सचेता नही कर सकता। राधिकाजी के उर मे तो फल लगते हैं और उन्हे देखकर श्रीकृष्ण के नेत्रो मे फूल लग जाते है!!! जगत् का नियम है कि पहले फूल लगता है, तब पीछे फल पैदा होता है और सो भी उसी स्थान पर। यहाँ तो विलक्षण चमत्कार है। श्री राधिका के शरीर में युवावस्था की सुषमा अपने चरम उत्कर्ष पर है। उसके शरीर में उरोजो के निकलने को कवि फल लगना कहता हैं जिन्हें देखकर श्रीकृष्ण के नेत्र फूल आये हैं अर्थात् आनन्द से पूर्ण हो गये हैं। इस दोहे में फूल तथा फल के स्वाभाविक क्रम का व्यतिक्रम दीख पडता है और वह भी भिन्न स्थानो पर। 'दृग फूल आना' का मुहावरा कितनी सुन्दरता से प्रयुक्त किया गया है यहाँ। कहने का ढग कितना विचित्र है!!! वक्रोक्ति के कारण ही यहाँ सौन्दर्य झलक रहा है।

वक्रोक्ति का स्वरूप

'वक्रोक्ति' का अर्थ है वक्र उक्ति, बाँका कथन, टेढी उक्ति। उक्ति की वक्रता क्या है? किसी बात को अलौकिक रूप से प्रगट करना। बात कहने के दो ढग होते है—एक सामान्य रूप से समाचार पूछना या कहना (जिसे वार्ता कहते है)। और दूसरा विशिष्ट रूप से बात कहना। तालाब में कमल खिलने का वर्णन दो प्रकार से किया जा सकता है। इतना ही कहना कि 'तालाब मे सुन्दर कमल खिले हैं'

केवल वार्ता है, स्वभाव-कथन है। परन्तु इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट करना कि 'किसी सुन्दरी के मुख की समता पाने के लिए कमल जल में एक पैर से खड़ा होकर तपस्या कर रहा है' वक्रोक्ति है, क्योंकि यहाँ वही बात एक नवीन ढंग से कही गई है। इसीलिए वक्रोक्ति का अर्थ है—

लोकातिक्रान्तगोचरं वचः (भामह), लोक को अतिक्रमण करनेवाला वचन। अभिनवगुप्त के शब्दों में शब्द तथा अर्थ की वक्रता है उन दोनों की लोक से उत्तर या अतिक्रमण से स्थिति या अवस्थान। अर्थात् साधारण जन अपने भावों को प्रकट करने के लिए जिन सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग किया करते हैं उनसे भिन्न शब्द तथा अर्थ का प्रयोग करना। शब्द तथा अर्थ की लोकोत्तर रूप से काव्य में स्थिति वक्रता कहलाती है। वक्रोक्ति के आचार्य कुन्तक का भी यही मत है। उन्होंने 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन माना है और वे ही वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वश्रेष्ठ अलंकार मानकर उसका बहुत ही सुन्दर लक्षण किया है—**वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते।** इस लक्षण के तीनों शब्दों के अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। 'वैदग्ध्य' का अर्थ है विदग्धता अथवा कविकर्म की कुशलता। 'भङ्गी' का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार या चारुता। 'भणिति' से तात्पर्य है कथन। इन तीनों शब्दों को एक साथ मिलाकर हम थोड़े में कह सकते हैं कि वक्रोक्ति कविकर्म की कुशलता से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होनेवाला कथन-प्रकार है अर्थात् वक्रोक्ति कथन का ढंग है जिसमें कवि की प्रतिभा से काव्य चमत्कार उत्पन्न होता है। [illegible] आचार्यों में कुन्तक एक विशिष्ट आचार्य हैं जिनका विवेचन [illegible] लोग उन्हें '[illegible]' के नाम से भी पुकारते हैं। काव्य [illegible]

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के निम्नलिखित ६ भेद स्वीकार किये हैं —

(क) वर्ण-विन्यास वक्रता
(ख) पद-पूर्वार्ध वक्रता
(ग) पद-परार्ध वक्रता
(घ) वाक्य-वक्रता
(ङ) प्रकरण-वक्रता
(च) प्रबन्ध-वक्रता

वर्ण-विन्यास-वक्रत्व पदपूर्वार्ध-वक्रता ।
वक्रतायाः परोप्यस्ति प्रकार प्रत्ययाश्रय ॥
—वक्रोक्ति १।१२

वक्रोक्ति के भेद बड़े व्यापक तथा साङ्गोपाङ्ग हैं। प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई वर्ण या अक्षर है। अक्षरो का ही समुदाय विभक्ति रहित होने पर 'प्रातिपदिक' या 'प्रकृति' कहलाता है। विभक्ति से युक्त होने पर 'पद' कहलाता है। सुप्तिङन्त पदम्। पद के दो विभाग हैं—प्रकृति तथा प्रत्यय। इसीलिए कुन्तक ने पद मे दो प्रकार की वक्रता स्वीकार की है। एक वक्रता वह है जो उसके पूर्वार्ध में निवास करती है और दूसरी वक्रता वह है जो पद के उत्तरार्ध में निवास करती है। इसको **प्रत्यय-वक्रता** भी कहते हैं। पदो के समुच्चय से वाक्य बनता है और वाक्यो के समुदाय से प्रकरण की रचना होती है। अनेक प्रकरण मिलकर एक विशिष्ट प्रबन्ध तैयार करते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होनेवाली वक्रताओ का पूर्ण श्रेणी-विभाग सुन्दर रीति से किया है। कविव्यापार के द्वारा उत्पादित वक्रता इन्हीं स्थानो में निवास करती है।

(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता—

यह अक्षरो के विन्यास मे रहती है। अन्य आलकारिक अनुप्रास ओर यमक के भीतर जिन विषयो का निरूपण करते हैं, उनका विवेचन इस वक्रता के भीतर किया गया है।

(२) पद-पूर्वार्ध वक्रता—

इसके अन्तर्गत पर्याय (समानार्थक शब्द), रूढि (प्रयोग से आनेवाले शब्द), उपचार, विशेषण, संवृत्ति वृत्ति (समास तथा तद्धित प्रत्यय), भाव (धातु), लिङ्ग और क्रिया के विशिष्ट प्रयोगों का विवेचन किया गया है।

(३) पद-परार्ध वक्रता—

पद का उत्तरार्ध 'प्रत्यय' हुआ करता है। अतः इसे प्रत्यय-वक्रता के भी नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार के अन्तर्गत काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह (कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य भेद से तीन प्रकार का वाच्य), निपात, अव्यय, आदि के विशिष्ट प्रयोगों का महत्त्व तथा साहित्यिक सौन्दर्य प्रदर्शित किया गया है।

(४) वाक्य-वक्रता—

वाक्य में होनेवाली वक्रता के अनन्त भेद हैं। यह कविप्रतिभा के ऊपर अवलम्बित रहती है। कवियों की प्रतिभा को अनन्त होने के कारण से उसका कथमपि नियमन नहीं किया जा सकता। जिस बात को कवि एक प्रकार से प्रयोग करता है उसे ही किसी दूसरे कवि की प्रतिभा प्रकारान्तर से प्रस्तुत करती है। अतः कविप्रतिभा के आनन्त्य से वाक्य-वक्रता के प्रकार भी असंख्यात हैं। इसी के अन्तर्गत समग्र अलङ्कारवर्ग का विवेचन किया गया है। यहाँ कुन्तक ने रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित नामक अलङ्कारों का भी विशिष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। प्राचीन आलङ्कारिकों से कुन्तक की शैली इस विषय में स्वतन्त्र है। पूर्व आलङ्कारिक जहाँ रसवद् आदि अलङ्कारों में रस को गौण तथा अलंकार को प्रधान स्वीकार करते हैं, वहाँ कुन्तक उनमें रस की प्रधानता स्वीकार करते हैं। अन्य अलङ्कारों के विषय में भी इनकी सम्मति बड़ी विलक्षण है —

> वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
> यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥
> सहस्र शब्दोऽत्र संख्याभूयस्त्वमात्रवाची। न नियतार्थवृत्तिः।
> यथा सहस्रदलमिति। यस्मात् कविप्रतिभानामानन्त्यात् नियमो
> न सम्भवति (वक्रोक्ति-जीवित १।२०)

(५) प्रकरण-वक्रता—

'प्रकरण' का अर्थ है प्रबन्ध का एक देश अर्थात् एक अंश ... [illegible]

विशिष्ट वर्ण्य विषय। इस प्रकार के अन्तर्गत इसी प्रकरण से सम्बन्ध विशिष्टता का विशेष वर्णन किया गया है।

(६) प्रबन्ध-वक्रता

पूरा प्रबन्ध का अर्थ है समस्त दृश्य तथा श्रव्य काव्य-ग्रन्थ। प्रबन्ध मे सौन्दर्य उत्पन्न करना कवि का प्रधान लक्ष्य रहता है। प्रथम पाँच प्रकार की वक्रता इस वक्रता का अङ्गमात्र है। यही वक्रता काव्य में अङ्गी या मुख्य रहती है, प्रथम वक्रताओ का लक्ष्य समूहरूप से इसी वक्रता के उत्पादन मे है। अङ्गी की शोभा से ही अङ्गो की शोभा होती है। अङ्गो के सौन्दर्य से ही अङ्गी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। कविव्यापार का चरम अवसान 'प्रबन्ध-वक्रता' की ही सृष्टि से होती है। जिस प्रकार नाटक के विविध अङ्गो में परस्पर सामञ्जस्य विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रबन्ध-वक्रता के विविध अङ्गो में भी अत्यन्त अनुकूलता, परस्पर उपकारिता तथा हृदय-ग्राही समता विराजमान रहती है।

वक्रोक्ति के प्रकारो का दृष्टान्त

वक्रोक्ति के समस्त प्रकारो तथा भेदो के प्रदर्शन का न तो यहाँ स्थान है और न समय। अतएव कतिपय भेदो का ही लक्षण तथा उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

उपचार-वक्रता

जहाँ अत्यन्त भिन्न पदार्थो में भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद की प्रतीति होती है वहाँ 'उपचार' होता है। अचेतन मे चेतन के र्म का अध्या ेप इस वक्रता के भीतर आ जाता है। इस प्रकार के भीतर ध्वनि का प्रपच बडी सुन्दरता से विराजता है। कालिदास ने मेघदूत में अन्धकार को 'सूचिभेद्य' (सूचिभेद्यैस्तमोभि) 'मारग सूझि जिन्है न परै जब सूचिकाभेदि झुकै अँधियारी' (राजा लक्ष्मणसिंह) कहा है। सूई के द्वारा मूर्त पदार्थ (ठोस वस्तु) में ही छेद किया जा सकता है, परन्तु यहाँ अमूर्त अन्धकार 'सूचिभेद्य' (सूई से छेदने योग्य) कहा गया है। फलत यहाँ अमूर्त में मूर्त धर्म का अध्यारोप होने से 'उपचार वक्रता' विद्यमान है।

सवृति-वक्रता

यह वक्रता वहाँ होती है जहाँ कोई विवक्षित. वस्तु भी छिपाई जाती है। छिपाने से वह छिपती नही, प्रत्युत वह खुलकर अपने आपको प्रगट करती है।

कालिदास ने कुमार सम्भव (५।८३) में पार्वती तथा ब्रह्मचारी के कथोपकथन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। पार्वती के मना करने पर भी वह बटु कुछ बोलना चाहता है। इस पर पार्वती अपनी सखी से कहती है कि हे सखि, इस बटु को रोको। यह फिर कुछ न कुछ (किमपि) बोलना चाहता है। यहाँ 'किमपि' शब्द संवृति-वक्रता का दृष्टान्त है। 'किमपि' शब्द किसी अश्रवणीय तथा अवर्णनीय वस्तु की यहाँ कल्पना कर रहा है। इस वस्तु की व्यञ्जना अन्य प्रकार से सुगमतया गम्य नहीं है।

लिङ्ग वैचित्र्य वक्रता

जहाँ किसी शब्द का प्रयोग अनेक लिङ्गों में स्वभावतः होता है वहाँ उसे किसी लिङ्ग-विशेष में ही प्रयुक्त करना इस वक्रता के भीतर आता है। हिन्दी में दोनों ही शब्द चलते हैं—तट और तटी। जहाँ इन दोनों में तटी स्त्रीलिङ्ग पद का प्रयोग किया जायेगा, वहाँ भावों में कमनीयता तथा सुन्दरता स्वयं झलकने लगेगी। इसी प्रकार कोमलता तथा औचित्य की दृष्टि से वृक्ष के स्थान पर लता का प्रयोग उचित होता है। रावण के द्वारा सीता के हरण किये जाने पर उसके जाने के मार्ग-वाली लताओं ने झुककर राम को उस मार्ग का संकेत कर दिया है (रघुवंश १३। २४)। स्त्री लिङ्ग से लता में जिस दया तथा करुणा का भाव दिखलाया है उसका परिचय 'वृक्ष' जैसे पुल्लिङ्ग शब्द के प्रयोग से नहीं होता।

घनानन्दकी वक्रोक्तियाँ

हिन्दी के कवियों में 'घनानन्द' की कविता में वक्रोक्ति का बड़ा विलास देखा जा सकता है। उनकी उक्तियाँ [illegible] मार्मिक प्रतीत होती हैं। इनका उदाहरण यहाँ है—

> [illegible]।
> [illegible]॥
> [illegible]।
> [illegible]॥

[illegible]
[illegible]

ही सखी है जो कानरूपी गली से होकर प्रिय को चित्त की सजी हुई सेज पर लाकर बैठाती है जिससे स्नेही सुजान बुद्धि के अक में बैठकर विलास कर रहा है। वक्रता बडी निगूढ है यहाँ, पर है बहुत ही सुन्दर।

यह सवैया सयोग से वियोग दशा का अन्तर बडी सुन्दरता से दिखलाती है—

तब तौ छवि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित-पोष के तोष सुप्रान पले, बिललात महा दुखदोष भरे॥
'घन-आनँद' मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे॥

वियोग मे पडा विरही अपनी पूर्व सयोग-दशा से अपनी दशा की तुलना कर रहा है। उस समय तो शोभा पीते हुए जीते थे, अब तो सोच के मारे मेरे नेत्र जल रहे हैं। तब प्रेम के पोषण से प्राण अघा कर सन्तुष्ट थे, परन्तु अब तो बिलखते हुए दु खो मे दिन कट रहे हैं। सुजान से मिलने के समय तो दोनो के बीच मे आनेवाला हार पहार के समान लगता था, परन्तु आज वियोग में तो सचमुच दुर्लङ्घ्य पहाड बीच में आकर पड गये हैं। कितनी दयनीय दशा है बेचारे विरही की ! ! ! इस सवैये का अन्तिम चरण एक सस्कृत सूक्ति की स्मृति बरबस दिलाता है—

हारो नारोपित कण्ठे मया विच्छेद-भीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्-सागर-भूधरा॥

परन्तु घनानन्द की उक्ति में जो नोक-झोक दीख पडता है, वह सस्कृत के सरल अनुष्टुप् में कहाँ ?

इस प्रकार वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार श्रोताओ के केवल मस्तिष्क को ही नहीं स्पर्श करता, प्रत्युत वह उनके हृदय को भी प्रफुल्ल तथा विकसित बना देता है। सच्ची वक्रोक्ति का यही प्रभाव होता है।

वक्रोक्ति तथा अन्य सिद्धान्त

वक्रोक्ति सिद्धान्त के पुरस्कर्ता आचार्य कुन्तक **अभिधावादी** थे क्योकि उनकी दृष्टि में अभिधाशक्ति ही कवि के अभीष्ट अर्थ को भलीभाँति प्रकट कर सकती है,

परन्तु वे अभिधा का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत मानते थे जिसके भीतर लक्षणा तथा व्यञ्जना दोनों गतार्थ होती हैं। 'वाचक' शब्द द्योतक तथा व्यञ्जक दोनों प्रकार के शब्दों का उपलक्षण है। फलतः वे ध्वनिसिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे, परन्तु वे ध्वनि को वक्रोक्ति के विविध प्रकारों के अन्तर्गत मानते थे।

वक्रोक्ति और ध्वनि

कुन्तक की उपचार-वक्रता के अन्तर्गत ध्वनि का नाना प्रपञ्च अन्तर्निविष्ट हो जाता है। उदाहरण पर विचार कीजिए। 'गगनं च मत्तमेघम्'—आकाश पागल मेघों से व्याप्त है। 'मत्तता' चेतन का धर्म है, परन्तु यहाँ अचेतन मेघ का यह धर्म बतलाया गया है। फलतः यहाँ चेतन का धर्म अचेतन पदार्थ में उपचरित है। यहाँ आनन्दवर्धन के अनुसार 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि है। इसी प्रकार 'वैचित्र्य वक्रता' के भीतर अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि का अन्तर्भाव अभीष्ट है। इतना ही नहीं, आचार्य कुन्तक ने काव्य में प्रतीयमान अर्थ की सत्ता की स्वीकृति स्पष्ट शब्दों में दी है। वे 'विचित्र' मार्ग में वाक्य के अर्थ को प्रतीयमान होना स्पष्ट बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में अनेक अलंकारों के द्विविध रूप होते हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान। रूपक, उपमा, व्यतिरेक, आदि अलंकारों को वे दो प्रकार का मानते हैं। एक में तो वाच्य अर्थ ही रहता है, परन्तु दूसरे में प्रतीयमान अर्थ की भी सत्ता रहती है। निष्कर्ष यह है कि वक्रोक्तिसिद्धान्त ध्वनि का विरोधी नहीं है, प्रत्युत इसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च निविष्ट कर लिया गया है।

वक्रोक्ति और रस

वक्रोक्तिसिद्धान्त के साथ रससिद्धान्त का भी कहीं विरोध नहीं होता। रस [illegible] वक्रोक्ति के नाना प्रकारों में से अन्यतम प्रकार [illegible] होता है। कुन्तक ने रस को प्रकरणवक्रता के [illegible] भेदों के अन्तर्भूत माना है। उनका स्पष्ट [illegible] है कि [illegible] [illegible]

अलकार न मानकर अलकार्य ही मानते हैं । प्रबन्ध तथा प्रकरण की वक्रता के भीतर भी रसचमत्कार का अन्तर्भाव वे मानते हैं । फलत रस के प्रति उनकी वही आदर तथा महत्त्व बुद्धि है जो रसवादी आचार्यो के ग्रन्थो मे मिलती है। इस मार्ग मे नये-नये गुणो की तथा कवि स्वभावगत रीति की भी कल्पना मान्य है। कुन्तक भौगोलिक स्थिति से किसी भी रीति को प्रभावित नही मानते, प्रत्युत रीति का आश्रयण वे कवि के स्वभाव पर मानते हैं । इसलिए उन्होने प्राचीन नामो के स्थान पर रीतियो का नवीन नामकरण किया है। वैदर्भी के स्थान पर 'सुकुमारमार्ग', गौडी के स्थान पर 'विचित्र-मार्ग' तथा पाञ्चाली के स्थान पर 'मध्यममार्ग' की कल्पना बडी ही सुन्दर, व्यापक तथा उपादेय है। इस प्रकार वक्रोक्तिसिद्धान्त ने अन्य प्रख्यात सिद्धान्तो को अपने प्रकार के भीतर मानकर काव्य का सतुलित रूप प्रस्तुत किया है।

वक्रोक्ति तथा काव्य

वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार काव्य मे व्यापार की प्रधानता रहती है। काव्य के स्वरूप के विषय मे भी कुन्तक का स्वतन्त्र मत है। काव्य का उद्देश्य श्रोताओ के हृदय मे अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन है और यह उन्मीलन तभी सिद्ध हो सकता है जब शब्द का प्रयोग शास्त्रादिको मे मान्य अर्थो से दूर हटकर विचित्रता-सम्पन्न होता है। लोक-व्यवहार मे शब्दो का प्रयोग किसी-न-किसी अर्थ मे रूढ हो गया है। इन रूढ अर्थो से हमारा परिचय इतना अधिक है कि हमारे लिए उनमे किसी प्रकार का आह्लाद रह नही जाता। अत अप्रचलित प्रकार से स्वतन्त्र प्रयोग मे ही वैचित्र्य उत्पादन की क्षमता शब्दो मे हो सकती है। यही कुन्तक को स्वीकार है। महिमभट्ट ने भी इसी तात्पर्य को अपने ग्रन्थ मे समानार्थक शब्दो मे ही अभिव्यक्त किया है—जहाँ वैचित्र्य की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग कर वही अर्थ दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया जाता हो वही 'वक्रोक्ति' है —

प्रसिद्ध मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थ· सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥

काव्य का लक्षण आलकारिको ने अपने मत से भिन्न ही प्रकार से किया है। कुन्तक ने 'काव्य' शब्द का प्रयोग शब्द तथा अर्थ—इन दोनो के समन्वय के लिए किया है। शब्द तथा अर्थ के मञ्जुल समन्वय को लक्षित कर ही **'साहित्य'** शब्द प्रयुक्त होता है। कुन्तक दण्डी के समान उन आलकारिको मे नही है जो काव्य मे शब्द की ही मुख्यता

मानते हैं। महाकवि दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' को काव्य की संज्ञा मानकर काव्य का मौलिक आधार 'शब्द' ही माना है, परन्तु कुन्तक न तो शब्द की प्रधानता मानते हैं और न केवल अर्थ के सौन्दर्य पर आस्था जमाते हैं। उनके लिए तो काव्य, शब्द तथा अर्थ दोनों के सम्पृक्त तथा समरस समन्वय का ही द्योतक होता है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि किन्हीं आलंकारिकों की सम्मति में [illegible] कमनीयता से सम्पन्न, शब्द ही केवल काव्य होता है तथा अन्य विद्वानों के मत में रचना-वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य होता है। परन्तु ये दोनों मत नितान्त [illegible] हैं। जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तैल रहता है उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में ही काव्यत्व का निवास रहता है, केवल एक में नहीं। काव्य की रचना में कवि की [illegible] और प्रतिभा एकांगी न होकर उभयगामी होनी चाहिए। शब्दों की [illegible] कर श्रोताओं के कानों को प्रसन्न करनेवाला कवि अपनी प्रतिभा का [illegible] प्रकट करता है, तो शब्दालंकार से हीन [illegible] से विरहित [illegible] वस्तुमात्र का [illegible] करनेवाला कवि भी उसी प्रकार आदरणीय माना जाता है। अतः कविता के [illegible] की स्थिति जमाने के लिए दो स्तम्भ हैं—शब्द और अर्थ। इन दोनों में जब तक [illegible] अर्थात् एकरूपता नहीं आती, तबतक कविता का उदय नहीं होता। जब तक शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध बिल्कुल ही [illegible] नहीं रहता, तब तक [illegible] का जन्म नहीं। जो भाव कवि को प्रकट करना हो, उसको [illegible] ही शब्द का प्रयोग होना चाहिए। न तो शब्द ही [illegible] और अर्थ को ही दबाने की आवश्यकता है। शब्द तथा अर्थ का ऐसा [illegible] योग ही 'काव्य' कहलाता है। कुन्तक [illegible] है जो कवि के वक्र व्यापार से सुशोभित [illegible] रहते हैं। इस प्रकार कुन्तक शब्द तथा अर्थ का [illegible] 'साहित्य' मानते हैं और [illegible]।

[illegible]

[illegible]

तो काव्य का मूल्य बहुत ही अधिक होता है। हिन्दी के कवियों ने अनेक स्थलों पर चमत्कारिणी उक्तियाँ कही हैं जिनमें केवल चमत्कार ही हाथ आता है। रस तथा भाव पर प्रतिष्ठित न होने से ये उक्तियाँ हृदय को छूने में सफल नहीं होतीं, परन्तु अनेक महाकवियों की सरस चमत्कारिणी उक्तियाँ नितान्त स्निग्ध तथा रसपेशल होती हैं। महाकवि देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही तें समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै आसहू पास अकास रह्यौ भरि ।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि ॥

श्री कृष्ण ने जिस दिन से उसे मुख फेर कर ताका है और हँसकर उसके हृदय को चुरा लिया है, उसी दिन से राधा की विरह-वेदना में इतना बढ़ाव आ गया है कि पाँचो तत्त्व शरीर से धीरे धीरे निकलते जा रहे हैं। साँसों के द्वारा शरीर से सब वायु निकल गया। आँखों से निरन्तर बहनेवाले आँसुओं के रूप में सब जल शरीर से बह गया। तेज अपना गुण लेकर चला गया अर्थात् राधा का शरीर बिल्कुल तेजहीन और प्रभारहित हो गया। शरीर को दुबला-पतला बनाकर भूमि तत्त्व शरीर से हट गया। देव कवि का कहना है कि राधा कृष्ण से मिलने की ही आशा से जी रही है परन्तु उसकी आशा के पास आकाश भर गया है। आकाश शून्य रूप है। फलत. मिलने की आशा निराशा में परिणत हो गई है। इस प्रकार पाँचो तत्त्वों के शरीर से निकलने का मधुर संकेत राधा की दयनीय दशा से मिलता है। इसमें सूक्ति के साथ रसका भी सुन्दर चमत्कार है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सम्प्रदाय के सिद्धान्त नितान्त व्यापक, अन्तरंग तथा सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के द्योतक हैं।

द्वादश परिच्छेद

अलंकार सिद्धान्त

विश्व में अलंकार की महिमा बड़ी विशाल है। मानव ही अपनी वस्तुओं को, अपने शरीर को तथा अपनी सामग्री को अलंकृत नहीं रखता, प्रत्युत प्रकृति भी अपने अंगों को अलंकृत करने में कथमपि पराङ्मुख नहीं होती। प्रातःकाल जब सूर्य का उदय होता है, तब प्रकृति प्राची दिशा को नये-नवीन रंगों से कैसे रंग देती है। मालूम पड़ता है कि गाढ़ी लालिमा के रंग में किसी ने पूर्व दिशा को रंग डाला है। तितली के परों के रंगों तथा सजावट को देखिए। रंग कितना भव्य तथा सजावट कितनी मोहक होती है। सारांश यह है कि प्रकृति स्वयं अलंकरण की प्रेमी होती है और अपने अंग-प्रत्यंग को नाना सजावट से सजाने में, नये रंगों से रंगीन बनाने में, उसको बड़ा आनन्द आता है।

कवि भी प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करनेवाला एक भावुक व्यक्ति होता है। वह भी अपनी रचनाओं को अलंकारों से सजाने का प्रेमी तथा अभ्यासी होता है। जो कुछ भी वह लिखता है उसे वह अवश्यमेव सजाता है। सुन्दर बनाने के लिए नवीन-नवीन सामग्री एकत्र करता है और उसका ऐसा सुन्दर विन्यास करता है कि देखने से नेत्रों को विशेष आनन्द आता है और सुनने से लोगों के कान स्वतः उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। कवि, केवल अपनी रचना अपनी बातों को सुन्दर तथा मनोरम बनाने के अभिप्राय से उसे अलंकारों से सजाता है और इससे उसकी रचना सब [illegible] हो जाती है। [illegible] — [illegible] सा बच्चा," तब श्रोताओं का ध्यान '[illegible]' और '[illegible]' के शब्दसाम्य में स्वतः आकृष्ट हो जाता था और उन बातों के [illegible] तैयार हो जाते थे। जिन बातों के [illegible] सुन्दर बनाना उनका

है तथा हृदय को आकृष्ट करने की अद्‌भुत-शक्ति से वह सम्पन्न किया जाता है उनमे से अन्यतम साधन है—**अलकार**।

अलंकार का रूप

अलकार में जो वस्तु जीवनी शक्ति डालकर उसे सजीव तथा आकर्पक बनाती है वह 'चमत्कार' के नाम से प्रख्यात है। अलकार का अलकारत्व तभी है जब वह चमत्कार से मण्डित है। अलकार का सामन्य रूप है वैचित्र्य, विचित्रता। **वैचित्र्यम् अलकार** । विचित्रता से हीन स्वभाव कभी अलकार नही हो सकता। अलकार की यही कसौटी है विचित्रता, चमत्कार। इसके लिए कवि को प्रतिभा की बडी आवश्यकता होती है। विना विचित्रता के कोई भी साधन 'अलकार' के महनीय नाम से अभिहित नही किया जा सकता। एक उदाहरण से इसे समझिए। 'अपन्हुति' नामक एक अलकार होता है जिसमें प्रकृत वस्तु का तिरस्कार कर एक अप्रकृत वस्तु की स्थापना की जाती है। पूर्णिमा की रात को आकाश की ओर दृष्टिपात करता हुआ सस्कृत का कवि कह रहा है—

नेद नभो मण्डलमम्बुराशेर्नैताश्च तारा नवफेनभगा ।
नाय शशी कुण्डलित फणीन्द्रो नाय कलंक शयितो मुरारि ।।

कविका कहना है कि यह आकाश नही बल्कि जल का एक विशाल समूह है। ये तारायें नही है बल्कि फेन के नये टुकडे है। यह चन्द्रमा नही है, बल्कि कुण्डल मार-कर गोले मे बैठने वाला सर्प है। यह चन्द्रमा का कलक नही है, बल्कि काले रग वाले भगवान् विष्णु उसपर शयन कर रहे है। विचित्रता होने के कारण ही यह अपन्हुति अलकार-रूपा है। यदि वैचित्र्य नही, तो अलकार भी नही। कोई कवि बैल का वर्णन कर रहा है—

गोरपत्य वलीवर्द, तृणान्यत्ति मुखेन स ।

गाय का यह बेटा बैल है जो मुख से तृणो को चरता है। जातिगत वर्णन होने से यह सच्चा तथा वैज्ञानिक भले माना जाय, परन्तु यह चमत्कारहीन होने से अलकार कोटि में कभी नही आ सकता। इस प्रकार 'अलकार' का सामान्य लक्षण है वैचित्र्य जिसे प्रत्येक अलकार में होना नितान्त आवश्यक होता है।

अलंकार का लक्षण

अलंकार का लक्षण क्या है? आचार्य मम्मट के शब्दों में जैसे शरीर की शोभा बढ़ाने वाले कटक, कुण्डल आदि नाना प्रकार के भूषण या गहने होते हैं, वैसे ही अलंकार शब्द तथा अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म हैं। अस्थिर कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकार की स्थिति आवश्यक नहीं रहती। वे काव्य में रह भी सकते हैं और नहीं भी रह सकते हैं। गुणों के समान उनकी स्थिति 'नियत' नहीं होती है। गुण तो काव्य में नियत रूप से रहता है, गुणों का निवास काव्य में अनिवार्य है। गुण रसका सदा उपकार करते हैं, परन्तु अलंकार काव्य में विद्यमान रहने वाले रसका उपकार करते हैं और कभी-कभी तो विद्यमान भी रस का उपकार नहीं करते (सन्तमपि नोपकुर्वन्ति)। इसलिए 'अलंकार' को अस्थिर धर्म कहा है जो स्थिर तथा नियत धर्म (अर्थात् 'गुण') से सर्वथा भिन्न होता है। यह विवेचन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से किया गया है, परन्तु अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि काव्य में अलंकार को विशेष महत्त्व देती है। वे 'अलंकार' को काव्य का नितान्त आवश्यक शोभावर्धक साधन मानते हैं जिनका काव्य में निवास नितान्त आवश्यक होता है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना असम्भव है वैसे ही अलंकार के बिना काव्य की सत्ता निराधार है। परन्तु आजकल का आलंकारिक अलंकारों को काव्य में इतना महत्त्वशाली नहीं मानता। वह उसे काव्य का अस्थिर ही धर्म मानता है जो काव्य में रहकर उसे चमत्कृत बनाने की योग्यता रखता है अथवा कभी-कभी न रह कर भी काव्य को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। अलंकार का यही परिनिष्ठित रूप है।

अलंकार का विकास

संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार के विकास को अपने ग्रन्थों में भलीभाँति समझाया है। ऊपर हमने दिखलाया है कि 'अलंकारशास्त्र' एक प्रगतिशील विकसित शास्त्र है जिसका प्रत्येक आचार्य कुछ नवीन मान्यताओं के साथ व्याख्या अपने ग्रन्थ में करता है और प्राचीन मान्यता के ऊपर भी एक नये सिरे से या नई दृष्टि से विचार करता है। इसीलिए यह शास्त्र स्थविर या प्राचीन बनकर केवल स्थितिशील नहीं। नवीन और प्राचीनों के द्वारा वर्णित सिद्धान्तों की ही पुनः आवृत्ति नहीं करता, अपितु नवीन बातों को खोजकर नये मान्यतत्त्वों का उन्मेष करता है। इसलिए अलंकारशास्त्र की यह बड़ी भारी विशेषता है कि यह सामान्य अनुकरण का काम नहीं करता। तदनन्तर

के लिए अलकार की सख्या पर ही दृष्टिपात कीजिए। सबसे प्राचीन आलकारिक भरतने केवल चार ही अलकार माने हैं—यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक जिनमे 'यमक' तो शब्दालकार का प्रतिनिधि है तथा अन्य तीन अर्थालकार के। इन्ही चार अलकारो का विकास होते-होते अलकारो की सख्या 'कुवलयानन्द' में १२५ तक पहुँच गई है। सख्या मे ही विकास नही है, अलकारो के स्वरूप मे भी पर्याप्त विकास होता गया है। यहाँ तक कि पुराने अलकारो को हम नये अलकार के ही रूप मे नहीं पाते, प्रत्युत उन्हें नये काव्यतथ्य के रूप में भी पाते हैं। 'वक्रोक्ति' इसका स्पष्ट उदाहरण है। यह भामह आदि प्राचीन आलकारिको मे केवल अलकार है, परन्तु कुन्तक ने इसे ऊपर उठाकर काव्य के व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अलकारो के स्वरूप में महान् भेद भी है।

'स्वभावोक्ति' सर्वत्र एक नही है। सामान्यत यह एक अलकार ही है, परन्तु कुन्तक और महिम भट्ट इसे 'अलकार' न मानकर 'अलकार्य' मानते हैं। दण्डी ने इसे 'आद्या अलकृति' (प्रथम अलकार) माना है। रुद्रट ने भी इसके आधार पर 'वास्तव' को अलकार के विभाजन में एक मुख्य साधन माना है। भोजराज भी 'स्वभावोक्ति' को एक पृथक् अलकार के रूप में मानते हैं, परन्तु कुन्तक ने इस पर बडा ही मार्मिक विचार कर इसे अलकार न मानकर अलकार्य माना है। वस्तु के स्वभाव का कथन प्रथमत मुख्य रूप से होना चाहिए और तभी आगे चलकर उसे अलकारो से सजाया जा सकता है। भित्ति को ही चित्रो से सजाया जाता है। 'स्वभावोक्ति' भित्ति के समान है और चित्रो की कल्पना अलकार के समान है। इस प्रकार 'स्वभावोक्ति' की कल्पना स्थूल से सूक्ष्म होती गई है।

सूक्ष्म विभाजन इस विकास का अन्यतम रूप है। प्राचीनो ने जहाँ किसी अलकार का एक या दो भेद माना है, पिछले आलकारिको ने वहाँ अपनी बुद्धि से नये-नये प्रकारो को खोज निकाला है। 'तुल्ययोगिता' का एक ही प्रकार काव्यप्रकाश में वर्णित तथा विवेचित है, परन्तु अप्पयदीक्षित ने इसके चार विभिन्न रूपो का वर्णन किया है। 'निदर्शना' के केवल दो प्रकारो का लक्षण काव्यप्रकाश में मिलता है, परन्तु 'कुवलयानन्द' में उसके पाँच प्रकारो की मीमासा है। 'भाविक' कभी प्रवन्ध का एक सर्वातिशायी व्यापक तत्त्व माना जाता था। वही पिछले युग मे केवल एक सामान्य अलकार के रूप में दीख पडता है। किसी अलकार के महत्त्व घटने का यह अच्छा उदाहरण है। सस्कृत के आलोचनाग्रन्थो में इतनी विपुल सामग्री उपस्थित है

कि उनके आधार पर प्रत्येक अलंकार के विकास की कहानी बड़े ही रोचक ढंग से लिखी जा सकती है।

अलंकार के विभाग

विभाजन-तत्त्व

स्थिति की दृष्टि से अलंकार का विभाजन किया जाता है। काव्य के शब्द और अर्थ ही शरीर के स्थान पर होते हैं। जिस प्रकार लोक में अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाता है तथा शरीर के ऊपर स्थित रहता है, उसी प्रकार ये काव्यालंकार भी शब्द और अर्थ में निवास करते हैं। इस दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—(क) **शब्दालंकार (ख) अर्थालंकार (ग) उभयालंकार**। इस भेद के मूल तत्त्व को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है। कोई अलंकार शब्द में रहता है; इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ शब्द ही प्रधान रहता है। शब्द की प्रधानता से तात्पर्य यह है कि वह शब्द वहाँ से हटाया नहीं जा सकता। यदि उसके स्थान पर उसका कोई पर्याय रखा जाय, तो वह अलंकार बिल्कुल गायब हो जाता है। शब्द-विशेष के रहने पर ही अलंकार की स्थिति है और शब्द के हटते ही, उसके स्थान पर उसके समानार्थक शब्द रखते ही, अलंकार अस्तंगत हो जाता है। ऐसे अलंकार को 'शब्दालंकार' कहते हैं। यदि शब्द के पर्यायों में परिवर्तन करने पर भी अलंकार की सत्ता विद्यमान रहती है, तो अर्थ की प्रधानता होने के कारण वह 'अर्थालंकार' कहलाता है। 'उभयालंकार' में पूर्वोक्त दोनों विशेषतायें पद्य के किसी-न-किसी भाग में अवश्य मिलती हैं अर्थात् पद्य के किन्हीं शब्दों को हम पर्याय के रूप में बदल सकते हैं (अर्थालंकार) और किन्हीं शब्दों को हम बदल नहीं सकते (शब्दालंकार)। इसी विशेषता के कारण यह अलंकार 'उभयालंकार' के अन्वर्थक नाम से पुकारा जाता है। शब्दालंकारों की संख्या कुल सात आठ है अर्थालंकारों की लगभग एक सौ तथा उभयालंकार केवल एक ही होता है।

इन अलंकारों की स्थिति दो रूपों में हो सकती है—अकेला रूप या मिश्रित रूप। ये अकेले भी रहते हैं तथा अन्य अलंकारों के साथ मिलकर भी रहते हैं। यह मिश्रण दो प्रकार का होता है संसृष्टि तथा सङ्कर। जैसे नीर क्षीर पानी और दूध एक दूसरे में इस मिल जाते हैं, तब अलग नहीं किये जा सकते इसी प्रकार जब दो या दो से अधिक अलंकार ऐसे मिले होते हैं कि उनका अलग अलग करना कठिन हो तब सङ्क-

कारों की यह मिलावट **'संकर'** कहलाती है। जब अलंकारों का मिश्रण तिल तथा तण्डुल, तिल तथा चावल के मिलावट के समान हो, तब इसे 'संसृष्टि' कहते हैं। जिस प्रकार मिले हुए काले तिल और उज्ज्वल चावल को अलग कर लेना सहज होता है, उसी प्रकार एक ही रचना में जहाँ अलंकार अलग-अलग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं वहाँ **'संसृष्टि'** अलङ्कार होता है।

शब्दालंकार

शब्दालंकारों के एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। (क) **अनुप्रास**—जहाँ अक्षरों की समानता दिखाई जाय, उसके स्वर मिलें या न मिलें, वहाँ **'अनुप्रास'** होता है। 'अनुप्रास का अर्थ है रस के अनुकूल अक्षरों की रचना (प्रास)'। इस अलंकार के कई भेद होते हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास। जहाँ एक वर्ण की या अनेक वर्णों की समानता केवल एक बार हो वहाँ **'छेकानुप्रास'** होता है और जहाँ यह समानता वृत्ति के अनुकूल कई बार हो वहाँ **'वृत्त्यनुप्रास'** होता है। जहाँ शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति हो और उनका अर्थ भी एक ही हो, केवल अन्वय करने से तात्पर्य बदल जाता हो, वहाँ **'लाटानुप्रास'** होता है।

राधा बर के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।
दाख दुखी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय॥

यहाँ एक ही वर्ण की एक बार आवृत्ति होने से 'छेकानुप्रास' है। यहाँ 'बर' और 'बैन' में बकार की 'चीनी' और 'चकित' में चकार की, 'दाख' और 'दुखी' में दकार की, मिसरी और मुरी में मकार की, सुधा और सकुचाय में सकार की आवृत्ति एक ही बार होती है, इसलिए यह 'छेकानुप्रास' का दृष्टान्त है।

(ख) यमक

निरर्थक अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक स्वर-व्यञ्जन के समुदाय का जहाँ उसी क्रम से पुनः श्रवण हो वहाँ **'यमक'** अलंकार होता है। यमक में अनुप्रास से वैशिष्ट्य स्पष्ट ही मालूम पड़ता है। यमक में आवृत्ति स्वर-व्यञ्जन समुदाय की ही होती है, परन्तु इनमें यदि शब्दों का कोई अर्थ होता हो तो वह आपस में एक दूसरे से भिन्न होना ही चाहिए। दोनों समुदायों का निरर्थक होना अभीष्ट है, परन्तु यदि वे सार्थक हैं, तो अर्थ भिन्न होना ही चाहिए। यही इसकी विशिष्टता है। इसमें स्थान का नियम है अर्थात् यमक यदि प्रथम पाद के आदि में विद्यमान हो, तो उसे अन्य पादों के आदि में होना ही चाहिए। संस्कृत के आचार्यों ने इसके अनेक विचित्र प्रकारों

का विवरण अपने ग्रन्थो में दिया है। बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा 'यमक' का एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत करता है—

भजन कह्यो तासो भज्यो, भज्यो न एको बार ।
दूरभजन जासो कह्यो, सो तै भज्यो गँवार ॥

कवि किसी व्यक्ति को सचेत करता हुआ कह रहा है—मैंने जिस भगवान को भजने की बात तुमसे कही, उससे तो तुम भाग गये । उसका भजन तुमने एक बार भी नही किया और जिन वस्तुओ (ससार के विषयो) से दूर भागने की शिक्षा दी उनकी ही तुमने सेवा की। यहाँ 'भजन' शब्द के दो अर्थ है—(१) सेवा करना तथा (२) भागना । इन्ही दोनो अर्थो की यहाँ सत्ता है । 'भज्यो' की आवृत्ति मे भी यही अर्थभेद है। फलत यह 'यमक' ही है ।

(ग) वक्रोक्ति

कहे गये वाक्य का श्लेष से या काकु से और ही अर्थ कल्पित किया जाय, वहाँ 'वक्रोक्ति' होती है। वक्ता किसी एक अर्थ में वाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता उसका दूसरा ही अर्थ लगाकर उत्तर देता है या कथन करता है वहाँ यह चमत्कारी अलकार होता है। 'वक्रोक्ति' की यह सीमित कल्पना 'रुद्रट' ने की है । कुन्तक के हाथो यही 'वक्रोक्ति' एक व्यापक काव्य-तत्त्व की प्रतिनिधि बन जाती है । नीचे के पद्यांश मे शिव तथा पार्वती का सवाद है । प्रथम पाद शिवजी की उक्ति है और द्वितीय पाद में पार्वती का कथन है जिसमे शिव के शब्दो के भिन्न अर्थ किये गये है—

गौरव शालिनी प्यारी हमारी, सदा तुमही इक इष्ट अहो ।
हौं न गऊ, नहि हौं अवशा, अलिनी हूँ नही, अस काहे कहो ॥

पद्य का आशय यह है। शिवजी पार्वती जी से कह रहे है कि तुम हमारी गौरव-शालिनी प्रियतमा हो। तुम मेरी इष्टदेवी हो। इन वचनो को सुनकर पार्वती 'गौरवशालिनी' शब्द को तीन टुकडो मे (गौ+अवशा+अलिनी) विभक्त कर उत्तर देती है—न मैं गऊ हूँ, न अवशा (वश रहित) हूँ, और न अलिनी हूँ। तब आप मुझे 'गौरवशालिनी' क्यो कह रहे है। यहाँ स्पष्ट है कि वक्ता के द्वारा विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त शब्द को श्रोता मूलत या खण्ड करके उसे दूसरे अर्थ मे समझता है और अपनी समझ के अनुसार उत्तर देता है । यही वक्रोक्ति नामक शब्दालकार है ।

अर्थालङ्कार]

अर्थालकारो का विभाजन कुछ विशेष आधारो के ऊपर किया जाता है। इन आधारो को कतिपय वर्ग में हम बाँट सकते हैं—सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, शृखलाबन्ध, तर्कन्यायमूल, लोकन्याय मूल, वाक्यन्यायमूल तथा गूढार्थ-प्रतीति मूल। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत मुख्य-मुख्य अलकारो की विशिष्टता दिखलाने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) सादृश्यगर्भ अलकार

ये सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते है। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अनजान विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते है। इस वर्ग के अलकारो में मुख्य है—**उपमा**। कविता के उदय के साथ ही उपमा का उदय होता है। हम तो उस काव्ययुग की कल्पना नही कर सकते, जिसमें उपमा अपने चमत्कार का प्रदर्शन नही करती तथा जिसमें उपमा के द्वारा सौन्दर्य का विकास नही होता। भारतीय वाङमय में वेद के मन्त्रो में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता से पाठको का मन मुग्ध करती है। जितनी सुन्दर उपमायें वहाँ दृष्टिगोचर होती है उतनी अन्यत्र नही। उपमा के लक्षण तथा दृष्टान्त निरुक्त में पाये जाते है। यास्क ने उपमा का वैज्ञानिक लक्षण ही नही दिया है, उसके पाँच प्रकारोका—कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा तथा अर्थोपमा—स्वरूप भी उदाहरणो के द्वारा समझाया है। व्याकरण शास्त्र में उपमा तथा उपमान का तद्धित, समासान्त प्रत्यय, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर विशेष प्रभाव पडता है जिसका उल्लेख सूत्र तथा भाष्य में किया गया है। व्याकरण–सम्मत विवेचना का प्रभाव अलकार शास्त्र के ऊपर भी विशेष रूप से पडा है।

उपमा का महत्त्व

कविता का तो प्राण ही उपमा है। अप्पयदीक्षित ने 'उपमा' की तुलना एक नटी (शैलूषी) के साथ की है। रगमच के ऊपर नटी नाना वेषभूषा से सज्जित होकर नाना रूपो मे आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप मे अवतीर्ण होती है, तो कभी शैव्या के रूप में। कभी वह आनन्द से उल्लसित रहती है, तो कभी करुणरसात्मक

नाटक में शोक में तल्लीन रहती है। उसके बाहरी रूप को देखने पर वह अनेक रूपों की प्रतीति देती है, परन्तु उसके आवरण को हटाकर निरखने पर उसका एक ही रूप सर्वत्र अनुस्यूत दीख पड़ता है। ठीक यही दशा उपमा की भी है। वह काव्य के रंगमंच पर कभी रूपक, कभी दीपक, कभी तुल्ययोगिता, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है, परन्तु रहती है अन्तराल में, केवल एक ही रूप में।

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥
(चित्रमीमांसा।)

सादृश्य की ही कल्पना को तनिक विस्तृत रूप प्रदान करने में नये-नये अलंकारों का जन्म होता है।

उदाहरणों से इस सिद्धान्त को ध्यान में लाना चाहिये।

(१) चन्द्रमा के समान मुख है—**उपमा** (सादृश्य के कारण)।
(२) चन्द्रमा के समान मुख और मुख के समान चन्द्रमा—**उपमेयोपमा**।
(३) मुख मुख के समान —**अनन्वय**।
(४) मुख के समान चन्द्रमा (उपमान)—**प्रतीप**।
(५) चन्द्र को देखकर मैं मुख का स्मरण करता हूँ—**स्मरण**।
(६) मुख ही चन्द्रमा है—**रूपक** (अभेद)।
(७) मुखचन्द्र से ताप शान्त होता है—**परिणाम**।
(८) क्या यह मुख है अथवा चन्द्रमा है?—**सन्देह**
(९) यह चन्द्रमा ही है, मुख नहीं—**अपह्नुति**।
(१०) चकोरगण तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझकर उसकी ओर दौड़ते हैं—**भ्रान्तिमान** (मुख में चन्द्रमा का भ्रम)।
(११) तुम्हारे मुख में चकोर चन्द्रमा समझकर और भ्रमर कमल समझकर रमण करते हैं—**उल्लेख** (एक ही स्थल पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा विभिन्न कल्पना)।
(१२) मुख निश्चय ही चन्द्रमा है—**उत्प्रेक्षा** (उपमान की सम्भावना)।
(१३) यह चन्द्रमा है—**अतिशयोक्ति** (केवल उपमान की स्थिति)।
(१४) मुख के द्वारा चन्द्रमा और कमल जीते गए—**तुल्ययोगिता**।
(१५) रात में चन्द्रमा और तुम्हारा मुख दोनों प्रसन्न होते हैं—**दीपक**।

(१६) तुम्हारे मुख ही से मैं प्रसन्न हूँ और चन्द्रमा ही से चकोर प्रसन्न है—**प्रतिवस्तूपमा**।

(१७) आकाश में चन्द्रमा और पृथ्वी पर तुम्हारा मुख—**दृष्टान्त**।

(१८) मुख चन्द्र लक्ष्मी को धारण करता है—**निदर्शना**।

(१९) निष्कलक मुख चन्द्रमा से वढ कर है—**व्यतिरेक**।

(२०) चन्द्रमा तुम्हारे मुख के साथ रात के समय प्रसन्न होता है—**सहोक्ति**।

ये समस्त अलकार 'औपम्यगर्भ' हैं अर्थात् इनके भीतर सादृश्य की ही भावना प्रतिष्ठित है। उपमा से लेकर सहोक्ति तक बीसो अलकारो के भीतर सादृश्य किस प्रकार रहता है यह उदाहरणमुखेन ऊपर दिखलाया गया है। इसी महत्ता के कारण अप्पयदीक्षित उपमा की तुलना ब्रह्म से करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह चित्र विचित्र ससार ज्ञात हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से समस्त अलकार (चित्र) ज्ञात हो जाते हैं।

उपमा अलकार में उपमान तथा उपमेय के बीच में भेद भी रहता है और कुछ-कुछ अभेद भी। **उपमेय** उस वस्तु को कहते हैं जिसकी तुलना अभीष्ट होती है और जिससे वह तुलना की जाती है वह **'उपमान'** कहलाता है। 'मुख चन्द्र' में मुख उपमेय है और चन उपमान। उपमा के भाव को लेकर नये-नये अलकार उदित हुए। एक ओर भेद वढने लगता है और दूसरी ओर अभेद। भेद वढते-वढते उस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ उपमान तथा उपमेय एक दम अलग हो जाते हैं। ऐसे स्थल के अलकार का नाम है **'व्यतिरेक'**। उधर उपमेय तथा उपमान का अभेद इतना वढता जाता है कि वे दोनो एक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति को **'रूपक'** के नाम से पुकारते हैं। उपमालकार में उपमेय हीन गुण वाला (गौण) होता है और उपमान अधिक गुण वाला (प्रधान) होता है परन्तु आगे चलकर इसमें विकास तथा वैचित्र्य आने लगता है। उपमेय का प्रधानत्व और उपमान का गौणत्व वढने लगता है जिससे नये अलकार जनमते हैं। अर्थात् उपमेय को इतनी प्रतिष्ठा दी जाती है कि उपमान का सर्वथा तिरस्कार ही कर दिया जाता है। इसे **'प्रतीप'** के नाम से पुकारते हैं। इससे एक सीढी और आगे वढनेपर उपमान का सर्वथा लोप ही होता है और उपमेय ही उपमान का भी कार्य करता है। यही **'अनन्वय'** है। **'रूपक'** में उपमेय तथा उपमान की स्थिति तुल्य-वल के समान रहती है। मुख ही चन्द्रमा वन जाता है। मुख की अभिन्नता चन्द्रमा के साथ अवश्य हो जाती है, परन्तु स्थिति दोनो की रहती है। इससे और आगे

बढने पर उपमेय की गौणता बढती जाती है। उपमान इतना प्रधान बन जाता है कि उपमेय को वह एकदम खा लेता है और वह इतना महत्त्वशाली हो जाता है कि वह अकेले ही खडा रहकर उपमेय का भी कार्य करता है। इस दशा का नाम होता है रूपकातिशयोक्ति।

इस विकास को उदाहरणो से समझने की आवश्यकता है।

उपमा

उदय सूर सो भाल, सिन्दुर बनो गनेश को।
हरत विघन को जाल, जो जग व्यापक तिमिर सो॥

यहाँ भाल उपमेय, सूर (सूर्य) उपमान, उदय साधारण धर्म, 'सो' वाचक। अत यहाँ पूर्णोपमा अलकार है।

व्यतिरेक

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलक।
सिय मुख समता पाव किमि चद बापुरो रक॥

यहाँ चन्द्र (उपमान) सीताजी के मुख (उपमेय) की समता पाने के सर्वथा अयोग्य ठहराया गया है।

रूपक

सम्पत्ति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आस्रम पीजरा, राखे भा भिनुसार॥

यहाँ सम अभेद रूपक है। सम्पत्ति का चकई के साथ, भरत का चकवा के साथ, आश्रम का पिजडे के साथ अभेद किया गया है। अर्थात् इनमें आपस में भेद नही है।

प्रतीप

जेंह राधा आनन उदित, निसि बासर आनन्द।
तहाँ कहा अरबिंद है, कहा बापुरो चन्द॥

यहाँ राधा के मुख (उपमेय) के सामने अरविन्द तथा चन्द्रमा (उपमान) को व्यर्थ सिद्ध किया गया है। यहाँ उपमेय के सामने उपमान का सर्वथा तिरस्कार किया गया है। अत एव 'प्रतीप' हुआ।

अनन्वय

राम से राम, सिया सी सिया
सिरमौर विरञ्चि विचारि सँवारे॥

यहाँ उपमान का सर्वथा लोप है। उपमेय ही उपमान का भी कार्य कर रहा है। अभिप्राय यह है राम राम के समान है अर्थात् उनके समान जगत् में कोई दूसरा व्यक्ति नही। 'सिया सी सिया' में भी वही अद्वितीयता का भाव है।

रूपकातिशयोक्ति

राम सीय-सिर सेन्दुर देही। उपमा कहि न सकत कवि केही॥
अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥

यहाँ श्री रामचन्द्र के द्वारा सीता के सिर सेन्दुर भरने का वर्णन है। कवि कहता है कि साँप कमल में लाल पराग को भरकर अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रहा है। यहाँ 'अहि' से तात्पर्य राम की 'भुजा' से, 'अरुन पराग' का सिन्दूर से, 'जलज' का राम के 'हाथ' से, 'शशी' (चन्द्रमा) का तात्पर्य सीताजी के 'मुख' से है।

एक बात ध्यान देने की यह है कि अलकारो में प्रथमत भेद से पूर्ण अभेद की सिद्धि की ओर हम बढते हैं। उपमा में स्पष्टत भेद है। समानता होने पर मुख चन्द्रमा से भिन्न है ही। फलत यह हुआ द्वैतवाद। रूपक में दोनो का अभेद होता है। 'मुख ही चन्द्रमा है'—यहाँ चन्द्र तथा मुख का अभेद है। यह बीच की स्थिति है जहाँ से होकर हम पूर्ण अद्वैत के लिए आगे बढते हैं। अतिशयोक्ति का दृष्टान्त है—यह चन्द्रमा है। यहाँ उपमेय (मुख) का सर्वथा तिरस्कार कर उपमान (चन्द्रमा) की पूरी प्रतिष्ठा है। यही पक्का 'अद्वैतवाद' औपम्यगर्भ अलकारो की अन्तिम कोटि में दृष्टिगोचर होता है। अन्य अलकार उपमा और अतिशयोक्ति के बीच की स्थिति के सूचक होते हैं।

(२) विरोध-गर्भ अलकार

अलकारो के विभाजन का दूसरा आधार **विरोध** है जो सादृश्य से ठीक विपरीत तत्त्व है। वास्तव विरोध तो कही भी अभीष्ट नही होता। विरोध होने पर अर्थ ही

बाधित हो जाता है और काव्य की स्थिति ही नहीं जमती। फलत यह विरोध आपातत ही प्रतीयमान होता है। यह कई प्रकार से दृष्टिगोचर होता है—

(क) द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति मे परस्पर भेद दिखा कर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। यहाँ विरोध का आभास ही रहता है, वास्तविक नहीं। इसलिए इस स्थिति मे होगा **विरोधाभास** अलकार। जैसे "वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई"। यहाँ आँखो में लुनाई (नमकीनपना) को मीठा लगने की बात कही गई है। विरोध स्पष्ट है नमक को मिठाई कहने मे, परन्तु यहाँ 'लुनाई' का दूसरा अर्थ है लावण्य (=सुन्दरता)। और इस प्रकार इसका परिहार हो जाता है। आँखो में मुख की सुन्दरता मीठी लगती है। सुन्दरता को मीठा लगना उचित ही है। अत यहाँ विरोध का आभास है।

(ख) कार्य तथा कारण का परस्पर विरोध। यह कई प्रकार मे दृष्टिगोचर हो सकता है।

(i) कारण कार्य से पहले होता है, परन्तु इस पूर्वापरभाव के विपर्यय करने पर, नियम के उलट जाने पर एक नवीन अलकार होता है—**कारणातिशयोक्ति**। जैसे—

उठ्यो सग गज कर कमल, चक्र चक्रधर हाथ।
कर ते चक्र सुनक्र सिर, धरते विलग्यो साथ॥

यहाँ भगवान् विष्णु के हाथ मे चक्र के रखने से पहले ही ग्राह के सिर के कट जाने का वर्णन है। फलत कार्य तथा कारण के बीच क्रम का अभाव है।

(ii) कहीं कारण के अभाव में कार्य होता है—यह है **'विभावना'** नामक अलकार। जैसे—

सुनत लखत श्रुति नैन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै, परसै बिना निकेत॥

यहाँ कान (कारण) के बिना सुनने (कार्य) तथा नैन (कारण) के बिना देखने का (कार्य) वर्णन होने से 'विभावना' है।

(iii) कहीं कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य नहीं होता। उसे **विशेषोक्ति** कहते हैं।

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाय।
सगुण सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाय॥

विहारी का कहना है कि राधा के सलोने रूप को हम ज्यो-ज्यो पीते हैं, त्यो-त्यो प्यासे ही रहते हैं। नेत्रो की प्यास बुझती ही नही। पीने से भी यहाँ तृप्ति नही होती है। प्यास वनी ही रहती है। कारण (पीना) के रहने पर भी कार्य (प्यास बुझने) का अभाव। अत विशेषोक्ति अलकार।

(iv) कही कारण तथा कार्य के देश, काल में व्यवधान। नियमानुसार जिस देश मे तथा काल मे कारण होता है, वहीं और उसी समय कार्य भी होना चाहिए। इस नियम का उल्लघन होने से **'असंगति'** अलकार होता है। इसका सबसे रुचिर उदाहरण है विहारी का यह दोहा—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

जहाँ कोई वस्तु उरझती है, वही टूटती है। जहाँ किसी को जोडते हैं, वही गाँठ पडती है। इस व्यापक अनुभव का यहाँ उल्लघन है। राधा और कृष्ण के नेत्र उरझते हैं (परस्पर मिलते हैं), परन्तु टूटता है कुटुम्ब। चतुरो के चित्त में प्रीति जुटती है, परन्तु दुर्जनो के हृदय में गाँठ पडती है अर्थात् राधा-कृष्ण के परस्पर अनुराग को देखकर सयाने लोगो का चित्त इस उचित सम्बन्ध से रीझता है, परन्तु दुष्टो के हृदय में विषाद उत्पन्न होता हैं। कार्य तथा कारण के देशकाल का पूर्ण विरोध होने से 'असगति' अलकार।

(v) कहीं कार्य तथा कारण के गुण और क्रिया में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। तव होता है **'विषमालकार'**।

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यौं ज्यौं बूडै स्याम रग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होय।

कवि का कहना है कि भक्त का प्रेमी चित्त घनश्याम के काले रग में ज्यो-ज्यो डूबता है, त्यो-त्यो वह सफेद होता जाता है। काले रग में डूबने पर वस्तु काली हो जाती है, उजली नही। कारण तथा कार्य के गुणो में अन्तर होने से 'विषमालकार'।

(ग) विरोध की इस तीसरी स्थिति में आधार तथा आधेय में किसी न किसी प्रकार का विरोध विद्यमान रहता है। कही तो छोटे आधार में बडा आधेय रहता

है (अल्प) और कहीं बड़े आधार में रखने से आधेय की विशालता सूचित होती है और कहीं बड़े आधेय को छोटे आधार में रखते हैं। इन अन्तिम दोनों दशाओं में 'अधिक' अलंकार होता है।

अब जीवन की है कपि आस न मोहि।
कनगुरिया की मुँदरी कंकना होहि॥

जानकी जी हनुमान जी से कह रही हैं कि अब मुझे जीने की तनिक भी आशा नहीं है, क्योंकि छिगुनी का छल्ला (अत्यन्त छोटा छल्ला) मेरे हाथ में कंकण की तरह होता है। सीताजी इतनी दुबली हो गई हैं। छोटे आधार में बड़े आधेय की स्थिति होने से यह 'अल्प' अलंकार है।

जामें भारी भुवन सब गँवई से दरसात।
तेहि अखंड ब्रह्मंड में तेरो जस न अमात॥

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में नहीं अमाने से यश की विशालता का कीर्तन है। **'अधिक'** अलंकार।

(३) शृंखलामूलक अलंकार

इन अलंकारों में एक बात से दूसरी बात, (एक कथन से दूसरा कथन), उसी प्रकार जुड़ती चली जाती है जिस प्रकार किसी जंजीर की कड़ियाँ एक दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं। अब प्रश्न यह है कि एक कड़ी का लगाव दूसरी कड़ी के साथ किस प्रकार का होता है? यह लगाव भिन्न-भिन्न रूप से दीखता है और इसी में चमत्कार उत्पन्न होने से नये नये अलंकार जनमते हैं। इस सम्बन्ध की ये भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं—

(i) जब क्रम से पूर्व वस्तु के साथ उत्तर वस्तु विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध रखती हैं, तब **'एकावली'** अलंकार होता है अर्थात प्रथम वस्तु विशेष्य होती है और उसके बाद वाली वस्तु उसका विशेषण होती है। जैसे

सो नहिं सर जित सरसिज नाहीं।
सरसिज नहिं जेहिं अलि न लुभाहीं।
अलि नहिं जो कल गुंजन हीना।
गुंजन नहिं जु मन न हरि लीना॥

पद्य का आशय है कि वह तलाव नही है जहाँ कमल नही खिले हो। वह कमल जिसकी ओर भौंरे नही लुभाते। वह भौंरा नही जो मीठा गुजन नही करता और वह गुजन भी व्यर्थ है जो मन को हर नही लेता। यहाँ सर, सरसिज, अलि तथा गुजन में पूर्व वस्तु विशेष्य है और उसके ठीक उत्तर आने वाली वस्तु निषेध से उसके गुनो को बखानती है। अत 'एकावली' अलकार।

(ii) क्रमसे पूर्व वस्तु के साथ उत्तरोत्तर वस्तु का सम्बन्ध कारण—कार्य सा हो, तब **'कारणमाला'** होता है। एकावली तथा कारणमाला का अन्तर स्पष्ट है। 'कारणमाला' में केवल कारण और कार्य की शृखला बनाई जाती है। एकावली में सब ही वस्तुओ की शृखला होती है।

विनु सतसग न हरिकथा, तेहि विनु मोह न भागु।
मोह गये विनु राम पद, होय न दृढ अनुरागु॥

यहाँ सतसग, हरिकथा, मोह, अनुराग मे क्रमसे पूर्व कारण है और उसके बाद वाली वस्तुएँ कार्य हैं। अतएव कारणो का समूह होने से यहाँ 'कारणमाला' अलकार है।

(iii) जब क्रमसे पूर्व वस्तु उपकार्य होती है तथा उत्तर वस्तु उपकारक होती हैं, तब होता है **मालादीपक**। अर्थात् पीछे आनेवाली चीजें अपने से पूर्व विद्यमान रहने-वाली वस्तुओ का उपकार करती हैं। महाकवि भूषण का यह पद्य देखिये—

मन कविभूषण को सिव की भगति जीत्यौ
सिव की भगति जीत्यौं साधुजन सेवा ने।
साधुजन जीते या कठिन कलिकाल, कलि-
काल महावीर महाराज महिमेवा ने।
जगत में जीते महावीर महाराजन ते
महाराज वावन हूँ पातसाह लेवा ने।
पातसाहि वावनौ दिली के पातसाहि
दिल्लीपति पातसाहै जीत्यौ हिंदूपति सेवा ने॥

(iv) जब पूर्ववस्तु हीन होती है और उत्तरवस्तु उससे बढकर होती है, अर्थात् अपकर्ष उत्कर्ष की स्थिति होने पर **'सार'** अलकार होता है।

मखमल ते कोमल महा कदलि-गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम तिहारे गात॥

हे राम, मखमल कोमल चीज होता है। उससे कोमल होता है केला के भीतर का पत्ता और उससे भी अधिक कोमल तुम्हारे गात हैं। यहाँ मखमल—केला-गर्भ का पात—राम के गात एक दूसरे से कोमलता मे बढकर बतलाये गये है। इसलिए यहाँ 'सार' अलकार हुआ।

(४) तर्कन्यायमूलक अलकार

इस श्रेणी के अलकार वे होते हैं जिसमे नैयायिक अनुमान का सहारा लिया जाता है। कारण दो प्रकार का होता है—एक होता है उत्पादक हेतु, जैसे पिता पुत्र का, दूसरा ज्ञापक हेतु होता है जैसे दीप के द्वारा घटका, कमरे में पहिले से रहनेवाले घडे को दीप वहाँ आकर प्रकट कर देता है। अत वह 'ज्ञापक' हेतु कहलाता है। जहाँ उत्पादक हेतु तथा उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य का कथन होता है वहाँ होता है **'अनुमान'** अलकार। ज्ञापक हेतु तथा कार्य के कथन होने पर **'काव्यलिंग'** अलकार होता है।

इस प्रकार ज्ञापक हेतु के द्वारा जहाँ अर्थ का समर्थन होता है। वहाँ 'काव्य-लिङ्ग' अलकार होता है—

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

कवि कहता है कि धतूरे की अपेक्षा सोने मे सौगुनी मादकता होती है। इस कथन के समर्थन मे ज्ञापक हेतु है कि धतूरा खाने से मनुष्य बौराता है, परन्तु सोना पाने से ही वह बौरा जाता है। यहाँ बौरा जाना मादकता का हेतु है। अर्थात् दोहे के पूर्वार्ध के लिए उत्तरार्ध हेतु का काम करता है। इसलिए यहाँ काव्यलिङ्ग अलकार है।

अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग से भिन्न तथा स्वतन्त्र अलकार है। यहाँ भी एक अर्थ का दूसरे अर्थ से समर्थन होता है, परन्तु समर्थनीय और समर्थक वाक्यो मे

परस्पर सामान्य-विशेष सम्बन्ध बना रहता है। समर्थनीय वाक्य कभी सामान्य होता है, तब उसका समर्थन विशेष वाक्य के द्वारा किया जाता है। कभी इससे विपरीत स्थिति होती है अर्थात् समर्थनीय वाक्य विशेष होता है और समर्थक वाक्य ही सामान्य होता है। काव्यलिंग में भी समर्थन होता है अवश्य, परन्तु दोनो वाक्यो में सामान्य-विशेष से भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता है। यही दोनो का अन्तर है।

(क) सामान्य का समर्थन विशेष से—

जे छोडत कुल आपनो ते पावत बहु खेद।
लखहु बस तजि बाँसुरी लहै लोह को छेद॥

यहाँ पूर्वार्ध सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादक है कि जो व्यक्ति अपने कुल को छोडता है वह बहुत ही दु ख उठाता है। इसके समर्थन में बाँसुरी की दशा का वर्णन है कि वह अपने कुल अर्थात् बाँस को छोड देने पर लोहे के द्वारा छाती में छेदो को पाती है अर्थात् उसकी छाती में छेद किये जाते हैं। बाँसुरी एक विशिष्ट वस्तु ठहरी और इसीलिए समर्थक वाक्य विशेष है।

(ख) विशेष का समर्थन सामान्य से —

कैसे फूले देखियत प्रात कमल के गोत।
'दास' मित्र उद्योत लखि, सबै प्रफुल्लित होत॥

'प्रात काल कमल के समूह फूले दीखते हैं'—समर्थनीय वाक्य विशेष रूप में है। इसके समर्थन में दास कवि का कहना है कि मित्र के उदय को देखकर सब कोई प्रसन्न होता है। यह वाक्य सामान्य ठहरा, क्योकि यह एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादक है। अत यहाँ विशेष का सामान्य से समर्थन। अर्थान्तरन्यास वाले वाक्य सुन्दर सूक्ति के रूप में प्रसिद्ध होते हैं।

(५) वाक्यन्यायमूलक अलकार

इस श्रेणी के अलकारो मे वाक्यो के सघटन और विधि-विधान के विचार से वस्तुओं के क्रम तथा परिवर्तन का वर्णन किया जाता है—

(1) कही पर क्रमपूर्वक कथित पदार्थों का अन्वय उसी क्रम से कथित वस्तुओ के साथ किया जाता है, वहाँ 'यथासंख्य' अलकार होता है। जैसे—

अमी हलाहल मद-भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

नायिका के नेत्रों मे तीन रंग हैं सफेद, काला तथा लाल जो क्रम से अमृत, विष तथा मद जैसे प्रतीत होते हैं। जिसके ऊपर वह सुन्दरी ऐसे-ऐसे नेत्र से देखती है वह उसी क्रम से जीता है, मरता है तथा गिरता पड़ता है। क्रमिक सम्बन्ध के कारण ही इनका चमत्कार है। आँख का सफेद रंग अमृत होने से जिलाता है, विषरूपी काला रंग मार डालता है तथा लाल रंग शराब होने के कारण मतवाला बना देता है जिससे वह व्यक्ति ऊँघता फिरता है।

(ii) कहीं पर एक वस्तु को लेकर दूसरी वस्तु दी जाती है वहाँ अदला-बदली होने के कारण 'परिवृत्ति' अलंकार होता है।

(iii) कहीं पर किसी वस्तु, धर्म, गुण अथवा जाति को अन्य सब उपयुक्त स्थानों से हटाकर किसी एक विशेष स्थान पर ठहराते हैं, तब 'परिसंख्या' अलंकार होता है—

दण्ड जतिन कर भेद जँह नर्तक नृत्य समाज।
जीतौ मनसिज मुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

राम के राज्य मे दण्ड केवल सन्यासियों के हाथ में था, अन्यत्र दण्ड (सजा) नहीं था। भेद (भेद की नीति) कहीं नहीं था, केवल नर्तक समाज में सुर, ताल, राग का भेद (विलगाव) देखा जाता था। यहाँ वर्जन में ही तात्पर्य रहता है।

इसी प्रकार पर्याय, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय तथा समाधि अलंकारों का अन्तर्भाव इसी वर्ग के भीतर किया जाता है।

(६) लोकन्यायमूलक अलंकार

जहाँ पदार्थों मे अन्य पदार्थों से सम्पर्क होने से रूप आदि का परिवर्तन हो जाता है या उनके एकदम लीन होने का वर्णन होता है वहाँ इस श्रेणी के अलंकार होते हैं।

(i) जहाँ अधिक रंगवाली वस्तु के साथ आने से कोई वस्तु अपने रंग को छोड़कर दूसरे का रंग ले लेती है तब 'तद्गुण' अलंकार और (ii) जब नहीं लेती तब अतद्गुण अलंकार होता है।

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रग होति॥

भगवान् श्री कृष्ण के होठो पर रखी हुई बाँसुरी ओठ, दृष्टि, पट की ज्योति पडने के कारण अपने असली हरे रग को छोड देती है और इन्द्रधनुष के रग को ले लेती है। अत ग के ग्रहण करने से 'तद्गुण' अलकार हुआ।

लाल बाल अनुराग सो रँगत रोज सब अग।
तऊ न छाडत रावरो रूप साँवरो रग॥

राधा अपने अनुराग से (लाल रग से) कृष्ण के सब अगो को रोज रँगती है, परन्तु कृष्ण का साँवला रूप अपने साँवले रग को छोडकर कभी लाल रग नही बन जाता। अत रग के ग्रहण न करने से यह 'अतद्गुण' अलकार है।

(111) कही दो चीजें एक रग में ऐसी मिल जाती है कि उन दोनो में कोई भेद ही नही दीख पडता उसे 'मीलित' कहते है।

पान पीक अधरान मे सखी लखी ना जाय।
कजरारी अँखियान मे कजरा री न लखाय॥

यहाँ लाल होठ में पान की लाल पीक मिलकर एक हो जाती है तथा कजरारी आँखो मे लगाया गया भी काजर नही दीख पडता। दोनो का रग ऐसा मिल गया है कि दोनो वस्तुयें अलग-अलग दिखलाई नही पडती।

'तद्गुण' तथा 'मीलित' में कुछ साम्य आपातत प्रतीत होता है, परन्तु दोनो में भिन्नता है। साम्य इतना ही है कि दोनो में बलवत्तर पदार्थ निर्बल पदार्थ को दबा देता है, परन्तु भेद यह है कि तद्गुण में एक वस्तु का गुण दूसरे वस्तु के गुण को छिपा देता है, परन्तु मीलित मे स्वय वस्तु ही (धर्मी ही) अपर वस्तु को (धर्मी को) तिरोहित करती है। 'तद्गुण' मे तिरोहित करनेवाला धर्म पहिले से भिन्न होता है, परन्तु मीलित में दोनो धर्मी समान गुणवाले होते है।

इसी के अन्तर्गत प्रत्यनीक, सामान्य, उत्तर अलकारो का भी समावेश किया जाता है।

(७) गूढार्थ-प्रतीति-मूलक अलंकार

अलंकारों के वर्गीकरण का अन्तिम आधार है—गूढार्थ प्रतीति अर्थात् किसी छिपे हुए अर्थ को प्रकट या संकेत करना। यह नाना प्रकार से दिखाई पड़ती है जिससे अनेक अलंकारों का समावेश यहाँ होता है—

(i) कहीं दूसरे का किया हुआ कोई सूक्ष्म कृत्य, संकेत, या चेष्टा देखकर कोई व्यक्ति इशारे से ही उसका उत्तर देता है या समाधान करता है, वहाँ 'सूक्ष्म' अलंकार होता है—

विनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसकानी॥

यहाँ विनय से भवानीजी सीताजी के मन का अभिप्राय समझ गई और मुसकाकर अपना तात्पर्य भी बता दिया। संकेत से संकेतित अर्थ का प्रकटीकरण होने से 'सूक्ष्म'।

(ii) कहीं एक के आकार से उसका छिपा हुआ वृतान्त समझ लेना और ऐसी क्रिया करना जिससे छिपे वृत्तान्त के जानने का संकेत हो जाय, वहाँ 'पिहित' अलंकार होता है।

जल को गए लक्खन हैं लरिका, परखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
'तुलसी' रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ पुलक्यो तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥

सीताजी वनगमन के समय थक गई हैं। लक्ष्मनजी को पानी लाने भेजा है। तब तक ठहरने के लिए राम से अनुरोध करती हैं। सीता ने अपनी थकावट को छिपा रखा। राम समझ गये और एक पेड़ के नीचे बैठकर बहुत देर तक अपने पैर से काँटे निकालते रहे। स्पष्ट ही 'पिहित' अलंकार है। प्रथम तीन ही चरण पर्याप्त हैं। अन्तिम चरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(iii) कहीं दूसरे के प्रति उद्देश्य कर कोई वचन कहना जिससे वह गुप्त रूप से और समझ ले, वहाँ 'गूढ़ोक्ति' अलंकार होता है। 'अनीस' कवि का यह प्रस्थान संनिहित गूढ़ोक्ति का सुन्दर दृष्टान्त है—

सुनिए विटप ! हम पुहुप तिहारे अहैं,
राखिहौ हमैं तो सोभा रावरी बढावैंगे।
तजिहौ हरपि कै तो विलग न मानै कछू,
जहाँ जहाँ जैहै तहाँ दूनो जस पावैंगे।
सुरन चढैंगे नर-सिरन चढैंगे वर
सुकवि 'अनीस' हाथ हाथन विकावैंगे।
देस मे रहैंगे परदेस में रहैंगे
काहू भेस मे रहैंगे तऊ रावरे कहावैंगे॥

कवि यहाँ वृक्ष से कोई उक्ति कह रहा है, पर उसका अभिप्राय किसी धनी मानी प्रभु से है जो इस उक्ति को सुनता है और समझता है। यही गूढोक्ति है।

इसी वर्ग के भीतर स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त तथा सूक्ष्म आदि अलकारो का समावेश माना जाता है। अन्य अलकारो का भी समावेश इन्ही वर्गो के भीतर कही न कही किया जा सकता है। विस्तारभय से यहाँ उन सबकी चर्चा नही की जा रही है। भिन्न भिन्न अलकारो का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पूर्वोक्त वर्गीकरण रुय्यक ने अपने 'अलकार सर्वस्व' मे किया है। यह वर्गीकरण विशेष व्यापक तथा हृदयावर्जक है और इसीलिए यह प्राय सर्वत्र स्वीकृत तथा आदृत किया गया है।

त्रयोदश परिच्छेद

ध्वनि सिद्धान्त

काशी मे गगा के तीर पर एक पाठशाला है। छात्रगण बडे प्रेम तथा मनोयोग से वैदिकमत्रो का अध्ययन कर रहे है। कभी मन्त्रो का सस्वर पाठ कर रहे है और कभी उन मन्त्रो की व्याख्या मे प्रवृत्त हो रहे है। दिन ढल गया है। सन्ध्या की लालिमा प्राची क्षितिज को अपने सुनहले रग से रँग चुकी है। इतने मे गुरुजी ने गम्भीर स्वर मे कहना आरम्भ किया—गतोऽस्तम् अर्क (=सूरज डूब गया)। इस वाक्य को सुनते ही छात्रगण पढना बन्द कर देते है और अपना कुशासन तथा पचपात्र लेकर सन्ध्या-वदन के निमित्त गगा के किनारे चले जाते है और साय-सन्ध्या मे निमग्न हो जाते है। उसी समय काशी के चौक मे चलिये और वहाँ के दृश्य पर दृष्टिपात कीजिए। एक बडी ही ऊँची सजी हुई दुकान है जिसमे नाना प्रकार की रग-बिरगी रेशमी साडियाँ बिक्री के लिए लटकाई गई है। ज्योही सन्ध्या-काल का भान होता है, त्योही दुकान का मालिक आदेश भरे शब्दो में पुकार उठता है—गतोऽस्तमर्क (=सूरज डूब गया) इस वाक्य को सुनते ही नौकर लोग सचेत हो जाते है और बटन दबाकर बिजुली की बत्तियाँ जलाने लगते है। सजी दुकान बिजुली की रोशनी से जगमगा उठती है। एक तीसरा दृश्य है काशी के पास ही एक गाँव का। अहीरो के लडके अपनी मस्ती मे चरागाह मे गायो को चरा रहे है। इतने में सन्ध्या-कालीन आकाश मे लालिमा छा जाती है और उनमे एक वयस्क बालक पुकारता है—सूरज डूब गइल। कानो पर इस वाक्य के पडते ही सब बालक अपनी गायो को इकट्ठा करने लगते है और उन्हे बटोर कर ये गीत गाते हुए घर की ओर चल देते है।

अब प्रश्न यह है कि तीन प्रसङ्गो में एक ही वाक्य का उच्चारण किया जाता है और तीनों स्थानो पर वह तीन भिन्न भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति करता है—(क)

पाठशाला के छात्रो के लिए 'गतोऽस्तमर्क' का अर्थ अध्ययन समाप्त कर सन्ध्या-वन्दन के लिए आदेश है, (ख) दूकान के नौकरो के लिए दूकान सजाने, बिजली जलाने तथा तैयार रहने की आज्ञा है तथा (ग) ग्वाल-बालको के लिए गायो को इकट्ठा कर उन्हे घर ले चलने की सलाह है। एक ही वाक्य के तीन अर्थ हो रहे है और स्पष्टत ये तीनो अर्थ स्थान की विभिन्नता तथा वक्ता और बोधक के भेद के कारण है। परन्तु विचारणीय बात यह है कि "सूरज डूब गया" इस तीन पदो के वाक्य में इतने अर्थो की गुजाइश कहाँ है? इनमें से किसी पद का अर्थ पूर्वोक्त अर्थो से मेल नही खाता। इसका उत्तर यही है कि सूरज के डूब जाने का अर्थ तो सामान्यत वाच्य अर्थ है, परन्तु सन्दर्भ-विशेष से निकलने वाले ये तीनो अर्थ **प्रतीयमान** या व्यङ्ग्य अर्थ कहलाते है। कानो से जितना सुनाई पडता है, उतना ही अनेक वाक्यो का अर्थ नही होता, प्रत्युत उससे भिन्न, तथा गम्भीर अर्थ की अभिव्यक्ति अवस्था तथा कारण विशेष से उसी वाक्य से होती है। इस द्वितीय अर्थ को हम प्रतीयमान अर्थ मानते है और उस रखने वाले वाक्य को **'ध्वनि काव्य'** की सज्ञा देते है।

'ध्वनि' शब्द का अर्थ

आलकारिक लोग 'ध्वनि' नाम के लिए वैयाकरणो के ऋणी है। व्याकरण शास्त्र मे ध्वनि का एक विशिष्ट अर्थ होता है और उसी अर्थ की समता के कारण इस शब्द का व्यापक व्यवहार अलकार-शास्त्र मे किया गया है। उच्चरित शब्द को 'ध्वनि' कहते है। पानी लाने का इच्छुक व्यक्ति कहता है—घटम् आनय (घडा लाओ) यहाँ जिस घट शब्द का हम उच्चारण करते है वह 'ध्वनि' कहलाता है। ध्वनि की सत्ता क्षणिक होती है। वह एक क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में वह अवसर ही नही आता, जब वर्णो का समुच्चय हो और वे मिलकर सामूहिक रूप से किसी अर्थ की द्योतना करें।

उदाहरणार्थ 'घट' शब्द पर दृष्टिपात कीजिये। इस शब्द का प्रथम अक्षर 'घ' जब हमें सुनाई पडता है, तब 'ट' वर्ण भविष्य के गर्भ में ही छिपा रहता है। उधर 'ट' के श्रवण होने के समय 'घ' उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में विलीन हुआ रहता है। इस प्रकार वह समय ही नही आता, जब 'घ' और 'ट' समुच्चरित होकर एक साथ मिलकर—किसी अर्थ का प्रकाश करें। इस त्रुटि को दूर करने के लिए वैयाकरणो ने एक **नित्य** शब्द की कल्पना की है जो सदा विद्यमान रहता है और जो ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसी नित्य शब्द से अर्थ फूटता है

और इसी लिए इसका नाम स्फोट है ('स्फुटति अर्थ अस्माद्' इति स्फोट)। इसके लिए अनित्य ध्वनि का काम इतना ही है कि वह स्फोट की अभिव्यक्तिमात्र कर देती है। इस प्रकार ध्वनि से अर्थ की उत्पत्ति न होने पर भी 'स्फोट' के प्रकट करने के लिए उसकी महती आवश्यकता होती है। इस रीति से 'ध्वनि' का स्वरूप हुआ।

अभिव्यञ्जक शब्द

आलङ्कारिकों ने इसी ध्वनि शब्द को ग्रहण कर अपने शास्त्र मे प्रयुक्त किया, परन्तु उन्होंने उसके अर्थ को विस्तृत कर दिया। जहाँ 'ध्वनि' मूलत अभिव्यञ्जक शब्द के ही लिए सीमित थी, वहाँ अब वह अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त की जाने लगी। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र मे 'ध्वनि' शब्द केवल अभिव्यञ्जक शब्द के ही लिए प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द के लिए साहित्यशास्त्र व्याकरणशास्त्र का सर्वथा ऋणी है।

ध्वनि का महत्त्व

ध्वनि का उपयोग काव्य की सृष्टि मे बहुत ही अधिक है। ध्वनि की सत्ता बहुत ही प्राचीन है। यह उतनी ही प्राचीन है जितनी काव्य कला। ध्वनि का आश्रय लेने से कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप मे विकसित होती है। प्राचीन अर्थ को ग्रहण कर लिखी गई कविता ध्वनि से सपन्न होने पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करती है। काव्य मे कथनप्रकार का ही विशेष महत्त्व रहता है। वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णनप्रकार मे विभिन्नता तथा नवीनता है तब वह वस्तु हमारे लिए नवीन तथा चमत्कार युक्त प्रतीत होती है। वाटिका के वृक्षो में मूलत किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है। वे ही पुराने वृक्ष होते है, परन्तु वसन्त ऋतु के प्रादुर्भाव से वृक्षो मे अपूर्वता दीखने लगती है। ध्वनि से युक्त काव्य की भी यही दशा है। अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का संयोग उसमे नवीन जीवन फूंक देता है तथा नई शक्ति प्रदान करता है। ध्वनि के कारण अर्थो मे अपूर्वता तथा नवीनता अवश्य-मेव आ जाती है। एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण नया तथा अपूर्व जान पडता है। इसलिए कवि लोग ध्वनि का आश्रय लिया करते हैं।

आनन्दवर्धन ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वे ही पुराने पेड़ है; वही वृक्षो से रहित लताये हैं; वही फलो से विहीन टहनियां है, सब कुछ पुराना

है, परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति मे नवीन परिवर्तन हो जाता है। वृक्षो में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रो को तृप्त करते हैं, शाखायें हरी-भरी सी दिखाई देती हैं। मञ्जरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खीच लेता है। वृक्षो मे यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने। उसी भाँति कवि भी रस के द्वारा चमत्कार पैदा कर पुराने भावो में नवीनता भर देता है। कही शब्द को बदल देता है, तो कही नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। ध्वनि का यही चमत्कारी फल होता है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा ॥

(ध्वन्यालोक)

ध्वनि के विषय मे प्राचीन मत

ध्वनि की शास्त्रीय मीमासा करने का श्रेय आनन्दवर्धनाचार्य को है। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर हम कह सकते हैं कि ध्वनि के विषय में प्राचीन काल में तीन विशिष्ट मत थे —

(१) अभाववादी
(२) भक्तिवादी
(३) अनिवर्चनीयत्ववादी

(१) अभाववादी का मत

अभाववादी आचार्यो के मत में ध्वनि की सत्ता मान्य नही है, परन्तु विभिन्न आचार्यो ने इस अभाव को सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न युक्तियाँ दी हैं और इस मत में अनेक अवान्तर भेद हैं। इसीलिए अभाववादी आचार्यो के भी तीन अवान्तर पक्ष हैं—

(क) प्रथम पक्ष का कहना है कि काव्य के गुणादायक पदार्थों का विवेचन प्राचीन अलकार ग्रन्थो में किया गया है। शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है। शब्द अर्थ की चारुता दो प्रकार से होती है। (१) स्वरूप मात्र से रहने वाली तथा (२) सघटनामें रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालकार के

द्वारा होती है और सघटनाश्रित चारुता शब्द-गुणो के द्वारा होती है। इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता उपमा आदि अलकारों के द्वारा होती है और सघटनाश्रित चारुता अर्थगुणो के द्वारा होती है। वृत्तियो तथा रीतियो के द्वारा भी काव्य मे चारुता उत्पन्न होती है, परन्तु ये वृत्तियां और रीतियाँ भी गुणालकार से भिन्न नही होती। वृत्ति-अनुप्रास का ही भेद मानी गई है। वृत्तियां तीन होती है—(१) परुषा, (२) उपनागरिका, (३) कोमला। ये तीनो ही अनुप्रास के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार गौडी, वैदर्भी तथा पाचाली नामक रीतियाँ भी माधुर्य आदि गुणो की ही समुदायरूप है। ऐसी दशा में वृत्ति और रीति गुण और अलकार से भिन्न नही है। ये ही काव्य मे चमत्कार उत्पादक तत्त्व है। तब ध्वनि नामक पदार्थ को काव्य में चारुता उत्पन्न करने का साधन मानना नितान्त अनुचित है। अत ध्वनि नामक पदार्थ वस्तुत असत्य है।

(ख) अभाववादी का दूसरा पक्ष **प्रस्थानवादी** कहा जा सकता है। यदि कोई कहे कि ध्वनि शब्द अर्थ का स्वभाव भले न हो और यह शब्द अर्थ की चारुता का कारण भी न हो प्रत्युत गुण और अलकार से अतिरिक्त ही ध्वनि की सत्ता सिद्ध होती है, तो इस पक्ष का खण्डन इस प्रकार होगा। काव्य सहृदयो के हृदय को आनन्दित करनेवाले शब्द और अर्थ के युगल रूप मे ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सकल सहृदयो के द्वारा निर्दिष्ट गुण और अलकारो से समन्वित 'काव्य' ही काव्य शब्द का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय मे इस प्रकार का कोई भी सर्वसम्मत सिद्धान्त नही है। कतिपय सहृदयो का यह मनोरजन भले ही करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनो के हृदय को यह आकृष्ट नही कर सकता। अत ध्वनि की सत्ता इस दृष्टि से भी असिद्ध है।

(ग) अभाववादी का यह तृतीय पक्ष **अन्तर्भाववादी** के नाम से पुकारा जा सकता है। इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नही हो सकती। ध्वनि स्वत काव्य मे चारुता उत्पन्न करने का कारण है। ऐसी दशा मे काव्य मे शोभा उत्पन्न करनेवाले जितने साधन माने जाते है उन्ही के भीतर कही इसका अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नही ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट चारुतासाधक साधन का यह एक नवीन नामकरण है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कही कोई अन्त है। अलकारो को ही लीजिये। भरत-मुनि ने केवल चार ही अलकारो का वर्गीकरण किया है। परन्तु पिछले आलकारिको

ने नई-नई विचित्रताओ की कल्पना करके उन्ही चार अलकारो को बढाते-बढाते अलकारो की सख्या एक सौ से ऊपर पहुँचा दी है। गुण और रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति आदि काव्य-तत्त्वो का विवेचन एक ही युग की घटना नही है। यह कोई भी आलोचक नही कह सकता कि शब्द और अर्थ की विचित्रताओ की सख्या केवल इतनी ही है और इतने मे अधिक नही हो सकती। फलत इन्ही विचित्रताओ में से एक विचित्रता का नाम ध्वनि है। अत ध्वनि की सत्ता को स्वतत्र रूप से मानना कथमपि सिद्ध नही होता। उसकी स्थिति तो गुण और अलकारो के भीतर ही कही सिद्ध की जा सकती है। अन्तर्भाववादियो का यही सक्षिप्त सिद्धान्त है।

इन तीनो अवान्तर मतो में भी सूक्ष्म भेद है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'ध्वनि' नामक कोई तत्त्व होता ही नही। द्वितीय पक्ष के अनुसार भी 'ध्वनि' काव्य विद्यमान नही होता। क्योकि यह सर्वसम्मत काव्य तत्त्व नही है। कतिपय आलोचक ही इसकी सत्ता मे विश्वास करते हैं, परन्तु सब आलोचको की सम्मति इसके पक्ष में नही है। तृतीय पक्ष में ध्वनि मान्य तो है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप मे नही। गुण, अलकार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वो के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। न तीनो पक्षो को हम क्रमश अभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम दे सकते है।

(२) भक्तिवादी आचार्यों का मत

'भक्ति' शब्द का अर्थ है लक्षणा। भक्ति के इस नवीन अर्थ के लिए अनेक कारण कल्पित किये जा सकते है। भक्ति का एक अर्थ है भग यानी तोडना। अत मुख्य अर्थ को तोडकर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जाती है, ऐसे स्थल (लक्षणा को) को, भक्ति शब्द के द्वारा अभिहित करना न्यायसगत है। भक्ति का दूसरा अर्थ है श्रद्धा का अतिशय। किसी विशेष प्रयोजन में श्रद्धा होने पर ही लक्षणा की जाती है जिसका नाम प्रयोजनवती लक्षणा होता है। इस लक्षणा की सूचना भक्ति के इस द्वितीय अर्थ के द्वारा भली भाँति दी जाती है। भक्ति का एक तीसरा अर्थ है सेवा अर्थात् पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाला नवीन अर्थ। इन तीनो अर्थो को सकेतित करने के कारण **भक्ति** शब्द का अर्थ साहित्यशास्त्र मे लक्षणा किया जाता है।

इस पक्षवाले आचार्यों का मत है कि प्राचीन आचार्यो ने स्पष्ट रूप से ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के भीतर नही किया है। परन्तु उन्होने शब्दो की दो प्रकार

को वृत्ति स्वीकार की है—एक का नाम है मुख्य वृत्ति और दूसरी का नाम है गुण वृत्ति। इसी गुण-वृत्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव ये आचार्य मानते है।

(३) अनिर्वचनीयत्ववादी मत

अनिर्वचनीयतावादी आचार्यो के मत मे ध्वनि का तत्त्व वाणी के द्वारा किसी प्रकार प्रकाशित नही किया जा सकता। यह केवल स्वत अनुभूति का ही विषय होता है। इस मत मे ध्वनि की सत्ता अवश्य है। परन्तु इसकी पूरी मीमासा शब्दो के द्वारा कथमपि नही की जा सकती।

इन तीनो मतो की समीक्षा करने से हम कह सकते है कि अभाववादी सब प्रकार से भ्रान्त है। वे ध्वनि के मौलिक रूप से सर्वथा अपरिचित है। वे प्रस्थानवादी होने के कारण प्राचीन लकीर से एक पग भी आगे बढना नही चाहते और इस प्रकार काव्य मे किसी भी नवीन तत्त्व के आविर्भाव तथा समावेश के नितान्त विरोधी है। भक्तिवादी उसके रूप से अवश्य परिचित है। वे जानते है कि ध्वनि वाच्य से भिन्न कोई नवीन पदार्थ अवश्य है परन्तु सदिग्ध होने के कारण वे उसके रूप को वस्तुत छिपाते है। अन्तिम मतवाले भी आचार्य ध्वनि के स्वरूप का परिचय तो रखते है परन्तु उसकी व्याख्या तथा मीमासा के विरोधी है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि अभाववाद मे मिथ्या ज्ञान है, भक्तिवाद में सन्देह की प्रबलता है और अनिर्वचनीयतावाद मे अज्ञान का प्राधान्य है।

ध्वनि विरोध की समीक्षा

इन मतो की समीक्षा कर आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी आचार्यो ने सिद्ध किया है कि ध्वनि का न तो अभाव है, न तो वह लक्षणा के ही अन्तर्गत है, और न उसका स्वरूप ही विवेचना से बाहर है, प्रत्युत वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है जिसके रूप तथा भेदो का विवरण विशद रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है।

वाच्य और व्यंग्य भेद

किसी शब्द के मुख्य अर्थ को वाच्य अर्थ कहते है जैसे गगा का मुख्य अर्थ है एक जल की धारा। व्यग्य अर्थ भी एक स्वतन्त्र अर्थ है और वह वाच्य अर्थ से एकदम भिन्न तथा अलग ही होता है। व्यंग्य अर्थ वाच्य से आठ प्रकार के भेदो के कारण नितान्त

पृथक् माना जाता है। इस प्राचीन कारिका में इन भेदो का निर्देश एक साथ बडी सुन्दरता के साथ किया गया है।

बोद्धृ स्वरूप सख्या निमित्त कार्य प्रतीतिकालानाम्।
आश्रय विषयादीना भेदात् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्य॰॥

(१) **बोद्धा**—अर्थ को समझनेवाला प्राणी। वाच्य अर्थ का ज्ञान तो व्याकरण और कोप जाननेवाले प्रत्येक पुरुप को हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान (व्यग्य) अर्थ का ज्ञान तो केवल उन्ही व्यक्तियो को होता हे जो काव्य के मर्मज्ञ तया रसिक (सहृदय) होते हे।

(२) **स्वरूप**—वाच्य अर्थ कही पर विधि के रूप में रहता है तो प्रतीयमान अर्थ निपेव रूप मे। कही वाच्य अर्थ निन्दा प्रकट करता है तो व्यग्य अर्थ स्तुतिबोधक होता है। कही मुख्य अर्थ निपेध प्रकट करता है तो प्रतीयमान अर्थ उसी पद्य मे एक ही जगह विधि का बोध कराता है। इस प्रकार दोनो में स्वरूप का भेद नितान्त स्पप्ट है।

(३) **सख्या**—वाच्य अर्थ सदा प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही होता है। धेनु शब्द का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति एक ही रूप से ग्रहण करता है, परन्तु प्रकरण, वक्ता, देश काल आदि की भिन्नता होने के कारण प्रतीयमान अर्थ अनेक होता है। इस परिच्छेद के आरम्भ मे ही दिखलाया गया है कि सूरज डूब गया—इस वाक्य का मुख्य अर्थ एक ही होता है, परन्तु उसका प्रतीयमान अर्थ सन्दर्भ की विशिप्टता के कारण भिन्न-भिन्न अनेक हुआ करता है।

(४) **निमित्त** का अर्थ है कारण। वाच्य अर्थ की उत्पत्ति का कारण तो व्याकरण, कोप आदि साधन है, परन्तु व्यग्य अर्थ प्रकरण देश, काल, वक्ता तथा बोधक आदि के ज्ञान के साथ ही साथ प्रतिभा की निर्मलता की अपेक्षा रखता है।

(५) **कार्य**—दोनो से उत्पन्न कार्य भिन्न ही होता है। वाच्यार्थ का कार्य होता है केवल अर्थ की प्रतीति अथवा ज्ञान, परन्तु व्यग्यार्थ का कार्य सहृदयो की चमत्कृति है अर्थात् व्यग्यार्थ के ज्ञान से सहृदयों के हृदय मे चमत्कार उत्पन्न होता है।

(६) **प्रतीतिकाल**—दोनो की प्रतीति का काल एक समान नही रहता। शब्द के सुनते ही व्युत्पन्न पुरुप को वाच्य अर्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है परन्तु

व्यंग्य अर्थ के लिए प्रकरण आदि की सहायता आवश्यक होती है और इसी लिए इसकी प्रतीति विलम्ब से ही होती है, तुरन्त नहीं। सारांश यह है कि वाच्यार्थ की प्रतीति पूर्व में होती है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति पीछे होती है। अतः इस काल भेद से भी दोनों में भिन्नता होती है।

(७) **आश्रय**—(आधार) वाच्यार्थ का आधार केवल शब्द ही होता है, परन्तु व्यंग्य अर्थ का आधार शब्द में, उसके एक देश में, शब्द के अर्थ में, वर्ण में और वर्ण की संघटना में होता है।

(८) **विषय**—जिस व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर अर्थ प्रवृत्त होता है वह उसका 'विषय' कहलाता है। अर्थ का लक्ष्य कोई न कोई व्यक्ति ही होता है जिसे उस अर्थ का ज्ञान कराना हम चाहते हैं। यह 'विषय' भी दोनों अर्थों में भिन्न-भिन्न होता है। वाच्य अर्थ एक ही व्यक्ति के लिए अभीष्ट होता है, परन्तु व्यंग्य अर्थ का विषय उससे भिन्न अनेक व्यक्ति हो सकते हैं।

इस प्रकार बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि प्रतीयमान अर्थ एक स्वतन्त्र वस्तु है जो वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है। साहित्य शास्त्र में उपमा अनुप्रास आदि अलंकार वाच्य-वाचक के ऊपर आश्रित रहते हैं, परन्तु ध्वनि व्यंग्य-व्यञ्जक के ऊपर। दोनों अर्थ भिन्न होते ही हैं। इसलिए ध्वनि का विषय अनुप्रास आदि से नितान्त भिन्न है।

प्रस्थानवादों का यह आक्षेप करना कि ध्वनि समग्र सहृदयों द्वारा ग्राह्य तथा उल्लिखित नहीं है कथमपि ठीक नहीं है। लक्षण-ग्रन्थ बनानेवाले आचार्यों में उसकी प्रसिद्धि भले न हो, परन्तु परीक्षा करने पर ध्वनि ही काव्य में उत्तम तत्त्व प्रतीत होता है। ध्वनि से विरहित काव्य तो साधारण काव्य होता है और 'चित्र काव्य' के नाम से पुकारा जाता है। संस्कृत भाषा के आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की प्रथम कविता (मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः) रसमयी अतएव ध्वनिमयी थी। कालिदास तथा भारवि आदि प्राचीन कवियों के काव्यों में ध्वनि के उदाहरण प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं।

अन्तर्भाववादी का मत भी समीचीन नहीं है। वह ध्वनि को अलंकार के भीतर अन्तर्भाव मानकर ध्वनि की सत्ता ही नहीं मानता। किसी भी वस्तु का अन्तर्भाव

तत्समान वस्तु मे ही होता है। व्यग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध के ऊपर आश्रित होनेवाली ध्वनि का अन्तर्भाव गुण या अलकार के भीतर कैसे माना जा सकता है जब वे वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ऊपर ही आश्रित रहते है। कतिपय अलकारो मे, जैसे समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि में, द्वितीय अर्थ जरूर विद्यमान रहता है, परन्तु इससे क्या लाभ ? ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलकारो में भी तो नही हो सकता, ऐसे स्थानो पर प्रावान्य का विचार करना पडता है कि कौन वस्तु प्रधान है ? वाच्य अर्थ या व्यग्य अर्थ ? इन अलकारो मे प्रतीयमान अर्थ की तो बस एक झलक—मात्र होती है, पर्यवसान तो इनका वाच्यार्थ में ही होता है। एक बात और भी विचारणीय है। ध्वनि काव्य का अङ्गी होता है और अलकार गुण आदि अग होते है। अग का अन्तर्भाव (भीतर समावेश कर देना) अगी के भीतर तो नियमत हो सकता है, परन्तु अगी (ध्वनि) का अन्तर्भाव अग (अलकार आदि) के भीतर कैसे हो सकता है ? स्पष्ट बात यह है कि ध्वनि का क्षेत्र बडा ही विशाल तथा विस्तृत है और उधर अलकार आदि का क्षेत्र सीमित तथा सकीर्ण है। ऐसी दशा में अन्तर्भाव बनता नही और इसलिए मानना पडेगा कि अभाववादी का कोई भी पक्ष समीचीन नही है। इसलिए ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानना नितान्त उचित है।

लक्ष्यार्थ और ध्वनि

लक्ष्यार्थ से भी ध्वनि भिन्न ही होती है। इसे सिद्ध करनेवाली अनेक युक्तियो मे से अन्यतम युक्ति यह है कि लक्षण मुख्य अर्थ के साथ नियत रूप से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को ही प्रकट करती है, परन्तु व्यग्यार्थ की यह दशा नही है। उसे हम नियत सम्बन्ध के द्वारा बाँध नही सकते। वह कभी मुख्य अर्थ से, अनियत सम्बन्ध भी रखता है और कभी-कभी परम्परया सम्बद्ध अर्थ को भी प्रकट करता है। इसलिए ध्वनि की सत्ता स्वतन्त्र है।

'लक्षणा' के तीन हेतु होते है। पहिला हेतु है—मुख्य अर्थ का बाधित होना (मुख्यार्थ बाध)। मुख्य अर्थ का जहाँ वाक्य में यथार्थत अन्वय नहीं जमता, वही लक्षणा होती है। दूसरा हेतु है—तद्योग अर्थात् मुख्य अर्थ के साथ अमुख्य अर्थ का सम्बन्ध। लक्षणा के द्वारा वही अर्थ द्योतित किया जाता है जो वाच्य अर्थ के साथ सम्बद्ध होता है, असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा के ारा कथमपि नही होती। तीसरा हेतु है—रूढ़ि अथवा प्रयोजन की सत्ता। रूढि या प्रयोजन की सत्ता होने पर ही 'लक्षणा' होती है। उदाहरण से से समझिये। 'वह व्यक्ति कर्म में कुशल

है'—इस वाक्य मे कुशल का अन्वय कर्म के साथ उचित रीति से नही जमता। 'कुशल' का मुख्य अर्थ है—कुश का लानेवाला '(कुश लातीति कुशल) फलत कर्म मे 'कुश का लानेवाला' का अर्थ कुछ नही होता। अत यहाँ है—मुख्य अर्थ का बाध। अत इस मुख्य अर्थ मे सम्बद्ध अर्थ की कल्पना होनी चाहिए। कुशल के मुख्य अर्थ मे सम्बद्ध है 'विवेचक' अर्थ। कुश को वही व्यक्ति ला सकता है, जो कुश को तज्जातीय अन्य तृणो से पृथक् करने की योग्यता रखता है अर्थात् जो 'विवेचक' होता है। यहाँ 'कुशल' से चतुर या विवेचक अर्थ की कल्पना रूढि के द्वारा है। रूढि है परम्परागत अर्थ। बहुत दिनो मे कुशल का यही अर्थ चला आता है। अत 'कुशल' शब्द लाक्षणिक है जो 'लक्षण' के द्वारा 'विवेचक' अर्थ को प्रकट करता है।

लक्षणा की यही स्थिति है। इस प्रकार 'लक्षणा' भी 'अभिधा' के समान ही होती है। अभिधा जिस प्रकार अपनी शक्ति से नियत रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी नियत अर्थ को प्रकट करती है। परन्तु व्यञ्जना की स्थिति इस विषय मे भिन्न है। वह मुख्य अर्थ से असम्बद्ध अर्थ को भी प्रकट करती है। इस परिच्छेद के आरम्भ में 'सूरज डूब गया' वाक्य से होनेवाले अनेक व्यग्य अर्थो की ओर सकेत किया गया है। ये अर्थ मुख्य अर्थ के साथ साक्षात् सम्बद्ध नही हैं। एक बात और — लक्षणा की अपेक्षा ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है। ध्वनि मुख्य अर्थ की सिद्धि के अनन्तर तथा मुख्य अर्थ के बाध (असगति) होने के अनन्तर भी होती है, फलत ध्वनि कभी वाच्यार्थ के अनन्तर और कभी लक्ष्यार्थ के अनन्तर होती है। इस प्रकार उसका क्षेत्र विशाल है, परन्तु लक्षणा तो मुख्य अर्थ के बोध होने पर ही होती है। उसका क्षेत्र सकीर्ण है। प्रयोजनवती लक्षणा भी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यञ्जना का आश्रय लेती है, तब लक्षणा के भीतर व्यञ्जना के गतार्थ मानने की योजना एकदम निसार, निराधार तथा निसहाय है।

अनिर्वचनीयतावादी यदि ध्वनि को काव्य मे नितान्त गूढ तथा सूक्ष्म तत्त्व मानते है, तो उनका कथन ठीक है। नही तो उनकी उक्ति यथार्थ नही है, क्योकि, जैसा आगे दिखलाया जावेगा, ध्वनि के स्वरूप तथा प्रकारो का विवेचन हम भली भाँति कर सकते है तथा करते है। फलत ध्वनि को एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व मानना ही यथार्थ है।

व्यञ्जना के भेद

व्यञ्जना के दो भेद होते हैं— (१) **शाब्दी व्यञ्जना** तथा (२) **आर्थी व्यञ्जना**। शब्द की प्रधानता होने पर शाब्दी तथा अर्थ की प्रधानता होने पर आर्थी व्यञ्जना होती है।

शाब्दी व्यञ्जना

अनेक अर्थवाले शब्दो से युक्त वाक्य में सयोग आदि के द्वारा अर्थ का नियन्त्रण एक ही अर्थ में किया जाता है और तब शब्दो की महिमा से जो वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ शाब्दी व्यञ्जना होती है। अनेक अर्थवाले शब्दो का एक ही अर्थ मे नियमन करनेवाले कतिपय साधन हैं जिनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है —

(१) **सयोग**—वस्तुओ के सयोग से अर्थ का नियमन होता है जैसे सशखचक्रो हरि (शख और चक्र धारण किये हरि अर्थात् विष्णु)। सस्कृत में 'हरि' शब्द के वानर, सिंह, विष्णु आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं, परन्तु शख और चक्र के साथ सयोग केवल विष्णु का ही होता है। इसलिए यहाँ सयोग के द्वारा 'हरि' का अर्थ 'विष्णु' नियत किया गया है।

(२) **विप्रयोग**—विप्रयोग भी अर्थ का नियामक होता है जैसे 'अशख चक्रो हरि' (शख तथा चक्र से रहित हरि) यहाँ शख तथा चक्र के वियोग होने से हरि शब्द का नियमन 'विष्णु' के अर्थ में हुआ है।

(३) **साहचर्य**—साहचर्य के द्वारा अनेक अर्थवाले शब्दो का स्थानविशेष पर अर्थ का पता लगाया जाता है। जैसे 'राम-लक्ष्मण'। राम नामधारी तीन व्यक्ति प्राचीन काल में प्रसिद्ध हो गये हैं—परशुराम, दाशरथि राम तथा बलराम। इन तीनो व्यक्तियो का वाचक 'राम' शब्द है। यहाँ 'लक्ष्मण' के साहचर्य (एक साथ रहना) से 'राम' शब्द दशरथ के लडके राम का ही बोधक होता है, अन्य दो व्यक्तियो का नही।

(४) **विरोध**—विरोध भी अर्थ का नियामक होता है। जैसे 'रामार्जुन' शब्द। यहाँ अर्जुन या सहस्रार्जुन के साथ परशुराम जी का ही विरोध था। परशुराम ने उसे मार डाला था। फलत यहाँ अर्जुन के साथ विरोध होने के हेतु 'राम' शब्द का अर्थ परशुराम होता है, अन्य व्यक्ति का नही।

(५) **अर्थ** (प्रयोजन)—प्रयोजन के द्वारा भी अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण होता है। जैसे 'ससार के नाश के लिए 'स्याणु' की सेवा करो'। स्थाणु

के दो अर्थ होते हैं—ठूंठा पेड तथा भगवान् शकर। ससार के नाश के लिए जिस व्यक्ति की सेवा का यहाँ आदेश है वह शंकर भगवान् ही हो सकते हैं, ठूंठा पेड नहीं।

(६) प्रकरण या सन्दर्भ से भी अर्थ का पता चलता है। मन्त्री राजा से कह रहा है—देव सब जानते है। इस वाक्य में देव शब्द का अर्थ राजा है।

(७) लिङ्ग—'लिंग' का अर्थ है विशिष्ट सम्बन्ध से युक्त धर्म। 'मकरध्वज कुपित हैं' इस वाक्य में कोप से युक्त होने के कारण 'मकरध्वज' शब्द कामदेव जैसे चेतन प्राणी के अर्थ का बोधन करता है, समुद्र का नहीं। कुपित होना चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं। फलत कुपित होने की योग्यता कामदेव में ही हो सकती है, समुद्र में नहीं। अत 'मकरध्वज'=कामदेव।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—दूसरे शब्द के सन्निधान से भी शब्द का अर्थ नियत किया जाता है। जैसे 'देव पुरारति'। यहाँ 'पुरारति' का अर्थ त्रिपुर असुर को मारनेवाले शकर। यहाँ इस शब्द के पास रहने से 'देव' शब्द शम्भु का ही बोधक है।

(९) सामर्थ्य=कार्य करने का प्रभुत्व या बल। 'कोकिल मधु से मतवाला बन जाता है'। वसन्त ही कोयल को मतवाला बना डालने की शक्ति रखता है। इसलिए यहाँ 'मधु' का अर्थ शहद न होकर 'वसन्त' ही होता है।

(१०) औचित्य—योग्यता से भी अर्थ का नियन्त्रण होता है। जैसे 'दयिता-मुख आपकी रक्षा करे'। यहाँ मुख का अर्थ सामुख्य या अनुकूलता है। क्योंकि रक्षा करने की योग्यता अनुकूलता मे है, मुख मे नहीं।

(११) देश—'परमेश्वर यहाँ विराजते हैं' इस वाक्य में राजधानी रूप देश वक्ता को अभीष्ट है। फलत परमेश्वर शब्द का अर्थ यहाँ 'महाराजा' ही होना है, परब्रह्म नहीं।

(१२) काल—काल से भी अर्थ का नियमन होता है। जैसे 'चित्रभानु शोभित होता है'। यदि इस वाक्य का प्रयोग दिन मे किया जाता है, तो 'चित्रभानु' सूर्य का वाचक होगा। यदि रात में, तो इसका सकेत अग्नि होगा। 'चित्रभानु' का सूर्य तथा अग्नि दोनों ही अर्थ होता है, परन्तु काल के कारण इसका एक ही अर्थ होगा।

(१३) व्यक्ति—पुल्लिंग आदि लिंग से अर्थ का नियमन संस्कृत में होता है, हिन्दी मे नहीं। जैसे 'मित्रो भाति' (मित्र चमकता है) यहाँ पुल्लिंग मे होने के कारण

'मित्र' का अर्थ सूर्य होता है और नपुसक लिंग में होने पर यह सुहृद का बोधक होता है। हिन्दी के शब्दो मे लिंग की इतनी महिमा नहीं है।

शाब्दी व्यञ्जना का यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

भयौ अपत कै कोपयुत, कै वौरो यहि काल।
मालिनि आज कहै न क्यो, वा रसाल को हाल॥

यहाँ प्रसग वृक्ष का है। कोई नायिका किसी बगीचे की मालिन से पूछ रही है कि उस रसाल (आम) का आज हाल क्यो नही बता रही हो। उसकी दशा अब कैसी है? क्या वह आज अपत (पत्तो से रहित) हो गया है या कोपयुत हो गया है (उसमें कोपल निकल आये हैं) या इस समय वह वौर गया है (अर्थात् उसमें मजरी निकल आई है)। इस दोहे में अपत, कोप, वौरो और रसाल इन चार शब्दो का अर्थ प्रकरण की सहायता से वृक्ष के विषय में नियमन किया गया जैसे ऊपर दिखलाया गया है। इस प्रकार वाक्यार्थ के नियमित किये जाने के बाद भी एक अर्थ और निकल रहा है—हे मालिनि, उस (रसाल रसालय) रसिक का हाल क्यो नही बता रही हो? क्या वह आज (अपत) प्रतिष्ठा या मर्यादा से हीन हो गया है या क्रोधयुक्त है या इस समय पागल (वौडहा) बन गया है। यह द्वितीय अर्थ शाब्दी व्यञ्जना के द्वारा ही उत्पन्न होता है।

आर्थी व्यञ्जना

आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ की सहायता से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, परन्तु सब स्थानो पर यह बात नही हो सकती। उसके लिए चुने हुए स्थान तथा चुने हुए विशिष्ट नियामक हैं। जिन साधनो की विशिष्टता से यह व्यञ्जना होती है उनका नाम है—(१) वक्ता=बोलनेवाला व्यक्ति, (२) बोधव्य–वह पुरुष जिससे कोई बात कही जाती है, (३) काकु—कहने का एक विशिष्ट प्रकार, (४) वाक्य, (५) वाच्य—कथित अर्थ, (६) दूसरे की सन्निधि, (७) प्रस्ताव= प्रसग, (८) देश, (९) काल, (१०) चेष्टा। इन साधनो की विशिष्टता के कारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति जहाँ वाच्य अर्थ से एक दूसरे अर्थ की प्रतीति कर लेता है वहाँ **आर्थी व्यञ्जना** होती है। केवल एक-दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे।

उदाहरण—

यहि अवसर निज कामना, किन पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नही, यह छनभंगुर देहु॥

दोहे का वाच्य अर्थ स्पष्ट है। कोई किसी से कह रहा है कि यह अवसर व हीं सुन्दर है। अपनी इच्छा को पूरन कर लो। यह देह क्षणभगुर है। यह फिर आवेगा नही। अत जो करना है सो कर लो। विचारणीय है कि यहां बोध कौन है ? यदि किसी (१) कामुक के प्रति यह उक्ति है, तो विषयवासना व्यंग्य और यदि किसी (२) विरक्त साधु से यह बात कही गई है, तो मोक्ष व्यंग्य फलत यहां बोधव्य की विशिष्टता के कारण नवीन अर्थ व्यंग्य हो रहा है। विह के दोहो मे बोधव्य की विशिष्टता के कारण शृगारपरक अर्थ शान्तिपरक बन ज है। इस दोहे मे 'बोधव्य' (न० ७) की विशिष्टता से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो है। अत यह आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण है।

काकु का वैशिष्ट्य (संख्या ३) इस चौपाई मे देखिए—

'सोह कि कोकिल विपिन करीला'

यथा कोकिल करील के वन मे सोहती है ? इस वाक्य को काकु मे पा और देखिए व्यंग्य अर्थ कितनी जल्दी मे निकलता है कि करील के जगल मे कोि का रहना नितान्त अशोभन तथा अनुचित है।

बिहारी के इस दोहे के व्यंग्यार्थ पर दृष्टिपात कीजिए —

धाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलिपुज।
जमुना-तीर तमाल तरु, मिलति मालती कुज॥

यहां वाक्य के अर्थ की विशिष्टता है। नायिका कह रही है कि यमुना के तीर मालती लता का एक कमनीय कुज है जहां भौरो का मनोरम गुजार हो रहा है त तमाल वृक्ष एक दूसरे के साथ हिल-मिल रहे है। इस अर्थ की विशिष्टता सूचित क है कि यहां स्वयदूतिका नायिका किसी नायक से विहार की इच्छा व्यञ्जित कर र है। अत यहां वाच्य के वैशिष्ट्य (न० ५) से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

काल का वैशिष्ट्य (संख्या ९) इस सवैये में कितनी रुचिरता से प्रतीयमान अर्थ को बतला रहा है—

भूमि हरी पै प्रवाह बह्यौ जल, मोर नचै गिरि पै मतवारे ।
चचला त्यौ चमकै 'लछिराम', चढे चहुँ ओरन तें घन कारे ।
जान दै वीर विदेस उन्हैं कछु बोल न बोलिये पावस प्यारे ।
आइहैं ऊवि घरी मे घरै घन-घोर सो जीवनमूरि हमारे ॥

इस सवैये मे पावस का ललित वर्णन है जिससे यहाँ कामोद्दीपक भय व्यञ्जित हो रहा है। नायिका जानती है कि नायक परदेस के लिए बाहर नही जा सकता। वह घरी-आध घरी मे अवश्यमेव लौट आवेगा।

ध्वनि के मुख्य भेद

ध्वनि मुख्यतया दो प्रकार की होती है—(क) लक्षणामूलक तथा (ख) अभिधामूलक। जिस ध्वनि के मूल में लक्षणा हो उसे तो लक्षणामूलक तथा जिसके मूल में अभिधा हो उसे अभिधामूलक कहते हैं।

लक्षणामूलक ध्वनि में वाच्य अर्थ के प्रकट करने की इच्छा बोलने वाले मे कभी नही रहती। जब वह उस शब्द का प्रयोग करता है तब वह कभी नही चाहता कि उसका मुख्य अर्थ वहाँ प्रकट किया जाय। ऐसी दशा में मुख्य अर्थ की दो प्रकार की स्थिति हो जाती है। कभी तो वह दूसरे अर्थ मे सक्रमित हो जाता है—बदल जाता है और कभी-कभी तो वह बिल्कुल ही छोड दिया जाता है तथा अपने मे बिल्कुल ही भिन्न अर्थ को वह प्रकट करने लगता है। जब मुख्य अर्थ अर्थान्तर में बदल जाता है, तब उसे **'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य'** ध्वनि कहते हैं। मुख्य अर्थ के बिल्कुल तिरस्कृत होने पर या छोड दिये जाने पर **'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य'** ध्वनि होती है।

कोई मनुष्य किसी के विषय में कहता है कि 'वह तो साक्षात् कुम्भकर्ण है'। यहाँ 'कुम्भकर्ण' का वाच्य अर्थ होता है घडे के समान लम्बा कान वाला व्यक्ति या लकापति रावण का भाई। इस व्यक्ति के न तो कान ही घडे के समान हैं और न वह रावण का भाई है। इसलिए मुख्य अर्थ बाधित होता है और यहाँ अर्थ परिवर्तित होकर अति-भोजी तथा अधिक निद्रालु व्यक्ति का बोध कराता है। अत्यन्त आलस्य ध्वनित होता है। अत यह वाक्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है।

राधा की स्तुति में कथित इस दोहे पर दृष्टिपात कीजिए—

राधा अति गुन आगरी, स्वर्न बरन तनु रंग ।
मोहन तू मोहन भयो, परसत जाके अंग ॥

यहाँ राधा के अंग छूने से मोहन को मोहन बन जाने की बात कवि ने कही है। यहाँ पहला मोहन शब्द तो अपने मुख्य अर्थ कृष्ण का बोध कराता है, परन्तु दूसरा 'मोहन' शब्द का अर्थ सबको मोहित करने वाला या सबके हृदय में बस जाने वाला है और इस अर्थ में संक्रमित होने के कारण 'मोहन' शब्द 'अर्थान्तर संक्रमित' ध्वनि का उदाहरण है।

'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि वहाँ होगी जहाँ मुख्य अर्थ का एक भिन्न ही अर्थ किया जाता है, जैसे—

साँस से आँधर दर्पन ही जग
बादल ओट लखात है चन्दा ।

बादलों की ओट में छिपा हुआ चन्द्रमा साँस से अन्धे होने वाले दर्पण के समान जान पड़ता है। यहाँ जड़ पदार्थ दर्पण को अन्धा बतलाया गया है। यह तो कथमपि सम्भव नहीं। क्योंकि 'अन्धा' होना तो प्राणी का धर्म है। इससे यहाँ 'आँधर' शब्द का अर्थ ही बिल्कुल बदल कर मैला या धुँधला किया गया है। 'आँधर' शब्द से अत्यन्त मालिन्य व्यंग्य है।

अभिधामूलक ध्वनि में वक्ता शब्द के मुख्य अर्थ को बिल्कुल छोड़ देना नहीं चाहता, बल्कि वह अन्यपरक बन जाता है अर्थात् व्यंग्य अर्थ का बोधक होता है। इसलिए इस ध्वनि को 'विवक्षितान्यपर-वाच्य' ध्वनि कहते हैं। अर्थात् पूर्व दृष्टान्तों के समान न तो मुख्य अर्थ संक्रमित होता है, और न अत्यन्त तिरस्कृत होता है। उसे प्रकट किया जाता है, परन्तु वह व्यंग्य अर्थ का बोधक बन जाता है; यही विशेषता इस ध्वनि की है। व्यंग्य अर्थ का तभी बोध होता है जब वाच्य अर्थ का भी बोध होता है। यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के बीच में कहीं तो क्रम लक्षित होता है और कहीं पर वह क्रम लक्षित नहीं होता। इस प्रकार इस ध्वनि के दो अवान्तर भेद होते हैं—
(क) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि तथा (ख) संलक्ष्यक्रम ध्वनि—इनमें से पहिले ध्वनि का अभिप्राय रस भाव आदि से है। रस की प्रतीति में विभाव, अनुभाव तथा

सचारी भाव—ये तीनो कारण होते हैं और इनसे जब स्थायी भाव पुष्ट होता है, तब रस का आस्वाद होता है। यहाँ विभावादि अर्थ के प्रकट होने के साथ ही साथ रस का भी बोध हो जाता है। दोनो मे किसी प्रकार का क्रम लक्षित नही होता, अत रस-भाव को इस नाम से पुकारते हैं।

मतिराम का यह सवैया इस ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है—

आए बिदेस तै प्रानप्रिया, 'मतिराम' अनद बढाय अलेखै।
लोगन सौ मिलि आँगन बैठि, घरी-ही-घरी सिगरौ घर पेखै।
भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तन-कप बिसेखै।
घूंघट को पट ओट दियै, पट-ओट किए पिय को मुंह देखै॥

पति परदेस से घर पर आया हुआ है। उसे नायिका घूंघट से अपने मुंह को छिपाकर कपडे की ओट से पति का मुंह देख रही है। यहाँ नायिका के आचरण को देखकर उसके हृदय का प्रेमभाव छलक रहा है जिससे **शृगाररस** की सद्य प्रतीति होती है। यहाँ वाच्य अर्थ से शृगाररस की प्रतीति इतनी जल्दी होती है कि दोनो के बीच मे विद्यमान रहने वाले क्रम का (पूर्वापर भाव का) ज्ञान ही नही होता। इसलिए इसे असलक्ष्यक्रम वाच्य ध्वनि कहते हैं।

'सलक्ष्यक्रम व्यग्य' ध्वनि का क्षेत्र बडा विशाल है। इस ध्वनि में वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले होती है और तदनन्तर विचार करने पर व्यग्य अर्थ का बोध होता है। अत दोनो अर्थो के बीच में विद्यमान क्रम पूरी तौर से लक्षित होता है। कहा गया है कि ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलकार ध्वनि। रसध्वनि तो असलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। कारण यह है कि यहाँ रस की प्रतीति इतनी शीघ्रता के साथ होती है कि क्रम की स्थिति लक्षित नही होती। परन्तु वस्तु तथा अलकार को प्रकट करने वाली ध्वनि इससे भिन्न होती है। इसमें शब्द से मुख्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर अनुसन्धान करने पर व्यग्य का बोध होता है। इस ध्वनि के स्वरूप को समझाने के लिए आचार्यो ने 'अनुरणन' का उपयुक्त उदाहरण दिया है। घटा एक बार बजाने के बाद तदनुगामी अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो मूल स्वर की अपेक्षा सूक्ष्म होती चली जाती हैं। पहला शब्द तो बडा जोरदार होता है, परन्तु पीछे उसकी केवल गूंज रहती है जो धीरे-धीरे हलकी पडती जाती है। इन दोनो में क्रम स्पष्टत लक्षित होता है। इसी प्रकार क्रम के दिखलाई पडने के कारण इस

अनुरणन ध्वनि की संज्ञा प्राप्त है। इसके अनेक भेद होते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—शब्दशक्ति-जन्य, अर्थशक्ति जन्य तथा उभयशक्तिजन्य। इनके अवान्तर भेद तथा मिश्रित भेदों की गणना बड़ी लम्बी है। यहाँ एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे के व्यंग्य अर्थ की मीमांसा कीजिए। कवि कहता है कि राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरकाल तक जीती रहे तथा इसमें गम्भीर स्नेह उत्पन्न होवे। राधा वृषभानु की पुत्री ठहरी और कृष्ण हलधर (बलरामजी) के भाई ठहरे। दोनों उच्च कुल में पैदा हुए हैं। अत दोनों का सम्बन्ध नितान्त उचित तथा स्नेह-वर्धक है। इस वाच्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति की महिमा से एक नवीन अर्थ का ज्ञान हो रहा है। 'वृषभानुजा' (वृषभ+अनुजा) का अर्थ बैल की बहिन तथा हलधर का अर्थ हल को ढोने वाला बैल। अत यहाँ बैल तथा गाय की बड़ी सुन्दर जोड़ी है। इन दोनों के मिलन से गम्भीर सनेह (घृत) क्यों नहीं उत्पन्न होगा?

यह ध्वनि वृषभानुजा तथा हलधर के श्लेष पर आश्रित है। इन दोनों शब्दों के स्थान पर पर्याय के रखते ही यह ध्वनि गायब हो जायगी। अत यह शब्दशक्ति-जन्य है। जिस व्यंग्य अर्थ का यहाँ बोध होता है वह अलंकार से रहित है, केवल वह एक वस्तु (बात) है। इसलिए इस ध्वनि का पूरा नाम होगा—शब्दशक्तिजन्य वस्तुध्वनि।

बिहारी के एक दूसरे दोहे पर दृष्टिपात कीजिए—

नित प्रति एकत ही रहत, बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन जुगल अनेक॥

कवि का कहना है कि राधा और कृष्ण नित्य प्रति एक ही साथ रहते हैं। दोनों का वय, रंग तथा हृदय एक समान है। ऐसी जुगल जोड़ी को निरखने के लिए आँखों के असंख्य जोड़े होने चाहिए। इस मुख्य अर्थ से सौन्दर्य का अतिशय व्यंग्य है अर्थात् राधाकृष्ण नितान्त सौन्दर्य सम्पन्न हैं। इसलिए यहाँ अर्थशक्तिजन्य वस्तु-ध्वनि मानी जायगी।

मुख्य रूप से ध्वनि के ५१ भेद है जिनमे से मोटे तौर पर तीन ही ध्वनियाँ प्रधान होती हैं—(१) **रसध्वनि** जिसमे रस की व्यञ्जना होती है, (२) **वस्तुध्वनि** जिसमें किसी सामान्य वस्तु या वात या कथन की ध्वनि होती है, (३) **अलकार ध्वनि** जिसमें किसी अलकार की अभिव्यक्ति व्यग्यार्थ रूप से होती है। रसध्वनि तथा वस्तु ध्वनि के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। 'अलकार ध्वनि' का दृष्टान्त यहाँ 'दास कवि' का दिया जाता है —

सखि, तेरो प्यारो भलो दिन न्यारो ह्वै जात।
मोते नहिं वलवीर को पल विलगाव सोहात॥

राधा किसी सखी से कह रही है कि तुम्हारे प्रिय अच्छे है जो तुमसे अनेको दिन अलग रह सकते है। परन्तु मेरे कृष्ण को तो एक पल का भी वियोग नही सुहाता। यहाँ **व्यतिरेक** अलकार व्यग्य है। राधा का तात्पर्य यह है कि मै तुमसे अधिक सौभाग्य-शालिनी हूँ, क्योकि मेरा पति तुम्हारे पति से अधिक प्रेमी है। यहाँ वाक्यगत वस्तु से अलकार ध्वनि है।

चतुर्दश परिच्छेद

रससिद्धान्त

विद्यालय की किसी कक्षा में छात्रों का जमघट लगा हुआ है। अध्यापक जी के आने की प्रतीक्षा में छात्र बैठे हुए हैं और कोई कार्य प्रस्तुत न होने के कारण वे तरह-तरह के उत्पात करने में लगे हुए हैं। एक कोलाहल-सा मचा हुआ है। इतने में साहित्य के अध्यापकजी कक्षा में पधारते हैं और इतने विभिन्न मति वाले छात्रों के चित्त का अनुरञ्जन करने तथा उन्हें शान्त करने के विचार से एक रोचक उपाय सोचते हैं। वह उपाय है महाकवि मतिराम की एक सुन्दर सवैये का लयपूर्वक पाठ तथा उसकी रसमयी विशद व्याख्या। अध्यापक बड़े सुन्दर लय में यह सवैया पढ़ते हैं—

कुंदन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, "मतिराम" लहे मुसुकानि-मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥

सस्वर पाठ से ही कक्षा में एक विचित्र शान्ति विराजने लगती है। हो-हल्ला शान्त हो जाता है। छात्र व्याख्या के लिए उत्सुक हो जाते हैं। अध्यापक शृंगारानी के सौन्दर्य के वर्णन करनेवाले उस पद्य की सुन्दर व्याख्या करते हैं। व्याख्या सुनते ही छात्रगण इसमें एक विचित्र अलौकिक आनन्द उठाते हैं और आनन्द की मस्ती में कितने ही भावुक छात्रों के सिर स्वयं हिलने लगते हैं। वे भावसागर में बहने लगते हैं। सर्वत्र शान्ति विराजने लगती है। यह अलौकिक आनन्द क्या है? काव्य के सुनने या पढ़ने से श्रोता या पाठक के चित्त में जो विलक्षण अलौकिक आनन्द आता है उसी का नाम 'रस' है।

'भाव' का रूप

रसके उन्मीलन तथा रूपको समझने के लिए हमें अपने ही चित्त के 'भावो' को समझना पडता है। सहृदय व्यक्तियो या सामाजिको के हृदय में 'भावो' का सर्वदा निवास रहता है। आजकल के मनोविज्ञान की भाषा मे हम कह सकते हैं कि ये भाव हमारे मानस के अर्ध चेतन या अवचेतन भाग मे छिपे रहते हैं। इन भावो के उदय की अपनी राम कहानी है। भारतीय आचार्यों के मत से इनकी उत्पत्ति के दो प्रकार होते हैं। बहुत से भाव पूर्व जन्म के सस्कार के कारण भी अपनी सत्ता बनाये हुए रहते हैं। और बहुत से भावो का उदय मानव के लौकिक जीवन तथा व्यावहारिक आचरण से ही होता है। हम अपने जीवन में नाना प्रकार की दशाओ से होकर गुजरते हैं। हम कभी किसी कामिनी से प्रेम करते हैं और उसके हृदय को अपनी ओर खीचने में समर्थ होते हैं। कभी हम किसी प्रबल अत्याचारी को किसी दीन जन को बेरहमी से पीटते हुए देखते हैं, तब हमारे हृदय में 'दया' का भाव जाग्रत होता है। कभी शत्रुओ के द्वारा घेरे जाने पर अपनी रक्षा के लिए हम अपने मे 'उत्साह' का अनुभव करते हैं। जान पडता है कि हमारा हृदय अपने से ऊँचा उठकर छलांगे मार रहा है। कभी हम शेर को देखकर भाग खडे होते हैं और 'भय' के कारण हमारे शरीर में कँपकँपी बँध जाती है। कभी किसी कोढ़ी के विकृत शरीर को देख कर हमारे हृदय में घृणा या जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो जाता है और हम उस स्थान से तुरन्त अलग खडे हो जाते हैं। नित्य-प्रति के जीवन में हम इसी प्रकार के नाना 'भावो' का अनुभव किया करते हैं। ये अनुभव चिरस्थायी तो होते नही। ये कतिपय क्षण तक हमारे चेतन मन में निवास करते हैं और फिर पीछे अवचेतन मन में जाकर बैठ जाते हैं।

एक उदाहरण से इसे समझिये। कोई लम्बा-चौडा तालाब हमारे सामने लहरा रहा है। बालक वहाँ खेलने के लिए आते हैं और वे छोटी-मोटी अनेक चीजें उसमें फेंकने लगते हैं। ये चीजें बहुत देर तक पानी के सतह के ऊपर तैरा करती हैं और तरगो के झोंके में साफ दिखाई पडती हैं। परन्तु तालाब के जल के शान्त होते ही वे धीरे-धीरे ऊपरी सतह से होकर उसके भीतरी तह पर जाकर जम जाती हैं—बैं जाती हैं। न जाने वे कितनो दिनो तक वही पडी रह कर अपना जीवन बिताया करती हैं। बाहर जगत् को उनका ज्ञान भी नही होता कि इस प्रकार की चीजें इस तालाब में कही विद्यमान हैं। बहुत दिनो के पीछे उसमें एक हिलोरा उठता है। जान पडता है कि कोई तालाब को मथ रहा है। इसका फल यह होता है कि ये छिपी चीजें फिर ऊपर चली

आती है जिससे बाहरी जगत् को उनके अस्तित्व का पता चलता है। छिपी चीजें अनुभव की कोटि में आ जाती है। वे अब अज्ञात नही रहती। इतने दिनो तक अज्ञात की दशा में रहने पर भी वे अब सहसा ज्ञान के क्षेत्र के भीतर आ जाती है और अपने रूप मे हमारा मनोरंजन करती है। भावो की अभिव्यक्ति का यही मोटा ढंग है।

यह दशा अन्य प्रकार से भी होती है। हम काव्य को पढते है। नाटक को देखते है। चलचित्रो का अवलोकन करते है। इनसे हमारे हृदय में भावो की उद्भूति होती है। ये भाव हमारे अवचेतन मनमे न जाने कितने दिनो तक, कितने सालो तक, यो ही पडे-पडे अपना दिवस बिताया करते है। जब हम काव्य मे इन्ही भावो का वर्णन पढते है अथवा नाटक में इन्ही भावो का चित्रण देखते है, तब हमारे अवचेतन मानस के छिपे भाव चेतन मानस के तरगो में हिलोरे लेने लगते है। वे सुप्त दशा से प्रबुद्ध दशा में आ विराजते है। यह बहुत दिनो तक टिका रहने के कारण साधारण भावों से भिन्न होता है। साधारण भाव आते है, मन में कुछ क्षणो तक रहते है और फिर गायब हो जाते है, परन्तु अवचेतन मन के अन्तराल में छिपने वाला भाव बहुत देर तक रहता है और इसी कारण वह 'स्थायीभाव' के नाम से पुकारा जाता है। काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के द्वारा पुष्ट किये जाने पर यही स्थायीभाव 'रस' के रूप में परिणत हो जाता है। अब अवचेतन तथा चेतन मानस के बीच का परदा गायब हो जाता है—भेदभाव रहता नही और हम चित्त की उस दशा मे पहुँच जाते है जहाँ किसी प्रकार की दुविधा नही रहती। हमारे और ससार के बीच में कोई भिन्नता नही रहती। हमारी अनुभूति मे 'आनन्द' ही आनन्द रहता है। हमारे आचार्यों ने इसी 'आनन्द' को रस की सज्ञा प्रदान की है। यह आस्वाद अलौकिक है। लौकिक जगत् में इसकी तुलना नही की जा सकती और इसीलिए इसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' (अर्थात् ब्रह्म के आनन्द का भाई) कहते है।

रस-सामग्री

'भाव' सामग्री के सहयोग से 'रस' के रूप मे परिणत हो जाता है— यह सामग्री कौन-सी है? इस सामग्री के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, सचारी भाव की गणना की जाती है। इनकी उदाहरणमुखेन यहाँ व्याख्या की जा रही है। कालिदास के शाकुन्तल नाटक के प्रथम अक के कथानक पर दृष्टिपात कीजिए। हस्तिनापुर का सम्राट् दुष्यन्त कण्व के आश्रम में गुप्तभाव से पहुँचता है। आश्रम में पहुँच कर वह शकुन्तला को

आश्रम के वृक्षो को सीचती पाता है। शकुन्तला युवावस्था में पदार्पण करने वाली एक अलौकिक लावण्यवती युवती है। दोनो की चार आँखें होती है और दोनो के मन में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेमभाव का उदय होता है। शकुन्तला की दशा विचित्र हो जाती है। सखियो के आग्रह करने पर भी वह वहाँ से नही जाती। भ्रमर की बाधा उत्पन्न होने पर वह इधर-से-उधर भागती हुई दृष्टिगोचर होती है। राजा के चले जाने पर, आँखो की ओट होने पर शकुन्तला अचानक खडी हो जाती है और पैर मे कुश के काँटे चुभ रहे है, इस व्याज से खडी होकर काँटो को निकालती है। पौधो में न अटकने वाले अपने वस्त्र को वह निकालने का बहाना करती हुई मुड कर राजा को देखती है। आश्रम का वह एकान्त वातावरण तथा मालिनी का वह मनोरम तीर इन दोनो के हृदय मे प्रेम को पुष्ट करता है। यही थोडे में कथानक है। इसकी मीमासा करने पर रस की उपयुक्त सामग्री समझ मे आ सकती है। एक बात ध्यान देने की यह है कि इस कथानक के दो पक्ष है—एक तो है व्यवहारपक्ष अर्थात् वास्तव जगत् मे यह घटना जैसे घटती है। दूसरा है काव्य—पक्ष अर्थात् नाटक के द्वारा उसी घटना का चित्रण नाटककार कैसे करता है। पहला है लौकिक पक्ष और दूसरा है अलौकिक पक्ष। दोनो पक्षो में रस उदय नही लेता। पहिली दशा तो भौतिक दशा है जिसमें शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वस्तुत 'प्रेम' नामक एक भाव उदित होता है। रस की दशा दूसरे पक्ष में होती है अर्थात् जब वही घटना कवि की प्रतिभा के बल पर शब्दो के माध्यम द्वारा काव्य या नाटक का चोला पहनकर आती है तब वह एक अलौकिक वस्तु होती है और तभी वह रस की अनुभूति कराती है। आनन्द तभी उत्पन्न होता है।

पूर्वोक्त घटना की समीक्षा करने पर कतिपय तथ्य हमारे सामने आते हैं —

(१) शकुन्तला के प्रति 'रति' दुष्यन्त के हृदय में 'रस' के रूप में परिणत हो जाती है। दुष्यन्त के हृदय में शृ गाररस के उन्मीलन के लिए शकुन्तला आलम्बन का काम करती है। यदि शकुन्तला उपस्थित नही होती, तो यह रस दुष्यन्त के हृदय में उदित ही नही हो सकता था। इसलिए दुष्यन्त के हृदय में रस के उन्मीलन में शकुन्तला **आलम्बन** (आधार) है। शकुन्तला की चेष्टायें इस रस को उद्दीप्त करने का काम करती हैं। भ्रमर की बाधा होने पर उसका इधर से उधर भागना, सखियो के साथ बैठकर विस्रम्भालाप करना, अपने मन की बातें प्रकट करना—आदि उसकी चेष्टायें हैं जो दुष्यन्त के शृगार रस को बढाने का काम करती है। इनका नाम

हुआ उद्दीपन। आलम्बन तथा उद्दीपन मिलकर 'विभाव' के रूप को पूर्ण करते हैं 'विभाव' का अर्थ है रस को विशेष रूप से उत्पन्न करनेवाले भाव।

(२) दुष्यन्त के हृदय में रति उत्पन्न होने पर उसकी चेष्टाओं में अन्तर होने लगता है। उसका शान्त चेहरा अब तमतमा उठता है। वह नेत्र के कोनों से शकुन्तला की मुखशोभा को निरखने लगता है। शकुन्तला के मीठे वचनों को सुनने के लिए उसके कान उतावले हो उठते हैं। ये चेष्टायें इस बात को सूचित करती हैं कि शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वह मनोरम भाव उत्पन्न हो रहा है जिसे 'प्रेम' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं शारीरिक चेष्टाओं का नाम 'अनुभाव' है। 'अनुभाव' के दो अर्थ माने जाते हैं—(क) अनु=पश्चात्, भाव=उत्पन्न होनेवाले चिह्न अर्थात् 'रति' के उत्पन्न होने के पश्चात् दुष्यन्त के शरीर में उत्पन्न होनेवाले चिह्न। (ख) अनुभावयन्तीति अनुभावाः। अर्थात् वे साधन जो उत्पन्न रति को दर्शकों के अनुभव में लाते हैं। बिना इन चिह्नों के देखे दर्शक इस बात से अनभिज्ञ ही रहता है कि दुष्यन्त के हृदय में 'रति' का जन्म हुआ है या नहीं। लोकपक्ष में यह 'कार्य' कहा जाता है।

(३) दुष्यन्त के हृदय में कभी चिन्ता उत्पन्न होती है कि शकुन्तला ऋषि कण्व की पुत्री है। अतः उसके लिए मेरा यह नव अनुराग व्यर्थ सिद्ध होगा (चिन्ता)। कभी वह विश्वामित्र के वृत्तान्त को सुनकर शकुन्तला को सुलभ मानता है जिससे उसके हृदय में हर्ष तथा आशा का संचार होता है। चिन्ता, हर्ष, आशा आदि ये सब भाव क्षणिक हैं, अस्थायी हैं। एक क्षण के लिए आते अवश्य हैं, परन्तु रति की स्थिति की सूचना देकर और पुष्टि कर फिर विलीन हो जाते हैं ठीक तरंगों के समान। शान्त समुद्र के सतह पर हवा के झोकों से तरंगें उठती हैं, कुछ देर तक वे अवश्य अपनी लीला दिखलाती हैं, परन्तु फिर वे उसी समुद्र के अंक में विलीन हो जाती हैं। तरंगों से समुद्र के जल की स्थिति की सूचना अवश्य मिलती है, परन्तु तरंगों के अस्त होने पर एक विशाल समुद्र शान्त भाव से प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तुलना में समुद्र-स्थानीय है स्थायी भाव और तरंग-स्थानीय है संचारी भाव। संचरणशील होने के कारण ही ये भाव 'संचारी' कहलाते हैं तथा विविध रूप से (वि) स्थायी के अनुकूल (अभि) संचरण करने के कारण इनकी दूसरी संज्ञा है व्यभिचारी भाव।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यञ्जित होने पर स्थायी भाव ही रस के रूप में परिणत हो जाता है और अलौकिक आनन्द का जनक बनता है।

भाव के भेद

भाव दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो देर तक टिकने की योग्यता रखते हैं। वे **'स्थायी भाव'** कहलाते हैं। दूसरे वे जो कई एक क्षणो तक ही टिकते हैं। इसी अस्थायिता के कारण वे **सचारी** भाव कहलाते हैं। इन दोनो की सख्या भी नियत-सी ही है। सचारी भाव सख्या में ३३ ही माने जाते हैं, परन्तु स्थायी भावो के विषय में बडा मतभेद है। अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थायियों की सख्या ९ है और इनसे उत्पन्न होनेवाले रस भी सख्या में ९ ही हैं—

स्थायीभाव	**रस**
१ रति	शृगार
२ हास	हास्य
३ शोक	करुण
४ क्रोध	रौद्र
५ उत्साह	वीर
६ भय	भयानक
७ जुगुप्सा	बीभत्स
८ विस्मय	अद्भुत
९ शम	शान्त

आगे चलकर स्थायी तथा रसो की सख्या बढती गई। विश्वनाथ कविराज ने 'वत्सल' भाव तथा 'वात्सल्यरस' की प्रतिष्ठा की तथा रूप गोस्वामी ने 'माधुर्य रस' (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' में की। इस भक्तिरस का भी स्थायी भाव 'रति' ही है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ कान्ताविषयक रति शृगार की जननी होती है, वहाँ 'भवितरस' के लिए दिव्या रति या कृष्णविषयक रति ही स्थायी भाव का काम करती है। शान्तरस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय **शान्तरस** की स्थिति नाटक में नही मानते, परन्तु अभिनव, मम्मट आदि मान्य आलकारिक काव्य में इसकी सत्ता मानते है।

व्यभिचारी भाव ३३ प्रकार के होते हैं जिनके नाम ये हैं—

निर्वेद, ग्लानि, शका, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैत्य, उग्रता, (१०) चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, (२०) विवोध, क्रीडा,

अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, वितर्क, अवहित्था (=हृदय के भाव या विकार को लज्जा आदि के द्वारा छिपाना), व्याधि, (३०) उन्माद (पागलपन), विषाद, औत्सुक्य, (३३) चापल। इनमें से कतिपय भाव रसों के साथ हुआ करते हैं। वे आकर मुख्य रस को पुष्ट करते हैं और अनन्तर वे अन्तर्हित हो जाते हैं। स्थायी के पोष के लिए संचारी का होना नितान्त आवश्यक होता है।

रसों के प्रकार

१—शृंगार रस

स्थायी भाव—रति (नायक तथा नायिका में परस्पर अनुराग)

आलम्बन—इसके आलम्बन विभाव नायक तथा नायिका हैं अर्थात् नायिका-विषयक रति के लिए नायक आलम्बन होता है और नायक-विषयक रति के लिए नायिका आलम्बन है।

उद्दीपन—चन्द्र, चाँदनी, वन, उपवन, पुष्प, शीतल मन्द सुगन्ध समीर, वसन्त आदि ऋतु, एकान्त स्थल, कमनीय केलि कुञ्ज, सखा, सखी, दूती आदि।

अनुभाव—अनुरागपूर्ण परस्पर एक दूसरे को देखना, कटाक्ष करना, भृकुटि भंग आदि अनुभाव हैं।

व्यभिचारी—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा इन चार व्यभिचारियों को छोड़कर शेष २९ भाव।

भेद—मुख्य भेद दो होते हैं—सम्भोग शृंगार तथा विप्रयोग शृंगार। एक दूसरे से अनुरक्त नायक और नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृंगार 'सम्भोग शृंगार' कहलाता है। विप्रयोग उसे कहते हैं जहाँ उत्कट प्रेम होने पर भी प्रिय समागम न हो सके।

इन दो प्रधान भेदों से अतिरिक्त एक तीसरा भी भेद आचार्यों ने माना है जिसका नाम है—अयोग। अयोग मिलन से पूर्व की दशा है और विप्रयोग मिलन के पश्चात् की दशा है। अयोग शृंगार की वह स्थिति है जहाँ नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग होता है, और उनका चित्त एक दूसरे के प्रति पूरे तौर से आकृष्ट होता है, परन्तु परतन्त्रता (जैसे पिता, माता आदि) के कारण या भाग्य

के फेर से दोनो एक दूसरे से अलग ही रहते हैं और इसीलिए उनका संगम नही होता। इसकी दश दशाओ का निर्देश तथा वर्णन आचार्यों ने किया है—(१) अभिलाष, (२) चिन्तन, (३) स्मृति, (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (न मिलने से व्याकुलता), (६) प्रलाप (बकवाद करना), (७) उन्माद (पागलपन अर्थात् जड-चेतन का विवेक न होना), (८) सज्वर (व्याधि), (९) जडता (चेष्टा-शून्य होना), (१०) मरण (मृत्यु)। ये ही 'कामदशा' के नाम से विख्यात हैं। इन दशाओ की केवल दश ही संख्या मानना प्रायोवाद है। वस्तुत ये दशायें अनन्त होती हैं जिनका वर्णन महाकवियों के प्रबन्धो मे प्रचुरता से मिलता है। पूर्वोक्त दशाओ में उत्तर दशायें पूर्व दशाओ की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। अन्तिम दशा का दिखलाना उचित न मान कर कविजन उसका संकेत मात्र कर देते हैं।

अभिलाष वह अवस्था है जब नायक के प्रति नायिका का आकर्षण होता है। यह अनेक कारणो से उत्पन्न होता है। साक्षात् देखने पर या नायक के चित्र देखने पर अथवा नायक के गुण सुनने पर। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द तथा भय आदि की उत्पत्ति होती है। गुण श्रवण अनेक प्रकार से हो सकता है—सखियो के गीत या बन्दीजनो के द्वारा रचित गुणस्तवन को चुपके-चुपके बहाने से सुनने से अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है।

उदाहरण

प्रेम कहा तिनसो पहिले हरि कानन आन समीप किये तैं।
चित्र-चरित्र न मित्र भये सपने में हु मोहि मिलाय लिये तैं॥
'देव जू' दूर तें दौरि दुराय कै प्रेम सिखाय दिखाय दिये तैं।
वारिज से विकसे मुख वे निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तैं॥

यहाँ नायक के गुणश्रवण आदि के द्वारा अनुरागवती नायिका का प्रेम वर्णित है। इसका नाम है—**पूर्वानुराग**। नायक विषयक रति स्थायीभाव है नायक आलम्बन है तथा उसका गुणश्रवण आदि उद्दीपन है। हृदय से न निकलना अनुभाव है। उत्कण्ठा, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। पूर्वोक्त दशाओ मे 'अभिलाष' का सुन्दर चित्रण है। पूर्वानुराग होने से अयोग शृंगार का रमणीय उदाहरण है।

संभोग शृंगार

दोऊ जने दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि-सागर को छोर हैं।
'चिन्तामणि' केलि की कलानि के विलासनि सो,
दोऊ जने दोउन के चित्तन के चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसुकानि-सुधा बरषत,
दोऊ जने छके मोद-मद दुहुँ ओर हैं।
सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम-नैन सीता मुखचन्द्र के चकोर हैं॥

इस पद्य में सीता तथा राम के बीच जो परस्पर प्रेमभाव है वही 'रति' नामक स्थायी भाव है। राम और सीता आलम्बन विभाव हैं। एक दूसरे के रूप को इकटक देखना, मुसकुराना आदि अनुभाव हैं। हर्ष, उत्सुकता आदि सचारी भाव हैं। अत यहाँ पूर्ण सम्भोग शृगार रस है।

विप्रयोग शृंगार

नैननि को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो विरहागि मे तैये।
एक घरी न कहूँ कल पैये, कहाँ लगि प्राननि को कलपैये।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहूँ के गृह जैये।
मान घटै ते कहा घटि है, जु पै प्रानपियारे को देखन पैये॥

यहाँ नायक तथा नायिका का पारस्परिक अनुराग 'रति' स्थायी भाव है। नायक और नायिका आलम्बन विभाव है। नैनन को तरसाना, एक घरी को कल न पाना, सौत के घर तक चलने का आग्रह आदि अनुभाव हैं। देखने की उत्सुकता तथा उद्वेग सचारी भाव हैं। यह विप्रयोग विरह के कारण से है। अत पूर्ण विप्रयोग शृंगार है।

विप्रयोग के दो मुख्य भेद होते हैं—(१) मान, (२) प्रवास। 'मान' का अर्थ है रूठना। जहाँ नायिका प्रेम मे नायक से रूठती है, वहाँ होता है 'प्रणय मान' और नायक से ईर्ष्या के कारण रूठती है, वहाँ होता है—ईर्ष्या मान। प्रवास विप्रयोग से तात्पर्य है—प्रियतम के परदेश जाने के कारण उत्पन्न वियोग। यह भी अनेक कारणों से होता है—कार्य से, किसी गड़बड़ी से अथवा किसी शाप के कारण। इसी का एक और भी भेद होता है—करुण विप्रलम्भ। मरे हुए नायक के प्रति किया गया

अनुराग जो किसी कारण से उसके जीने की आशा से वना रहा है। जैसे कादम्वरी में शाप के कारण वैशम्पायन तथा महाश्वेता का वियोग। वैशम्पायन की मृत्यु अवश्य होती है, परन्तु उसके पुनरुज्जीवित होने की आशा भी आकाशवाणी के द्वारा सूचित की जाती है। अत महाश्वेता का अनुराग वना रहता है। करुणरस में शोक स्थायी भाव होता है, रति नही।

२—हास्य रस

विकृत आकार, वेप, वोली, चेष्टा तथा व्यवहार आदि के वर्णन तथा चित्रण से 'हास्यरस' उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—हास

आलम्वन—विकृत वेष तथा विकृत वचनवाला व्यक्ति।

उद्दीपन—अनुपयुक्त वचन, वेप, भूषा आदि।

अनुभाव—मुख का फैल जाना, आँखो का मीचना आदि।

सचारी—निद्रा, आलस्य, चपलता, अवहित्था (लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावो का छिपाना) आदि।

उदाहरण

हँसि-हँसि भजै देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनो जे आवै हिमाचल के उछाह मै।
कहै 'पदमाकर' सु काहू को कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसोई तहाँ राह मै।
मगन भएई हँसै नगन महेस ठाढे,
और हँसे वेऊ हँसि-हँसि के उमाह मै।
सीस पर गगा हँसै भुजनि भुजगा हँसै,
हास ही को दगा भयो, नगा के विवाह मै॥

यहाँ महादेवजी के विवाह का प्रसग है। उन्हे नगा देखकर हँसना (हास) स्थायी भाव है। महादेवजी आलम्वन विभाव है। विवाह के समय भी नगा रूप उद्दीपन विभाव है। लोगो का हँसना, गगा तथा साँपो का भी हँसना, लोट-पोट

हो जाना—अनुभाव हैं। शिवजी के इन विचित्र रूप को देखने के लिए लोगों का दौड़ने में उत्सुकता, चपलता आदि संचारी भाव हैं। पूर्ण हास्य रस।

आचार्यों ने हास्य के छः भेद माने हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित। इनमें से प्रथम दो उत्तम प्रकृतिवाले व्यक्तियों में रहते हैं, मध्यम दो मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों में और अन्तिम दोनों अधम प्रकृति के व्यक्तियों में होते हैं। हास की न्यूनाधिक मात्रा होने से ही इनमें विलक्षणता है।

२—करुण रस

स्थायी भाव—शोक।

आलम्बन—कोई मृत बन्धु या सम्बन्धी अथवा दीन हीन दशा को प्राप्त होने वाला व्यक्ति।

उद्दीपन—मृतक का दाह तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली चीजें जैसे वस्त्र, भूषण, घर, पुस्तकें आदि का देखना, उसकी कथा या बातचीत सुनना।

अनुभाव—पृथ्वी पर गिर पड़ना, भाग्य को कोसना, रोना, उच्छ्वास, प्रलाप, बकवाद आदि।

संचारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, विषाद, जड़ता आदि।

उदाहरण

> मातु को मोह, न द्रोह विमातु को, सोच न तात के गात दहे को।
> प्रान को छोभ न, बंधु बिछोह न, राज को लोभ न मोद रहे को।
> एते तैं नेक न मानत 'श्रीपति' एते मैं सीय-वियोग सहे को।
> ता रनभूमि मैं राम कह्यो, मोहि सोच विभीषण भूप कहे को॥

यहाँ रामचन्द्र लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर विलाप कर रहे हैं। लक्ष्मणजी के लिए विलाप करने से 'शोक' स्थायी भाव है। लक्ष्मण जी का निश्चेष्ट शरीर तथा उनका विपुल पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव है। लक्ष्मण आलम्बन विभाव है। रामचन्द्र का विलाप करना अनुभाव है। ऐसी दशा में भी विभीषण को राजा बनाने का ध्यान होने से मति, स्मृति, वितर्क (नाना बातों का चिन्तन करना), विषाद आदि संचारी भाव हैं।

'करुण विप्रलम्भ' (विप्रलम्भ शृगार का अन्यतम भेद) से यह नितान्त भिन्न है। वहाँ तो पुन समागम की आशा रहने से 'रति' स्थायी होती है, परन्तु यहाँ तो शोक स्थायी रहता है।

४---रौद्र रस

स्थायी भाव---क्रोध।

आलम्बन---अपकार करने वाला व्यक्ति, शत्रु, आदि।

उद्दीपन---मत्सर, अथवा शत्रु के द्वारा किये गये अपकार आदि।

अनुभाव---शस्त्र को बार-बार चमकाना, बडी डीगे मारना, जमीन पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना, त्योरी चढाना, ओठ चबाना आदि।

सचारी---अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, वेग आदि।

उदाहरण

पुरारि को प्रचण्ड यह तोरि कोदण्ड फेर,
भृकुटी मरोरि अब गर्व दिखरावै तू।
भ्रात की न बात मान बोलत निशक भयो,
कौशिक की कान हू न मान बतरावै तू।
देख! ये कठोर क्रूर कर्म है अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जान इतरावै तू।
क्षत्रिन पतत्रिन ज्यो काटि की निछत्र मही,
क्यो रे! छत्रिबाल भूलि काल हँकरावै तू।

यहाँ रामजी ने भगवान् शकर के धनुप को तोड डाला है जिससे परशुराम रामके तथा लक्ष्मण के ऊपर क्रुद्ध हो रहे हैं। उनका क्रोध स्थायी भाव है। धनुष तोडने वाले राम और लक्ष्मण आलम्बन हैं। शिवजी परशुरामजी के गुरु थे। अतएव उनके धनुष को तोड कर गुरु का अपमान करना तथा अपना अपराध न मानकर राजपुत्री के साथ विवाह करना उद्दीपन विभाव हैं। "आज मै दशरथ को अनाथ कर दूंगा"---यह परशुराम का कथन अनुभाव है। परशुराम के वाक्यो से गर्व, उग्रता आदि के जो भाव प्रकट होते हैं वे ही सचारी भाव है। फलत पूर्ण रौद्र रस है।

'रौद्र' तथा 'वीर' रस मे यद्यपि बहुत से एक समान ही आलम्बन विभाव होते है, किन्तु इनमे स्थायी भाव का भेद रहता है। रौद्र मे 'क्रोध' स्थायी है और वीर में 'उत्साह'। नेत्र तथा मुख का रक्त होना आदि अनुभाव रौद्र ही मे होते है, 'वीर' रस में नही। सस्कृत साहित्य मे कुछ ऐसे विशिष्ट पात्र है जो स्वभावत अपने व्यवहार से रौद्ररस के उत्पादक होते हैं। ऐसे पात्रो में परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन आदि मुख्य हैं और इनके रौद्र व्यवहार को हम भवभूति के वीर चरित तथा भट्टनारायण के वेणीसहार में भलीभाँति देख सकते है।

५—वीररस

स्थायी भाव—उत्साह।

आलम्बन—शत्रु, जिस पर अधिकार प्राप्त करना है।

उद्दीपन—शत्रु का प्रताप, विस्मय, शौर्य आदि, मारू आदि का बजना, युद्ध का तुमुल कोलाहल, आदि।

अनुभाव—हथियारो का चलाना, नेत्रो का लाल होना, शरीर के रोगटो का खडा होना, आदि।

सचारी—मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष।

वीररस के आचार्यो ने चार भेद किये है—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर तथा धर्म-वीर। इनमें युद्धवीर को ही मम्मट ने वीर रस माना है, परन्तु अन्य आचार्यो ने पूर्वोक्त चार भेद किये हैं।

क्रुद्ध दशानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत॥
मारु पछारु पुकारु दुहूँ दल, रुण्ड झपट्टि दपट्टि लपट्टत।
रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत॥

यहाँ लका के युद्ध मे रीछ वानरो की सेना देखकर रावण के लडने का वर्णन है। रावण के हृदय मे उत्साह स्थायी भाव है। रीछ तथा वानर लोग आलम्बन है। वानरो की नाना क्रीडायें तथा लीलाये उद्दीपन विभाव है। नेत्रो का लाल होना, शत्रुओ के सिर को काटना, आदि अनुभाव है। उग्रता, अमर्ष आदि सचारी भाव है।

६—भयानक रस

स्थायी भाव—भय ।

आलम्बन—बाघ, चोर, शून्य स्थान, भयकर वस्तु का दर्शन ।

उद्दीपन—किसी भयानक वस्तु के स्वर, शरीर आदि का डरावनापन, उसकी भयङ्कर चेष्टायें ।

अनुभाव—शरीर का काँपना, पसीना छूटना, मुँह सूखना, मुँह का पीला पडना, चिन्ता होना, रोमाच, घिग्घी बँध जाना आदि ।

सचारी भाव—दैन्य, सभ्रम, सम्मोह, त्रास आदि ।

उदाहरण

रानी अकुलानी सब डाढत परानी जाहिं,
सकैं न विलोकि वेष केसरी किसोर को ।
मीजि मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय,
'तुलसी' तिलौ न भयौ बाहिर अगार को ।
सब असबाब डारौ मैं न काढो तैं न काढ्,
जियकी परी को सँभारै-भँडार को ।
खीझति मँदोवै सविपाद देखि मेघनाद,
लुनियत बयो सब याही डाढीजार को ॥

हनुमानजी लका को जला रहे हैं । लका को जलती देखकर मन्दोदरी का भय स्थायी भाव है। हनुमान आलम्बन विभाव है । हनुमान का भयानक वेष, घर-असबाब का जलना उद्दीपन विभाव है। घवडा कर भागना, हाथ का मीजना, माथा पीटना, असबाब को घर में से काढने के लिए तू-तू मैं-मैं करना आदि अनुभाव है। विपाद, चिन्ता आदि सचारी भाव है। अत पूर्ण भयानक रस है।

७—बीभत्स रस

स्थायी भाव—जुगुप्सा ।

आलम्बन—दुर्गन्धमय मास, रक्त, अस्थि आदि ।

उद्दीपन—रक्तमांस का सड़ना, उसमें कीड़े पड़ना, बुरी दुर्गन्ध आना, चिड़ियों या पशुओं का इन्हें नोचना खसोटना आदि से यह उद्दीप्त होता है।

अनुभाव—नाक को टेढ़ा करना या सिकोड़ना, मुँह बनाना, थूकना, रोमाञ्च होना, आँखें मींचना आदि।

संचारीभाव—आवेग, आर्ति, शङ्का, मोह, व्याधि, मरण आदि।

उदाहरण

सिर पै बैठ्यो काग आँखि दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार, अतिहि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खात विदारत॥
बहु चील्ह नोचि लै जात तुच, मोद मढ्यो सबको हियो।
जनु ब्रह्म-भोज जिजमान कोउ, आजु भिखारिन कहँ दियो॥

श्मशान का दृश्य है। राजा हरिश्चन्द्र वहाँ पशु पक्षियों की नाना केलियाँ देख रहे हैं। उन्हें देखकर उनके मनमें जो घृणा का भाव उत्पन्न होता है वही है स्थायी भाव। मुर्दों की हड्डी त्वचा आदि आलम्बन विभाव हैं तथा कौवों का आँख निकालना, स्यार का जीभ को खींचना, गिद्ध का जाँघ को खोद खोद कर माँस का नोचना, कुत्तों का अँगुलियों को काटना—ये सब उद्दीपन हैं। राजा का उनका वर्णन करना अनुभाव है। मोह, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। फलतः यहाँ पूर्णरूपेण वीभत्स रस है।

८—अद्भुत रस

स्थायी भाव—विस्मय।

आलम्बन—कोई अलौकिक अथवा आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ या व्यक्ति।

उद्दीपन—अलौकिक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण, कीर्तन आदि।

अनुभाव—साधुवाद देना अर्थात् उस पदार्थ की प्रशंसा करना, आँसू आना, कँपना, गद्गद होना।

संचारी भाव—हर्ष, आवेग, धृति आदि।

उदाहरण

गोपी ग्वाल बाल जुरे आपसमें कहैं आली ,
कोऊ जसुदा को अवतरयो इन्द्रजाली है ।
कहै 'पदमाकर' करै को यों उताली जापै ,
रहन न पावै कहूँ एको फन खाली है ।
देखै देवताली, भई विधि के खुशाली, कूदि–
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है ।
जनम को चाली ए री अद्‌भुत है ख्याली आजु ,
काली की फनाली पै नचत वनमाली है ।।

भगवान् श्रीकृष्ण उस भयानक कालिय नाग के सिर पर नाँच रहे हैं। ऐसे भयानक दृश्य को देखकर ग्वाल-बाल चकित हो उठते हैं। यही विस्मय स्थायी भाव है। कालिय नाग को नाथ कर यमुना से बाहर खदेडना आलम्बन है, तो श्रीकृष्ण का उसके सिर पर नाचना उद्दीपन है। ग्वालबालो की विचित्र लीलायें अनुभाव हैं तथा हर्ष, उत्सुकता, वितर्क आदि सचारी भाव है। अत पूर्ण अद्‌भुत रस है।

९--शान्त रस

स्थायीभाव—किन्ही के मत से 'शम' (चित्त का शान्त होना) और किन्ही के मत में 'निर्वेद' (ससार के विषयो के प्रति वैराग्य)।

आलम्बन—परमात्मा का चिन्तन, ससार की अनित्यता का ज्ञान।

उद्दीपन—सत्सग, पुण्य आश्रम, तीर्थस्थल की यात्रा या दर्शन करने से यह उद्दीप्त होता है।

अनुभाव—शरीर भर मे रोमाञ्च तथा गद्‌गद हो जाना।

सचारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण

भूखें अघाने रिसाने रसाने हितू अहितून्ह ते स्वच्छ मने हैं ।
दूषन भूषन कचन काँच जु, मृत्तिका मानिक एक गने हैं ।।
सूल सो फूल सो माल प्रवाल सो 'दास' हिये सम सुक्ख सने हैं ।
राम के नाम सो केवल काम तेई जग जीवन-मुक्ख बने हैं ।।

इस पद्य में जीवन्मुक्त होनेवाले सत्पुरुषों का वर्णन है। संसार की असारता आलम्बन है; शम स्थायीभाव है। सन्तों के संग होने से तथा तीर्थ की यात्रा करने से यह भाव उद्दीप्त बनता है। भूख में अघाना, शूल को फूल समझना, सोने को काँच समझना, मिट्टी तथा हीरा को एक समझना—ये सब अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, प्रबोध, वितर्क आदि सञ्चारी भाव हैं। अतः यहाँ पूर्ण शान्तरस है।

शान्तरस के विषय में आचार्यों की विवेचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' तथा धनिक ने उसकी टीका में इसके विषय में आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया है—

(१) शान्तरस प्रस्थान—विरुद्ध है।

भरत-मुनि का रस वर्णन ही साहित्य-संसार में एकमात्र प्रामाणिक माना जाता है, परन्तु उन्होंने 'शान्तरस' नामक नवम रस का वर्णन कहीं नहीं किया है। अतएव भरत द्वारा प्रतिपादित न होने से शान्तरस नहीं होता।

(२) द्वितीय मत—शम का व्यावहारिक क्षेत्र में अभाव।

दूसरे आचार्य शम की सत्ता व्यावहारिक जगत् में ही नहीं मानते। पहिला मत तो शम का अभाव केवल काव्य-नाटक में मानने का पक्षपाती है, परन्तु इस द्वितीय मत में उसका सर्वथा अभाव अभीष्ट है। क्योंकि राग-द्वेष का नाश करना एकदम असम्भव है। राग-द्वेष का प्रवाह मनुष्यों में अनादि काल से चला आता है जिसका सर्वथा नाश असम्भव ही है। ऐसी स्थिति में शान्तरस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) तृतीय मत—अन्तर्भाववाद।

इस पक्ष के आचार्य चित्त की शमप्रधान स्थिति मानते हैं अवश्य, परन्तु वे शम को स्वतन्त्र स्थायी भाव नहीं मानते, और न शान्तरस को ही एक स्वतन्त्र रस मानते हैं। उसका अन्तर्भाव वीर तथा बीभत्स आदि मान्य रसों के भीतर हो जाता है। शम-प्रधान चित्त में परम तत्त्व के पाने के लिए जो सतत प्रयत्न होता है वह उत्साहमय होने से शान्तरस 'वीर' के भीतर अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। इसमें संसार के विषयों से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है। तब इसका अन्तर्भाव बीभत्स

रस के भीतर हो सकता है। यह मत व्यवहार-क्षेत्र मे शम का अपलाप नही करता, परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र रस न मानकर यह उसका अन्तर्भाव वीर तथा बीभत्स आदि विद्यमान रसो के भीतर ही मानता है।

(४) चतुर्थ मत—नाटक मे शान्तरस का निषेध।

इस मत के अनुसार शान्तरस की स्थिति अवश्य है, परन्तु उसका प्रयोग नाटक मे नही हो सकता। व्यापार के विराम होने पर शान्त होता है। शान्तरस वहाँ होता है, जहाँ दु ख भी नही है, सुख भी नही है, न द्वेप है और न चिन्ता, न राग है और न द्वेप—

> न यत्र दु ख न सुख न चिन्ता
> न द्वेपरागौ न च काचिदिच्छा।
> रसस्तु शान्त कथितो मुनीन्द्रै
> सर्वेषु भावेषु शम-प्रधान.।

यह स्थिति मोक्षावस्था में ही सम्भव है, परन्तु नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की योग्यता। सुख तथा दु ख का, राग तथा द्वेष का, प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट होता है। ऐसी दशा में शान्तरस का अभिनय ही क्योकर हो सकता है? जब उसमे अभिनेय वस्तुओ का सर्वथा अभाव ही होता है। वैराग्ययुक्त शान्तरस का आस्वाद लौकिक रसिक लोग कथमपि नही कर सकते। शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतएव दशरूपककार के मत में शान्तरस का प्रयोग नाटक में नही हो सकता। हाँ, काव्य में उसकी स्थिति सम्भव है, उसका विरोध यह मत नही करता।

(५) पञ्चम मत—शान्तरस की सार्वत्रिक स्थिति।

अभिनवगुप्त का यह मत मान्य तथा अधिक प्रामाणिक है कि शान्तरस काव्य में तथा नाटक में दोनो में अवश्यमेव रहता है। इसके स्थायीभाव के विपय में विभिन्न मतो का उल्लेख 'अभिनव भारती' में बडे विस्तार के साथ आचार्य ने किया है। इसमत में शान्तरस के स्थायी भाव के विपय में ही मतभेद है। उसकी सत्ता तथा प्रामाणिकता में कथमपि विरोध नही। काव्य तथा नाट्य दोनो में वह समभावेन रहता है। इतना ही नही, इन आचार्यो के मत में शान्तरस ही सबसे श्रेष्ठ रस होता है। यह प्रकृति रस होता है और इतर रस शृंगारादि इसकी नाना

विकृतियाँ हैं। काश्मीर के शैवाचार्य अभिनवगुप्त का शान्तरस का प्राधान्य-बोधक यह मत उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल है।

१०—वात्सल्यरस

ऊपर कहा गया है कि प्राचीन आचार्य वात्सल्य को रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। १४वीं शती में विश्वनाथ कविराज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में उसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया। हिन्दी साहित्यको तुलसी तथा सूरदास ने इस रस की कविताओं में विशेष चमत्कृत किया है। अत अन्य रसों के साथ उसका संक्षिप्त परिचय किया जाता है।

स्थायी भाव—अपने छोटों—जैसे भाई-बहिन, पुत्र-कन्या आदि—के ऊपर जो प्रेम किया जाता है उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। वही स्थायी है।

आलम्बन—भाई-बहिन तथा पुत्र-कन्या।

उद्दीपन—बालक की तोतली बोली सुनकर, उसका सौन्दर्य देखकर, उसकी ललित क्रीडा निरख कर यह प्रीतिभाव और भी बढता है। अत ये उद्दीपन विभाव कहलावेंगे।

अनुभाव—स्नेह से गोद में लेना, आलिंगन करना, सिर सूंघना, सिर पर हाथ फेरना आदि।

संचारी भाव—हर्ष, गर्व आदि।

उदाहरण

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन मन्दिर में बिहरैं॥

दशरथ के चारों बालकों की नाना लीलाओं को देखकर प्रेमभाव उत्पन्न होता है। अत वात्सल्य रस।

११—भक्तिरस

'भक्तिरस' के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। प्राचीन आचार्य इसे देवता-विषयक रति मान कर केवल भावकोटि में ही निविष्ट करते थे, परन्तु गौडीय वैष्णवों

ने इसे रस ही नही माना, प्रत्युत सर्वश्रेष्ठ आदिरस माना है। श्रीरूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं।

स्थायी भाव—श्रीकृष्णविषयक रति। देवविषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही ठहरे। कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। अत परमात्मारूप कृष्ण-विषयक रति देव-विषया रति से भिन्न पदार्थ है। और यहाँ वही स्थायी भाव है।

आलम्बन—श्री कृष्ण या श्रीराम।

उद्दीपन—भक्तों का समागम, तीर्थ का सेवन, नदी का एकान्त पवित्र स्थल आदि।

अनुभाव—भगवान् के नाम तथा लीला का कीर्तन, गद्गद हो जाना, आँखो से आँसुओं का गिरना, पृथ्वी पर लोटपोट हो जाना, कभी हँसना, कभी रोना और कभी नाचना आदि।

सचारी भाव—मति, हर्ष, वितर्क आदि।

उदाहरण

व्याध हूँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह-ते गुनाही, कैसे तिनमो गिनाओगे।
स्यौरी हौं न शूद्र नही केवट कहूँ को त्यौं,
न गौतमी-तिया जापै पग धरि आवोगे।
राम सो कहत 'पदमाकर' पुकारि पुनि,
मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।
झूठे ही कलङ्क सुनि, सीता जैसी सती तजी नाथ,
हौं तो साचौं ही कलकी ताहि कैसे अपनावोगे॥

यहाँ भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधो को स्वीकार कर क्षमा की याचना करता है। भगवान् के प्रति प्रेम स्थायी भाव है। भगवान् राम इसके आलम्बन है तथा साधु की सगति, पवित्र तीर्थ स्थल उद्दीपन विभाव हैं। भगवान् से गिडगिडाना,

अपने अपराधों को स्वीकार कर लेना तथा उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना—ये सब अनुभाव हैं। मति, चिन्ता, वितर्क आदि संचारी भाव हैं। अतः पूर्ण भक्ति रस।

रसोन्मीलन के विषय में विभिन्न मत

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की सबसे पहिली प्रतिष्ठा अपने 'नाट्यशास्त्र' में की। इस विषय में उनका प्रसिद्ध सूत्र है—**विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा लगता है, विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है। भरत की इस सूत्र की व्याख्या बड़ी ही सीधी-सादी है, परन्तु उनके टीकाकारों ने इनके व्याख्यान में अपनी प्रतिभा तथा विशिष्ट मत का पूरा उपयोग किया है।

(१) लोल्लट का उत्पत्तिवाद

हम पहिले कह आये हैं कि किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाटक के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है वह 'रस' कहलाता है। भट्ट लोल्लट की व्याख्या इस प्रकार है। विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव—इन तीनों के सम्यक् योग से (संयोग से) रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) होती है, परन्तु रस के प्रति ये तीनों एक रूप से कारण नहीं होते। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है। इसलिए रस होता है उत्पाद्य और विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) होता है उत्पादक। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति के योग्य होता है अर्थात् अनुभावों को देखकर हम जान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति के हृदय में रस उत्पन्न हुआ है। संचारी भाव के द्वारा रस की पुष्टि होती है। अतः दोनों में पोष्य पोषक भाव सम्बन्ध है। अतः पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव रस के प्रति तीन प्रकार से उत्पादन की योग्यता रखते हैं और इन तीनों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। इस रस की उत्पत्ति मुख्यतः राम में होती है, क्योंकि वे ही सीता से प्रेम करते हैं और सीता को देखकर राम के ही हृदय में एक सनातन भाव अंकुरित होता है जो अनुकूल परिस्थितियों में परिपुष्ट होकर प्रेम का रूप धारण करता है। इस प्रकार राम में ही रस उत्पन्न होता है। इसी का अनुकरण नट अपनी योग्यता तथा प्रतिभा के बल पर करता है। अतः नट में राम की अवस्थाओं के अनुकरण करने के कारण हम मान लेते हैं कि नट में भी रस होता है। परन्तु यह एक भ्रान्ति है जो सर्वथा होती

है और इमी क्षणिक भ्रान्ति से दर्शको को आनन्द आता है। रस दर्शक मे नही होता है, वह होता है मुख्यतया राम में और काल्पनिक रूप से उसके अनुकर्ता नट में। विभावादि के द्वारा **रस की उत्पत्ति** होती है। भट्ट लोल्लट का यही मत है। रस का **उत्पत्तिवाद** ही उनका सिद्धान्त है।

इस व्याख्यान में सबसे बडी त्रुटि यह है कि यह दर्शक या सामाजिक में रस की सत्ता नही मानता, तव दर्शको का नाटक के प्रति इतना आकर्षण क्यो ? क्या क्षणिक भ्रान्ति से इतना गाढतम आनन्द उत्पन्न हो सकता है ? न राम ही वर्तमान हैं और न सीता ही, तव राम में रस के प्रादुर्भाव का प्रसग ही नही आता। राम तथा सीता को इस भारत भूमि से गये न जाने कितनी शताब्दियाँ वीत गईं, तब उनका वर्तमान अभिनय से सम्बन्ध ही क्या ? आज तो इसका आस्वादनकर्ता सामाजिक ही है, परन्तु उसमें रसका सर्वथा निषेध किया जा रहा है। इन्ही कारणो मे यह मत उचित नही प्रतीत होता।

(२) शकुक का अनुमितिवाद

श्री शङ्कुक ने भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद की विरुद्ध टीका करके अपनी एक नई व्याख्या दी है। वह 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। विभावादि अनुमापक होते हैं और रस होता है अनुमाप्य। दोनो में अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार 'धूम की सत्ता होने से यह पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमान नैयायिक पद्धति पर किया जाता है, उसी प्रकार विभाव आदि के अनुकरण करने से हम अनुमान करते हैं कि यह नट रस से युक्त है। अभिनय की कला में चतुर तथा काव्य नाटक मे व्युत्पत्ति रखने वाला नट रगमच के ऊपर इतनी रोचकता से मूल पात्रो का अभिनय करता है कि दर्शक आनन्द से बिभोर हो उठता है क्योकि वह नट को ही राम से अभिन्न समझता है ठीक 'चित्रतुरग' की तरह। जिस प्रकार चित्र में चित्रित तुरग वास्तविक घोडा न होते हुए भी घोडा माना ही जाता है, उमी प्रकार नट भी अपनी अभिनयकुशलता के कारण राम से भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही माना जाता है। अत राम में जो रस वस्तुत उत्पन्न होता है वही रस नट में भी अनुमान के द्वारा आरोपित किया जाता है। सामाजिक, नट के द्वारा रत्यादि भाव का प्रकाशन देखता है और यह अनुमान कर लेता है कि नट के हृदय में रत्यादि भाव रस के रूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक का यह अनुमान नैयायिक अनुमान की तरह नही होता,

प्रत्युत विलक्षण अनुमान होने से रसपूर्ण होता है तथा सामाजिक को स्वयं भी रसानुभाव होता है।

श्री शंकुक का यही मत है। इस मत में भी रस की स्थिति रामादि पात्रों में ही मानी गई है, किन्तु पूर्व मत के समान श्रीशंकुक सामाजिकों में रस का सर्वथा अभाव नहीं मानते। वस्तुतः रस राम में ही रहता है और तदुपरान्त नट में अनुमानतः सिद्ध माना जाता है। दर्शक को इस अनुमान से ही यत्किञ्चित् आनन्द आता है। परन्तु प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान में विशेष आनन्द नहीं आता।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहिले दर्शक या सामाजिक के महत्त्व को अंगीकार किया। ये रस को न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोज्य तथा विभावादि हैं भोजक। दोनों में भोज्य-भोजक सम्बन्ध है। भट्ट नायक काव्य में 'अभिधा' व्यापार के अतिरिक्त अन्य दो व्यापारों को भी मानते हैं जिनके नाम हैं भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार। अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। 'भावकत्व' का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाटक में अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक और व्यक्तिगत निर्देशों को छोड़कर सामान्य प्राणी के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस का भोग करता है। इस अवसर पर उसके हृदय में राजस तथा तामस भाव बिल्कुल दब जाते हैं और सत्त्वगुण का एकमात्र अतिशय हो जाता है। सात्त्विक भाव के उदय होने पर ही रस की भुक्ति होती है। इस मत के अनुसार सूत्र में 'संयोग' का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

यह मत रससिद्धान्त को समझाने में एक प्रबल तथा युक्तियुक्त सिद्धान्त माना जाता है। इस मत से दर्शक में रस का निवास माना जाता है जो यथार्थ है। साधारणीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन भट्ट नायक के मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का परिचायक है। अभिनवगुप्त ने भोगवाद को न मानकर भी साधारणीकरण व्यापार को माना है। परन्तु भट्ट नायक ने जिन नये दो व्यापारों को काव्य में माना है उनके लिए कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे प्रमाणहीन तथ्य के ऊपर अपने विलक्षण सिद्धान्त को इमारत खड़ा करना एकदम अनुचित है।

(४) अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त साहित्यशास्त्र मे एक महनीय ध्वनिवादी आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनितत्त्व के व्याख्याकार है तथा भरतमुनि के रसतत्त्व के भी व्याख्याता हैं। फलत रस भी ध्वनि के प्रभेदो में अन्यतम प्रभेद है। यह रस अभिधा शक्ति के द्वारा न वाच्य होता है और न लक्षणा के द्वारा लक्ष्य, प्रत्युत व्यञ्जना शक्ति के द्वारा यह अभिव्यक्त किया जाता है। इस प्रकार रस तथा विभावादिको में व्यग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। विभावादि होते हैं व्यञ्जक तथा रस होता है व्यग्य। मनोविज्ञान की दृढभित्ति पर प्रतिष्ठित होने के कारण यह सिद्धान्त नितान्त लोकप्रिय तथा पूर्ण माना जाता है।

इस तथ्य की मीमासा के लिए दो वातो पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक श्रोता या वक्ता मे प्रेम, शोक, क्रोध आदि के भाव सदा विद्यमान रहते हैं। ससार मे रोज-रोज का अनुभव करने से हमारे हृदय मे नाना भाव एकदम स्थिर होकर नित्य स्थित रहते हैं। विभावादि के देखने से यही सुप्त भावना जाग्रत होकर प्रवुद्ध हो जाती है। अभिनव गुप्त के सिद्धान्त में **'वासना'** का इसीलिए वडा महत्त्व है। यदि सहृदय के हृदय में ये भाव वासना रूप से स्थित नही होते, तो उनका प्रकाशन कथमपि नही हो सकता। क्या कारण है कि हरिश्चन्द्र नाटक के देखने से एक व्यक्ति की आँखो से भावावेश में आँसुओ की झडी लग जाती है और दूसरे व्यक्ति के नेत्र पसीजते भी नही ? राम-रावण युद्ध को देखने से एक का हृदय मानो जलने लगता है, उत्साह से वह प्रफुल्लित हो उठता है वहाँ दूसरा व्यक्ति जडता की मूर्ति बना हुआ सव दृश्यो को उदासीनता से देखता रहता है। इस व्यावहारिक अन्तर को अभिनवगुप्त ने 'वासना' के सिद्धान्त पर समझाया है। जिस व्यक्ति मे पूर्ण वासना विद्यमान रहती है, वही तो रसका अनुभव करता है। जिसमे वह नही रहती, वह काठ के समान जड रहता है और रसका अनुभव किसी प्रकार नही कर सकता। इसलिए अभिनवगुप्त का यह तथ्य नितान्त मनोवैज्ञानिक है।

दूसरी वात है—**साधारणीकरण** की। ललित कला की अनुभूति के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूप से तथा सम्वन्ध-रहित होकर ही स्वीकृत किया जाता है। किसी उपवन में खिले फूल को देखिए। गुलाव के फूल को देखते ही जब चित्त प्रफुल्लित हो उठता है, तव दर्शक के हृदय में कौन-सी भावना जागती है ? यदि आप उसे

'अपना' समझते, तो उसे तोडने के लिए आगे बढ़ते। शत्रु का फूल समझते, तो उससे द्वेष उत्पन्न होता। किसी तटस्थ व्यक्ति का मानते, तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलत वह गुलाब का फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है, और न किसी उदासीन व्यक्ति का है। इस विषय मे न तो सम्बन्ध का ग्रहण ही हो सकता है और न सम्बन्ध का परिहार ही हो सकता है।

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादे परिच्छेदो न विद्यते ॥
(साहित्यदर्पण ३।१२)

वस्तु को केवल साधारण रूप में ही लेना होगा। गुलाब का फूल सुन्दर वस्तु का प्रतीकमात्र होता है। राम दशरथ के पुत्र न होकर केवल एक वीर के रूप में तथा सीता एक सुन्दरी के रूप मे प्रतिष्ठित होते है। तभी रस की अभिव्यक्ति होती है। रसाभिव्यक्ति की दशा मे सब वस्तुओ का साधारणी-करण होता है—केवल आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नही, प्रत्युत सभी तत्त्वो अनुभवादिको का भी हो जाता है। सामाजिक भी अपने को साधारण रूप में ही ग्रहण करता है। वह नहीं मानता कि केवल वही इस रस का अनुभव करता है, प्रत्युत सब सामाजिको को रस का अनुभव-कर्ता मानता है। इन दोनो आधारो से अभिनवगुप्त ने अपना सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया है।

रस का आनन्द अलौकिक होता है। लौकिक आनन्द सीमित होता है, अलौकिक अपरिमित होता है। इसका आस्वाद प्रपाणकरस के आस्वाद के समान होता है। 'प्रपाणक' (शरबत) मे एला, लवङ्ग, मिर्च, मिश्री आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है जिसमे प्रत्येक वस्तु के आस्वाद से भिन्न प्रकार का आस्वाद उत्पन्न होता है। इसी के समान रस के आनन्द में भी विभाव आदि के आस्वादो से भिन्न आस्वाद उत्पन्न होता है। रस के अलौकिकत्व का यह रहस्य है कि जो वस्तु ससार में भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोध का कारण बनती है वही वस्तु काव्य मे वर्णन होने पर केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है। इसी लिए क्रोध स्थायी भाव वाला रौद्र रस भी आनन्द का ही उत्पादक होता है। भयानक भी रस होता है। घृणाजनक बीभत्स भी आनन्दरूप होता है। इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहलाता है। अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का यही सक्षेप रूप है।

रस का स्वरूप

रस के स्वरूप के विषय मे अर्वाचीन आलोचको तथा प्राचीन आलकारिको मे पर्याप्त मतभेद दिखाई पडता है। रस के आस्वाद का स्वरूप क्या है? इसके विषय मे वडा मतभेद है। आलोचको का वहुमत इसी पक्ष में है कि रस आनन्दरूप और सुखात्मक है परन्तु कतिपय आलोचको की दृष्टि में रसो की सुखानुभूति में तारतम्य है। एक ही प्रकार की सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रस के आस्वाद में उत्पन्न नही होती। किसी में इस अनुभूति की मात्रा तीव्र होती है और किसी में सौम्य। अनेक आलोचक सब रसो में इस अनुभूति को सुखात्मक भी नही स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में रस की अनुभूति निश्चित रूप से सुखात्मक है, परन्तु करुण, भयानक, बीभत्स और रौद्र रसों की अनुभूति दु:खात्मक है—या सुख और दु:ख का मिश्रण है।

भारतीय आलकारिको की दृष्टि में रस आनन्दात्मक ही होता है परन्तु कुछ आलोचक रसको दु:खात्मक मानने के पक्षपाती हैं—

(क) नाट्यदर्पण के रचयिता **रामचन्द्र** और **गुणचन्द्र** ने इस मत का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धान्त है कि 'सुखदु:खात्मको रस' अर्थात् रस में सुख और दु:ख दोनो होते हैं। भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा करुण रस के वर्णनो के श्रवण अथवा दर्शन से श्रोता तथा दर्शको के चित्त में एक विचित्र प्रकार का क्लेश होता है। इन रसो के अभिनय से इसीलिए दर्शक उद्विग्न होते हैं। सुख के आस्वाद से उद्वेग उत्पन्न नही होता। अत उद्वेग का उदय ही स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसो की अनुभूति सुखात्मक नही है। दु:खात्मक अनुभूति होने पर भी सामाजिक की प्रवृत्ति इसीलिए होती है कि कवि की शक्ति और नट के कौशल से वस्तु के प्रदर्शन में विचित्र चमत्कार का उदय होता है। इसी चमत्कार से दर्शक दु:खात्मक दृश्यो को भी देखने के लिए व्याकुल रहता है। दर्शक की प्रवृत्ति का यही कारण है। 'रसकलिका' के लेखक रुद्रभट्ट इसी मत से सहमत हैं। वे भी करुणरस की अनुभूति को दु:खात्मक मानते तथा रस को सुख-दु:ख दोनो के मिश्रित रूप में स्वीकार करते हैं।

(ख) प्रसिद्ध अद्वैतवादी **मधुसूदन सरस्वती** भी इस मत का आशिकरूप से समर्थन करते हैं। उन्होंने साख्य तथा वेदान्त पक्ष का अवलम्बन कर रस-निष्पत्ति की द्विविध प्रक्रिया वतलाई है। साख्य मतानुयायी व्याख्या में रस की अनुभूति के अवसर

पर 'आनन्द' में तारतम्य दिखलाया है। उनके मतानुसार क्रोधमूलक रौद्ररस मे तथा शोकमूलक करुणरस में विशुद्ध आनन्द की सत्ता नही होती, प्रत्युत रज तथा तम के मिश्रण के तारतम्यानुसार उनके आनन्द मे तारतम्य बना रहता है। इसी से सब रसो में एक समान सुख का अनुभव नही होता।

परन्तु रसानुभूति का यह एक पक्ष है जो युक्ति-हीन होने से न तो माननीय है और न आदरणीय ही। इसका कारण गम्भीर है। अखिल विश्व में व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य कर तैत्तिरीय श्रुति कहती है —

"रसो वै स.। रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दीभवति॥"

वह रसरूप है। रस को ही पाकर ससार का प्राणी आनन्दी होता है। यह रसात्मक ब्रह्म जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जब रम रहा है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थों में रस के उत्पन्न करने की क्षमता नही है। सच तो यह है कि ससार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है और काव्य में गृहीत होने पर आनन्ददायक है। भाव दो प्रकार के होते है—(१) बोध्यनिष्ठ और बोद्धृनिष्ठ—अर्थात् वर्णनीय विषय में रहनेवाला तथा बोद्धा–सामाजिक–के हृदय में रहनेवाला। इन दोनो में से बोध्य-निष्ठ स्थायीभाव अपने स्वभावानुसार सुख, दु ख तथा मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है परन्तु बोद्धा सामाजिक के चित्त में रहनेवाले समस्त भाव केवल सुख के ही कारण होते है।

इस पार्थक्य का एक गम्भीर कारण है। भाव दो प्रकार के होते है—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक भावो का सम्बन्ध ससार से है और इसलिए वे ससार के नाना परिणामो को उत्पन्न करते है। कभी वे सुखदायक होते है और कभी दुःखदायक। कभी वे मोह पैदा करते है और कभी शोक। वे ही भाव काव्य मे वर्णित तथा नाट्य में प्रदर्शित होने पर अलौकिक कहलाते है। अलौकिक भाव केवल आनन्द के ही जनक होते है। लौकिक भाव वैयक्तिक होते है—वे किसी विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध रखते है। अलौकिक भाव साधारणीकृत होते है अर्थात् वे सर्वसाधारण के ही होते है। मनुष्य लोक मे अपनी वस्तु से प्रेम उत्पन्न होता है, शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थ व्यक्ति की वस्तु से उदासीनता उपजती है, परन्तु शब्द के माध्यमद्वारा वर्णित होते ही इन भावो में एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वे व्यक्तिगत सम्बन्ध से दूर

हट कर सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। इस दशा में उनसे आनन्द ही उत्पन्न होता है। रगमच पर अभिनीत 'शकुन्तला' किसी प्राचीन युग की सुन्दरी नही होती, प्रत्युत वह कमनीय नायिका की प्रतिनिधि बनकर ही वहाँ उपस्थित होती है। इस **साधारणीकरण** व्यापार के द्वारा प्रत्येक काव्य-वस्तु किसी व्यक्ति का सम्बद्ध पदार्थ न होकर रसिकमात्र से सम्बद्ध बन जाती है तथा अलौकिक होने से वह केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है। रस के सुखात्मक होने में यही बीज है।

रस की अनुभूति

रस का अनुभव द्रष्टा (दर्शक) होने पर ही होती है, प्रकृति में लीन होने पर नही। 'द्रष्टा' का अर्थ है तटस्थरूप से किसी वस्तु के रूप को देखनेवाला। यदि हम में तटस्थ-रूप से पदार्थों के देखने की क्षमता नही है, तो हम रस का अनुभव भी नही कर सकते। काव्य की अनुभूति का यही तत्त्व है। कला में भी यही नियम सगत होता है। यह अनुभूति न न्याय मत में ठीक उत्पन्न होती है, न साख्य मत में। इसके लिए बहुत ही गम्भीर तथा व्यापक कारण हैं। वेदान्त मत के अनुसार रस की व्याख्या आचार्यो ने, विशेषत पण्डितराज जगन्नाथ ने, अवश्य की है, परन्तु वह ठीक जमती नही। वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों के साथ रस-प्रक्रिया के तथ्यों का मेल नही खाता। दोनों में कतिपय मौलिक अन्तर है।

वेदान्त के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द और (३) रसानन्द। ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। वह स्वय आनन्दरूप है। उसी आनन्दमय ब्रह्म से सभी प्राणी उत्पन्न होते है, जीते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। आनन्द की उच्चतम कोटि ब्रह्मानन्द है जिसके अन्तर्गत-जगत् के समस्त आनन्द सिमिट कर एकत्र हो जाते है। उपर्युक्त तीनो आनन्दो में विषयानन्द हेय है तथा अन्य दोनों आनन्द उपादेय हैं। विषयानन्द की अपेक्षा रसानन्द नितान्त विलक्षण और उदात्त है। विषयानन्द लौकिक है और रसानन्द अलौकिक। ब्रह्मानन्द और रसानन्द में आकाश-पाताल का अन्तर है। ब्रह्मानन्द वासना या कामना के नाश से उत्पन्न होता है परन्तु रसानन्द में वासना का नाश नही होता, प्रत्युत वासना का शोधन होता है। जगत् की दशा में 'वासना' होती है अशुद्ध, जो हमें विषय की ही ओर ले जाती

है। इस वासना का जब नाश होता है, तभी वेदान्तसम्मत मुक्ति का उदय होता है। उधर रसदशा में वासना की आवश्यकता बनी रहती है। स्थायी भाव रस के रूप में परिणत होता है और यह स्थायी भाव ही वासनारूप होता है। अत. वेदान्त की प्रक्रिया में रस की निष्पत्ति ठीक नही जमती। वेदान्त में काम का सर्वथा उन्मूलन अभीष्ट होता है, परन्तु रसशास्त्र में काम का शोधन आवश्यक होता है। वासना में एक बडा दोष रहता है कि वह सकाम हुआ करती है। सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत करने पर ही रस का उन्मीलन होता है। इसका नाम है साहित्य मे—भाव-शुद्धि; बौद्धदर्शन मे 'परावृत्ति' तथा आधुनिक मनोविज्ञान मे 'सब्लिमेशन' (उदात्तीकरण)। भावो की अशुद्धि का कारण होता है उनका व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध। 'मेरी यह रति है'—यह सम्बन्ध स्थापित करते ही वह भाव हीन तथा अशुद्ध हो जाता है। व्यक्ति सम्बन्ध से हटाते ही वह विशुद्ध बन जाता है। अत भाव-शोधन का कार्य आलोचना-शास्त्र 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा करता है।

निष्कर्ष यह है कि 'ब्रह्मानन्द' वासना के क्षय पर आश्रित आनन्द है और 'रसानन्द' वासना की शुद्धि पर अवलम्बित आनन्द है। अत वह पहिले से भिन्न है। इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहलाता है ब्रह्मानन्दरूप नही। इस पार्थक्य का यह मुख्य कारण है। अन्य कारणो का उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ और अभिनवगुप्त ने रस की बडी मीमासा की है। अभिनव-गुप्त का मत है कि वस्तुत आनन्द ही रस है। रस एक है अनेक नही। रस, रस ही है। उसके लिए किसी पर्यायवाची शब्द की आवश्यकता नही है। रस ब्रह्म के समान है। जिस प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और नानात्मक विकृतियाँ असत्य है, उसी प्रकार शृङ्गार हास्य आदि रस की अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुत. असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अशी है। शृङ्गारादि रस उसके अशमात्र है। अभिनवगुप्त ने मूलस्थानीय रस के लिए 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अंशभूत रसो को केवल 'रस' कहा है। रस की एकरूपता की सिद्धि के लिए भरत ने निम्नाकित विख्यात वाक्य में एकवचन का ही प्रयोग किया है —

"न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

कवि कर्णपूर ने 'अलंकार—कौस्तुभ' में लिखा है कि आनन्दमय रस ही 'महारस'

है। अन्य रस उस मूल महारस के केवल विकारमात्र है। इसलिए रस वस्तुत एक-रूप ही है। भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है—एको रस ॥

नाट्य रस

नाट्य, रस के उन्मेष का सबसे अधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिए भरत नाट्य-शास्त्र में उसे नाट्यरस की सज्ञा प्राप्त है। नाट्य रस की व्याख्या करते हुए अभिनव-गुप्त ने लिखा है —

(१) नाट्य के समुदायरूप से उत्पन्न रस।
(नाट्यात् समुदायरूपात् रस)

(२) नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है।
(नाट्यमेव रस । रससमुदायो हि नाट्यम्)

इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य, रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। यह व्याख्या काव्य में रस की सत्ता का निराकरण नही करती। नाट्य रस के उपकरण-भूत विभाव, अनुभाव और सचारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव कराता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्य को भी प्राप्त होती है तभी काव्य में रस का आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्य में भी यह 'प्रत्यक्ष साक्षात्-कार' कवि की अलौकिक वर्णनशक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का यह सम्माननीय सिद्धान्त है —

रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थ के विपय मे भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कार के उदय पर ही रस का उदय सम्पन्न होता है।

अव विचारणीय प्रश्न यह है कि रूपक की पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नटजन्य है? इस विपय में भारतीय आलोचको की यह स्पष्ट सम्मति है कि नाटक की रोचकता में नट की अपेक्षा कवि का चमत्कार अधिक होता है। इसलिए भोजराज अभिनेता की अपेक्षा कवियो को तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य (रूपक) को समधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करने के पक्षपाती है।

"अतो अभिनेतृम्य कवीनेव वहु मन्यामहे ।
अभिनेयेम्यश्च काव्यमिति' ॥

दृश्य तथा श्रव्य काव्यों की मौलिक एकता सस्कृत आलोचना मे विद्यमान रहती है। कारण यह है कि दोनो समान प्रतिभा के विलास हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र में रूपक का रचयिता तथा श्रव्य काव्य का निर्माता दोनो ही समान रूप से 'कवि' कहलाते हैं। पाश्चात्य साहित्य मे 'ड्रामेटिस्ट' (नाटककार) तथा 'पोयट' (कवि) मे शब्दत तथा अर्थत पार्थक्य किया जाता है परन्तु हमारे साहित्य में दोनो ही कवि हैं। समस्त साहित्यिक रचना काव्य के नाम से अभिहित की जाती है और यही काव्य रूपक, श्रव्य काव्य और गीत काव्य आदि नाना विभेदो में विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्य के द्वारा सामाजिको के हृदय में रागात्मिका वृत्ति का उदय करानेवाली वस्तु को काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य में कवि स्वय वर्णन, कथन तथा चित्रण के द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता है जिससे श्रोता के हृदय में शीघ्र ही रस का उन्मीलन होता है। रूपक मे भी यही कार्य है, यही ध्येय है परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटो के द्वारा। अत आनन्द के उदय की दृष्टि से दोनो में यही तारतम्य है। महिमभट्ट ने इस विषय का एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्ति-विवेक में उद्धृत किया है —

अनुभावविभावाना वर्णना काव्यमुच्यते ।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरंजितम् ॥

पाश्चात्य आलोचक भी इस मत से सहमत हैं। अरस्तू का कहना है कि महाकाव्य के समान ही, दु खान्त रूपक, अभिनेय के विना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है—केवल पठनमात्र से वह अपनी शक्ति का उन्मीलन करता है। अनेक पश्चिमी विद्वानो का यह विचार है कि नाटक के लिए 'अभिनेयता' अत्यन्त आवश्यक गुण नही है। परन्तु 'काव्यत्व' होना अनिवार्य है। इन पश्चिमी आलोचको के मतानुसार भी दृश्य तथा श्रव्य काव्य की मौलिक एकता सिद्ध होती है।

प्रकृति और रस

कवि अपने काव्य मे प्रकृति का वर्णन बडी सजीवता के साथ करता है। प्रकृति और रस में क्या सबध है? यह विचारणीय प्रश्न है। प्रकृति क्या किसी विशिष्ट रस के उदय में समर्थ होती है? प्रकृति से रस या भाव के उदय के सबध मे आलोचकों में वैमत्य नही है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह भाव या रस सर्वथा सब परिस्थितियो

में एक ही रूप रहता है अथवा नाना भावो या नाना रसो का आविर्भाव परिस्थिति की अनुकूलता या विषमता के कारण हुआ करता है।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में ससार में ऐसा कोई पदार्थ नही होता जो विभाव का रूप धारण कर रस का अग नही बन जाता। रस आदि चित्तवृत्ति विशेष ही तो हैं। ऐसी दशा में उस पदार्थ का सर्वथा अभाव है जो किसी विशिष्ट चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नही होता अर्थात् जगत् का क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थ, महान्-से-महान् पदार्थ द्रष्टा के हृदय में किसी विशेष चित्तवृत्ति को अवश्यमेव उत्पन्न करता है। यदि वह किसी चित्तवृत्ति का उत्पादन नही करता तो काव्य का विषय ही नही बन सकता।

प्रकृतिगत पदार्थ इस नियम का अपवाद नही है। सुतरा वे भी द्रष्टा के हृदय में किसी विशिष्ट वृत्ति के उत्पादन की क्षमता रखते हैं। आनन्दवर्धन की स्पष्ट उक्ति है —

भावान् अचेतनानपि चेतनवत् चेतनान् अचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

आनन्दवर्धन के इस कथन का यही तात्पर्य है कि वाह्य प्रकृति में स्वत किसी विशिष्ट भाव की सत्ता नही होती। कवि ही अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार उसमें परिस्थिति के अनुकूल भावो का आरोप किया करता है।

सस्कृत के भावुक कवियो का प्रकृति वर्णन आनन्दवर्धन के नियम का साक्षात् परिचायक है। मेघदूत के विरह-से विधुर यक्ष की दृष्टि में निर्विन्ध्या नदी वियोग-सन्तप्ता नायिका के समान अपना दयनीय जीवन बिता रही है—वियोग की आग में झुलसी हुई नायिका के समान नायक (मेघ) के सौभाग्य की सूचना दे रही है —

वेणीभूत - प्रतनुसलिला सावतीतस्य सिन्धुः,
पाण्डुच्छाया—तटरुह - तरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः।
सौभाग्य ते सुभग ! विरहावस्यया व्यञ्जयन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥
(मेघदूत, पूर्वभाग श्लोक २९)

प्रकृति और भाव

वाह्य वस्तु का प्रथम प्रभाव कवि के चित्त पर पड़ता है। वह उसके निरीक्षण में तन्मय होकर अपने चित्त में एक विशिष्ट वृत्ति का उदय कराता है। यह हुआ कवि-चित्त मे रस-सचार। प्रकृति के स्पर्श से कवि के चित्त में कौन-सा भाव उठेगा ? यह प्रधानतया कवि की तत्कालीन चित्तावस्था('मूड') पर अवलम्बित होता है। इस विषय मे मनोवैज्ञानिक मिचेल का यह कथन मनन करने योग्य है कि सूर्य से उद्भासित समुद्र के ऊपर यदि हम दृष्टिपात करते है तो वह सरल भाव से अथवा कपट भाव से मुसकाता दीख पड़ता है। यह सब हमारी मानसिक अवस्था का एक विशिष्ट व्यापार होता है।

प्रकृति की एकरूपवाली (एकात्मिका) आकृति दर्शको की चित्तवृत्ति की भिन्नता के कारण नानारूप धारण करती है। रात की एकान्तता में जोर से वहने-वाली हवा का स्पर्श किसी के चित्त में भय, किसी के चित्त मे शान्ति आदि भावो को उत्पन्न करता है। प्रकृति न तो स्वत. भय का सचार करती है और न स्वत शान्ति का उद्गम करती है। यह अनुभवकर्ता की चित्तवृत्ति की ही विपमता है जो उसे नाना रूपो में अकित करती है।

मूल रस की मीमांसा

ऊपर प्रतिपादित किया गया है कि मूलत रस एक ही है और स्थायी भाव की भिन्नता के कारण उसी से नाना रसो का उदय होता है। अव विचारणीय प्रश्न है कि वह मूल रस कौन है ? प्रकृतिरस कौन है ? जिनकी विकृति नाना रसो के द्वारा उपस्थित की जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ है तथा उनके भिन्न-भिन्न तर्क है।

(१) भवभूति—करुणरस

महाकवि भवभूतिकी सम्मति मे करुणरस ही वह मूलभूत रस है। इस मत का प्रतिपादन उन्होंने अपने 'उत्तर रामचरित' नाटक के इस प्रख्यात पद्य में किया है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।

आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा, सलिलमेव तु तत् समग्रम् ॥
(तृतीय अक)

मुख्य रस एक ही है और वह करुण ही है। वह निमित्त की भिन्नता से, कारणो के भेद से, भिन्न-भिन्न विकृति को प्राप्त होता है। करुण ही स्थायी भावो की भिन्नता के कारण शृगारादि रसो के रूप में अवतीर्ण होता है। इस विषय में उसकी तुलना जल से की जा सकती है। हवा के झोको के अन्तर के कारण वही जल कभी आवर्त बन जाता है, कभी वही बुद्बुद बन जाता है और कभी वह उत्ताल तरगो का रूप धारण करता है। वह सब जल ही जल होता है, परन्तु निमित्त के कारण विभिन्न आकारो को धारण करता है। करुण रस की भी यही स्थिति होती है।

करुण रस में शोक स्थायी भाव रहता है। अत किसी प्रियजन की मृत्यु से जो शोक उत्पन्न होता है वही इस रस में स्थायी भाव माना जाता है। फलत मृत्यु से आनन्द की उत्पत्ति व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित तथा विरुद्ध है, इसलिए इसकी मीमासा हमारे आचार्यों ने बडी छान-बीन के साथ की है। उनका कथन है कि शोक में दु खाभिव्यञ्जना की शक्ति तभी तक है जबतक वह लौकिक विषयो के साथ सम्बद्ध रहता है। काव्य तथा नाटक में प्रदर्शित होते ही शोक अलौकिक वस्तु की विभावना करने लगता है और तब उससे आनन्द की ही प्राप्ति होती है, दु ख का उदय नही होता।

अलौकिक-विभावत्व नीतेभ्यो रतिलीलया ।
सदुक्त्या च सुख तेभ्य. स्यात् सुव्यक्तमिति स्थिति ।
(भक्ति-रसामृत-सिन्धु २।५।१०६)

करुण रसात्मक नाटक के देखने का आग्रह भी इसीलिए होता है कि वे आनन्द-दायक होते हैं। दु ख की प्रतीति होने पर उनके पास कोई भी नही फटकता। दु ख की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है, दु:ख की प्राप्ति के लिए नही। सीता-वनवास, सत्य हरिश्चन्द्र आदि करुणरस से सवलित नाटको का अभिनय उसी प्रकार आकर्षक होता है जैसे मिलन-प्रधान नाटको का। आँसुओ का गिरना, रोमाच का होना चित्त के द्रवीभूत होने से ही होता है। यह आनन्द के अभिव्यञ्जक चिह्न हैं, शोकके नही —

करुणादावपि रसे जायते यत् पर सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाण तत्र केवलम् ॥

एक बात और दु ख होने पर सहानुभूति का उदय सुख होनेवाली घटनाओ की अपेक्षा अधिक होता है। दु ख में दु खी होना समचित्तता तथा सहानुभूति का प्रकट चिह्न होता है। फलत करुण का आकर्षण विश्वव्यापी है और अधिकतम व्यापक है। इसलिए भवभूति के द्वारा करुण के आदिरस मानने की उक्ति को हम तर्क-युक्त मान सकते हैं।

(२) भोजराज—शृगाररस

भोजराज (११ शती) शृगाररस को प्रकृतिरस मानने के पक्षपाती हैं। उन्होंने 'शृगारप्रकाश' नामक विपुलकाय तथा प्रौढ ग्रन्थ की रचना इसी तत्त्व के प्रतिपादन के निमित्त की है। उनका स्पष्ट कथन है—

शृंगार - वीर - करुणाद्भुत - रौद्र-हास्य-
बीभत्स - वत्सल - भयानक - शान्तनाम्न. ।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृगारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥
(शृगार प्रकाश)

उनकी शृगाररस की कल्पना विलक्षण है। वे शृगार को अभिमानरूप मानते हैं और इसे अन्य रसो के भीतर प्राणरूप से प्रतिष्ठित मानते हैं। आधुनिक मनो-विज्ञान इस मत की वैज्ञानिकता की यथेष्ट पुष्टि करता है। इसीलिए शृगार को रसराज के नाम से पुकारते हैं।

(३) नारायण पण्डित—आश्चर्यरस

साहित्यदर्पण के अनुशीलन से पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज (१४ शती) के पूर्वज कोई नारायण पण्डित आलोचक थे जिन्होंने 'आश्चर्य रस' को ही आदिरस माना है। उनका कथन है कि प्रत्येक रस में विस्मय की ही भावना सर्वप्रधान रहती है। जबतक काव्य में कोई विस्मय की बात सामने नही आती, तबतक वह श्रोताओ तथा द्रष्टाओ के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नही करता। सामान्य बातो से श्रोताओ का न तो मनोरजन होता है, और न उनके हृदय का अनुरजन। फलत. असामान्य बातें

काव्य में होनी ही चाहिए और इसलिए आश्चर्य को मूल रस मानना चाहिए। इसी मत को मूल मानकर शक्तिभद्र ने रामकथा में आश्चर्यरस से समन्वित 'आश्चर्य-चूडामणि' नामक प्रौढ नाटक की रचना की है। धर्मदत्त ने नारायण के द्वारा अद्भुत रस की मान्यता की बात अपने ग्रन्थ में लिखी है —

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥

(४) रूप गोस्वामी—मधुररस

यह मत गौडीय वैष्णवों का है जिन्होंने श्री चैतन्यदेव के द्वारा प्रचारित मत तथा उपासना को अपने सिद्धान्त का सारभूत तत्त्व माना है। यह मत संक्षेप में इस पद्य में प्रदर्शित किया गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्,
श्री चैतन्य-महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

इस मत में गोपियों की उपासना ही आदर्श मानी गई है। वे भगवान् आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र की उपासिका थीं। भगवान् में उनकी रति स्वाभाविक थी। उनकी अटूट श्रद्धा तथा नैसर्गिक रति श्री कृष्णचन्द्र के चरणारविन्द की सेवा में थी और इसीलिए उनके हृदय में शुद्ध भक्ति का उदय हुआ। यही इस मत की आदर्श उपासना है। अतः इनके मत में श्री कृष्ण के प्रति रति ही इस रस का स्थायी भाव है। वह स्थायीभाव अपने उचित विभावादिकों के द्वारा पुष्ट होने पर 'मधुररस' के नाम से विख्यात होता है। यही सर्वश्रेष्ठ आदिभूत रस है और इसी की विकृतियाँ शृंगारादि अन्य रस हैं। श्री रूपगोस्वामी ने इस मत का प्रौढ प्रतिपादन 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' में बड़े विस्तार के साथ किया है।

काश्मीर के आचार्यों के मत का भी समन्वय यहाँ किया गया है। ये आचार्य लोग देवविषयक रति को 'भाव' ही मानते हैं, उसे वे रसकोटि में निविष्ट नहीं मानते। इसीलिए मम्मट की यह प्रसिद्ध उक्ति है —

रति र्देवादिविपया व्यमिचारी तयाञ्जित. ।
भावः प्रोक्तः ॥

इस मत से भी यहाँ विरोध नही है। श्री रूप गोस्वामी का युक्तिवाद यह है कि मधुररस में श्रीकृष्ण विपयक रति ही स्थायी भाव है, देवविपयक रति नही। श्री कृष्ण तो स्वय भगवान् ही ठहरे—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् (भागवत)। अत. भगवान् के विपय मे किया गया प्रेम ही भक्तिरस में परिणत होता है। देवविपया रति में इतनी क्षमता तथा स्थायिता नहीं है कि वह रसमयी प्रौढि को प्राप्त कर सके। फलत. उसे हीन होना ही चाहिए। अत देवविपया रति तो भावमात्र है, परन्तु भगवद्विपया रति स्थायीभाव है और इस स्थायी भाव से प्रवृद्ध होनेवाला रस 'मधुररस' के नाम से विख्यात है। यही मूल रस है।

इसके विपय में आलोचको की यही मीमासा है कि यह शुद्ध साहित्यिक रस नही है, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में धर्म के प्रवेश से जायमान यह कल्पना है। जो भी हो, यह कल्पना नवीन है और तर्क-मण्डित होने से चिन्त्य नही है।

(५) अभिनवगुप्त–शान्तरस

काश्मीरी आलोचको की सम्मति मे शान्तरस ही आदिरस है। अभिनव गुप्त उस मत के प्रतिनिधि आलोचक हैं। इस मत का युक्तिवाद यह है कि रस आनन्द-रूप होता है। शृगारादि रसो मे यह आनन्द रत्यादिको के द्वारा व्यवच्छिन्न होता है अर्थात् रति उसके आनन्द के रूप को अपनी प्रभुता से एक प्रकार व्यावृत कर लेती है, जिससे आनन्द की विशुद्धि जाती रहती है और वह अपने मूल रूप से हट कर विकृत दशा को प्राप्त कर लेता है। प्रकृत दशा में रस विशुद्ध आनन्दरूप रहता है। और यह दशा शान्त रस मे ही सम्भावित है। शान्तरस का स्थायी भाव है शम। जब चित्त ससार के प्रपचो से हटकर शुद्ध सत्त्व मे प्रतिष्ठित हो जाता है, तब शान्ति का उदय होता है। तब चित्त को विकृत करने के लिए न किसी सजातीय वृत्ति का उदय होता है और न विजातीय वृत्ति का। फलत चित्त अपने विशुद्ध सात्त्विक रूप मे सर्वदा विद्यमान रहता है और तभी शान्तरस होता है। बाह्य वस्तु के आने पर जब यह चित्त उसके आकार को ग्रहण कर लेता है, तब उसमें तदाकार वृत्ति का उदय होता है और चित्त अपने स्वाभाविक साम्यदशा से हटकर वैपम्य दशा की ओर अग्रसर होता है। इस

दशा में शृंगारादि रसो की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस मत में शान्त ही मूल रस है और अन्य रस उसी की विकृतियाँ ह।

प्रत्यभिज्ञावादी शैव दार्शनिको का मत यही है। वे हृदय की उपमा अष्टदल कमल से देते हैं। कमल में आठ दल होते हैं और बीच में होती है कर्णिका। उसी प्रकार रति, शोक, हास आदि आठ स्थायी भावो का उदय हृदय में होता है और हृदय के केन्द्र या कर्णिका में विद्यमान रहता है—शान्तरस जिसमें रति आदि भावो की साम्यावस्था रहती है। अपने विशिष्ट निमित्त को लेकर ये शृङ्गारादि रस उसी मूलभूत रसके उत्पन्न हुआ करते हैं। इन दार्शनिको का यही सिद्धान्त है जो आलोचना-जगत् में सर्वथा मान्य है। भरतमुनि के एक प्रसिद्ध श्लोक की व्याख्या करते समय अभिनव-गुप्त ने इस मत का उत्थान दिखलाया है। वह श्लोक है—

स्व स्व निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥
(नाटघशास्त्र, अध्याय ६)

विशेष दार्शनिक युक्तियों से मण्डित तथा तर्क से समर्थित होने के कारण इस विषय में यही अन्तिम मत प्रामाणिक माना जा सकता है। अनेक आचार्यों की यही सम्मति है।

उपसंहार

'संस्कृत आलोचना' के इस संक्षिप्त परिचय के अनुशीलन से इस शास्त्र की विशिष्टता तथा व्यापकता का परिचय प्रत्येक आलोचक को हो सकता है। यह शास्त्र बहुत प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा मे तथा काव्य की रचना मे आलोचको तथा कवियो का मार्ग निर्देश करता आया है। यह काव्य के बहिरग तथा अन्तरग उभय पक्षो के विषय मे प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करता है। आपातत यह प्रतिभास होना स्वाभाविक है कि यह केवल काव्य के बहिरग रूप को ही समीक्षण का विषय बनाता है। परन्तु इस शास्त्र के अन्तराल मे प्रवेश करनेवाले आलोचक को यह समझते देर न लगेगी कि यह काव्य के अन्तरग का भी, उसके हृदय का भी, उसी प्रकार मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करता है। यदि दोष तथा अलकार का विवेचन इस आलोचना-पद्धति के बहिरग समीक्षण का फल है, तो ध्वनि तथा रस की मीमासा इसके अन्तरग प्रवेश का परिचायक है। तथ्य यह है कि संस्कृत आलोचना काव्य को एक सर्वाङ्ग-सम्पन्न वस्तु मानती है और इसीलिए वह उसके शरीर तथा आत्मा दोनो का विवेचन तथा समीक्षण करना अपना महत्त्वपूर्ण कार्य मानती है। ऐसी स्थिति मे जो पाश्चात्य आलोचक तथा नव्य भारतीय समीक्षक इसे केवल बहिरग तत्त्व-विवेचना ही मानते है वे सिद्धान्त से सर्वथा दूर है। दोषो की समीक्षा आपातत बहिरग प्रतीत होती है, परन्तु वह काव्य के अन्तरग के अध्ययन पर आश्रित रहती है। 'भग्नप्रक्रम' दोष को ही देखिए। यह काव्यकला के सूक्ष्म तथा गम्भीर सिद्धान्त के ऊपर आश्रित रहता है। कला समरसता तथा समरूपता (सिमेट्री) पर आश्रित होनेवाली एक महनीय वस्तु होती है। जबतक यह 'सामञ्जस्य' चित्र या काव्य के विविध अगो में वर्तमान नही होता, तबतक यह कलात्मक होने के महनीय गौरव से सदा वञ्चित रहता है। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले शब्दो में, धातुओंमें, प्रत्ययो में तथा इतर अंगो में सामञ्जस्य होना अनिवार्य होता है और इस महत्त्वपूर्ण नियम के उल्लघन करने पर 'भग्नप्रक्रम' काव्य-दोष का जन्म होता है। इसी प्रकार अन्य दोषो के अनुशीलन से महनीय काव्य

सिद्धान्तो का व्यापक परिचय हमें प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि साधारण रीति से जो दोष-समीक्षा बहिरग के समान प्रतीत होती है, सूक्ष्मता से देखने पर वही नितान्त अन्तरग, व्यापक तथा तलस्पर्शिनी ज्ञात होती है। फलत संस्कृत आलोचना काव्य के अन्तरग तथा बहिरग उभयविध पक्षो का अध्ययन तथा विवेचन करने के कारण अत्यन्त महनीय है, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

समीक्षा-ससार के लिए संस्कृत आलोचना की काव्य तत्त्वो की चार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन हैं—**औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि** तथा **रस**। ये चारो काव्य-सिद्धान्त काव्य के नितान्त अन्तरग तत्त्व है जिनके अभाव में काव्य अपने स्वरूप से हीन हो जाता है। **औचित्य** नितान्त व्यापक सिद्धान्त है लोक-व्यवहार में तथा काव्य-कला में। आलोचना-शास्त्र के आरम्भिक काल में ही भरतमुनि ने 'औचित्य' का साहित्यिक मूल्याङ्कन किया तथा उसे नाटक का एक सर्वमान्य तत्त्व घोषित किया। काव्य-जगत् में औचित्य एक व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है जिसके अभाव में रस तथा ध्वनि से स्निग्ध भी काव्य फीका, नीरस तथा अरुचिकर होता है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में इसे नाट्यकला का प्राण माना है। उनकी महनीय उक्ति है—

वयोऽनुरूप. प्रथमस्तु वेषो ,
वेषानुरूपश्च गति-प्रचार ।
गति-प्रचारानुगत च पाठ्य ,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य. ॥
(नाट्यशास्त्र १४।६८)

इसका तात्पर्य है वय के अनुरूप उचित वेष होना चाहिए और वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठ्य अर्थात् सम्वाद गतिप्रचार के अनुकूल ही होता है और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। नाटक के ये ही अग होते हैं और इनमें परस्पर औचित्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

आनन्दवर्धन अनौचित्य को रसभग का कारण मानते हैं तथा औचित्य को रस का गूढ रहस्य बतलाते हैं—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

इस प्रकार काव्य तथा कला में, दृश्य तथा श्रव्य काव्य में, लोक तथा शास्त्र में औचित्य का महनीय तत्त्व सर्वदा जागरूकता के साथ अपनी सत्ता प्रतिष्ठित किये रहता है। इस तत्त्व की अवहेलना किसी भी काव्य को उसके मान्यपद से गिराने के लिए पर्याप्त कारण होती है। 'औचित्य' भारतीय आलोचकों की सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उन्मीलित मान्य काव्य-तत्त्व है जिसकी उपासना प्रत्येक साहित्य के लिए आवश्यक होती है। यूनानी आलोचक अरस्तू ने अपने आलोचना-ग्रन्थों में 'प्रोप्रायटी' की चर्चा अवश्य की है परन्तु जो सूक्ष्मता तथा विशदता औचित्य के विवेचन में भारतीय आचार्यों ने दिखलाई है वह एकदम नवीन है, व्यापक है तथा तलस्पर्शी है।

वक्रोक्ति

संस्कृत आलोचना की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है—वक्रोक्ति। इस तत्त्व की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों की सूक्ष्म विवेचक शक्ति का परिचायक है। काव्य में लोकातिक्रान्त गोचर वचन का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। जिन शब्दों को बहुल प्रचार के कारण जनसाधारण ने अत्यन्त परिचित अथच अत्यन्त धूमिल बना डाला है, उनके प्रयोग से काव्य कथमपि स्निग्ध तथा पेशल नहीं बन सकता। स्निग्धता तथा पेशलता के लिए काव्य में 'अतिशय' होना ही चाहिए। भामह जिसे अतिशयोक्ति के नाम से अभिहित करते हैं वही तो आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति है। संस्कृत का आलोचक काव्य के लिए भाषा की विशिष्टता को महत्त्व नहीं देता, वह उक्ति के चमत्कार को ही सर्वस्व मानता है। राजशेखर की यह उक्ति प्रख्यात है—

'उत्ति-विसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ'

'उक्ति विशेष ही काव्य होता है। भाषा जो भी हो सो हो।' काव्य की उक्ति में विशिष्टता इसी 'वक्रोक्ति' के समाश्रयण से आती है। संस्कृत आलोचना के इस तत्त्व की महत्ता सर्वत्र मान्य है और आजकल के कविजनों की भाषा इसीलिए वक्रोक्तिमयी होती है। काव्य में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भाषा को स्निग्ध तथा भाव को रसपेशल बनाता है और इसीलिए इसका प्रचुर प्रचार सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। वक्रोक्ति का आदर भारतवर्ष में ही नहीं, प्रत्युत यूरोप में भी 'अभि-व्यञ्जनावाद' के नाम से जिस काव्यतत्त्व का समीक्षण तथा प्रचार हो रहा है वह भी वक्रोक्ति के बहुत कुछ पास पहुँचता है। इसलिए संस्कृत आलोचना का मर्मज्ञ अपने तत्त्व का उद्घाटन इस सरस सूक्ति के द्वारा करता है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूपणानि ,
वाक्यार्थबाध परम प्रकर्ष ।
अर्थेषु वोध्येष्वभिधैव दोष. ,
सा काचिदन्या सरणि कवीनाम् ॥

महाकवियो का मार्ग ही निराला होता है—जिसमें वक्र उक्तियाँ विभूषण होती है। वाक्य के अर्थ का बाधही परम उत्कर्प होता है तथा अर्थ के प्रकट करने के लिए अभिधा का प्रयोग दोप माना जाता है। सचमुच यह अद्‌भुत मार्ग है काव्य का ! ! ! वक्रोक्ति के कारण भापा मे लोच तथा लचीलापन ही नही आता, प्रत्युत एक ही अर्थ के अभिव्यञ्जक तथा द्योतक नाना शब्दो का रुचिर पुज भी कवि के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इसीलिए वक्रोक्ति भाषा को शक्ति तथा प्रौढि देने में, भावो की नितान्त अभिनव ढग से अभिव्यञ्जना करने में एक अलौकिक साधन है, इस तथ्य की वहुश व्याख्या कर सस्कृत के आलोचको ने हमारे सामने एक अपूर्व काव्यतत्त्व की घोपणा की है।

ध्वनि

सस्कृत आलोचना की तीसरी देन है—**ध्वनि** का तत्त्व। हमारे आलोचको ने काव्य की समीक्षा कर इस महनीय तत्त्व की उद्‌भावना की कि काव्य उतना ही नही प्रकट करता जितना हमारे कानो को प्रतीत हो रहा है। भापा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न रहती है और वह नितान्त गूढ अर्थो को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखती है। इस गूढ शक्ति को हमारे सस्कृत के आलोचको ने स्वय समझा और अपनी मनोरम शैली में विस्तार तथा वैशद्य के साथ समझाया। यह तत्त्व वहुत से आलोचको के लिए अनिर्वचीय कोटि में वहुत दिनो तक पडा रहा, परन्तु आनन्दवर्धन ने इस अर्थ की स्वतन्त्रता तथा मनोरमता का विवरण वडी सुन्दरता के साथ अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। लक्ष्य में इसकी सत्ता तो अत्यन्त प्राचीनकाल से ही थी, परन्तु लक्षण-ग्रन्थ में इसकी समीक्षा तथा विशद व्याख्या हमारे आलोचको के तलस्पर्शिनी वुद्धि का परिचायक है। *व्यञ्जना ही काव्य की कसौटी मानी गई।* जिस काव्य में इस शक्ति का जितना ही अधिक आश्रयण विद्यमान रहता है, वह काव्य उतना ही मार्मिक, रोचक तथा हृदयावर्जक माना जाता है। शब्द की इस महनीय शक्ति को प्रतिष्ठा देने के लिए इन आलोचको ने न्याय तथा

मीमासा के अनुयायी आचार्यों से जो लोहा लिया वह भी अपनी पैनी युक्तियो के कारण दार्शनिक ससार की एक आश्चर्यकारी घटना है। तात्पर्यवादी, अन्विताभिधानवादी तथा अभिहितान्वयवादी आचार्यों के मतो का युक्तियुक्त खण्डन कर मस्कृत आलोचना के आचार्यों ने एक नवीन युक्तिवाद की प्रतिष्ठा की।

यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि पश्चिमी आलोचक भी आज समीक्षा के लिए व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को समझने लगे हैं। १८ शती के मान्य अग्रेजी कवि ड्राइडन ने बडे पते की बात कही थी—'मोर इज़ मेण्ट दैन मीट्स दी ईअर' अर्थात् कविता का तात्पर्य उससे अधिक होता है जो हमारे कान के साथ सम्पर्क मे आता है। यह स्फुटतया ध्वन्यर्थ की काव्य में स्वीकृति है। आजकल के अग्रेजी आलोचक तो स्पष्टत व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को काव्य में मानने लगे हैं। मान्य कवि तथा आलोचक 'एवर क्राम्बी, की स्पष्ट उक्ति है—"साहित्य-कला कुछ मात्रा तक सदैव व्यञ्जनात्मक होती है और इस कला का महनीय उत्कर्ष यह है कि यह व्यञ्जना शक्ति को ऐसी व्यापक, विशद तथा सूक्ष्म भाषा में प्रकट करे जितना सम्भव हो सकता है। अभिधाशक्ति के द्वारा जो अर्थ वाच्य होता है, उसकी पूर्ति भाषा की व्यञ्जना-शक्ति कर देती है।" रिचर्ड्स जैसे आधुनिक दार्शनिक आलोचक भी इसे काव्य में महनीय तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार काव्यगत अर्थ के चार प्रकार होते हैं—(१) सेन्स, (२) फीलिङ्ग, (३) टोन, (४) इन्टेन्शन। 'सेन्स' का अर्थ है वक्ता के द्वारा कही गई वस्तु। 'फीलिंग' का अर्थ है हृदयगत भाव। 'टोन' का अर्थ है बोलने का सुर, वक्ता और बोधव्य के सम्पर्क का ज्ञान। वक्ता अपने श्रोताओ की ओर दृष्टि रख कर ही अपने वाक्यो का विन्यास करता है। श्रोताओ के भाव परिवर्तन के साथ-साथ वक्ता अपने कथन के सुर में भी परिवर्तन करता है। यह तीसरा प्रकार है। 'इन्टेन्शन' का अर्थ है अभिप्राय या तात्पर्य। लेखक बहुत-सी बातें कहना चाहता है, परन्तु वह शब्दो के द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। उसे वह अपने पाठकों के लिए बोध्य या गम्य ही बनाकर छोड देता है। किसी ग्रन्थ की रचना में लेखक का जो तात्पर्य या व्यङ्ग्य अर्थ होता है वही उनका 'इन्टेन्शन' होता है। यहाँ स्पष्टत इस शब्द का तात्पर्य 'ध्वनि' से है जो इस आलोचक की सम्मति में काव्यगत अर्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अश होता है।

जिस व्यञ्जना से गम्य अर्थ की ओर पश्चिमी आलोचना अभी मुड रही है और उसका महत्त्व समझ रही है उसका विशद प्रतिपादन सस्कृत आलोचना ने कम-से-कम डेढ हजार वर्षो से तो अवश्य ही किया है। यह उसके लिए गौरव की वस्तु है।

रस

हमारी आलोचना की चौथी देन है—रस का तत्त्व। हम नि सन्देह कह सकते हैं कि हमारी आलोचना ने रस तत्त्व का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा विवरण प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र एकान्त दुर्लभ है। रस के रूप का, उसकी साधक सामग्री का, उसके परस्पर सम्बन्ध का, उसके पारस्परिक उन्मीलन का, विरोध का तथा विरोधपरिहार का जो गम्भीर विवेचन भरत तथा उनके व्याख्याकारो ने किया है वह नितान्त सूक्ष्म, मार्मिक तथा तलस्पर्शी है। काव्य का यही हृदय है, यही उपनिषद् है। इसी अलौकिक आनन्द के उन्मीलन की ओर समग्र काव्य अग्रसर होते हैं चाहे वे दृश्य हो या श्रव्य। इसी की सिद्धि के तारतम्य से काव्य के उत्कर्ष तथा अपकर्ष का मूल्याकन किया जाता है। काव्य का यही हृदयपक्ष है जो श्रोता तथा दर्शक के हृदय को अनुरजित कर काव्य के श्रवण करने के लिए या नाटक के देखने के लिए बलात् खीचता है। काव्य का आकर्षण इसी तथ्य पर आश्रित रहता है। रसात्मकता काव्य की सबसे बडी कसौटी है। इस तथ्य का परिचय हमें महर्षि वाल्मीकि की प्रथम श्लोकात्मक रचना से होता है। व्याध के बाण से बिधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से जो प्रथम उद्गार निकला था वही रसमयी कविता का प्रथम प्रतीक है। शोक तथा श्लोक का समीकरण आलोचनाशास्त्र का प्रथम मूल सूत्र है जिसके भाष्यरूप में अवान्तर ग्रन्थों की परम्परा चलती है। रामायण, कालिदास तथा आनन्दवर्धन एक स्वर से इस समीकरण के पक्षपाती है और इसके साक्षी हैं कि वाल्मीकि प्रथम कवि ही नही, प्रथम भावक भी है। काव्यसर्जन तथा काव्यालोचन का जन्म तथा उदय सस्कृत साहित्य मे एक ही समय हुआ। वाल्मीकि ही हमारे आदि कवि है और वे ही हमारे आदिम आलोचक हैं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थ. तथा चादिकवे॰ पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक. श्लोकत्वमागत.॥
(ध्वन्यालोक १।१८)

कविता का मूल स्रोत भावो की अभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेलित होनेवाले भावो को शब्दो के द्वारा जो वस्तु प्रकट करती है उसी का नाम तो 'कविता' है। इसका मार्ग दर्शन महर्षि वाल्मीकि ने ही प्रथमत॰ किया। इस आदि कवि-भावक की आलोचना का यही मर्म है कि रस ही काव्य का मूलभूत महनीय तत्त्व है। इस रस का

उदय तबतक नही हो सकता जबतक कवि उस भाव से स्वय आप्लुप्त न हो। यदि कवि किसी भाव से बिल्कुल आक्रान्त हो उठता है, उसके हृदय मे भाव इतना भर जाता है कि वह छलकने लगता है तभी रसमयी कविता का जन्म होता है। भावानुभूति भावाभि-व्यक्ति का प्रथम सोपान है। पहिले अनुभूति से सम्पन्न कवि ही उचित शब्दो मे उस भाव की अभिव्यक्ति पाठको के सामने करने बैठता है और तभी वह सफल होता है। बिना स्वत अनुभूति के क्या कोई लेखक अपने पाठको में उस रस का उन्मीलन कभी करा सकता है? उसका प्रयास निश्चय रूप से विफल होगा। रस का उन्मीलन ही काव्य का लक्ष्य है और उस रस का विश्लेषण आलोचना का तात्पर्य है। इसे कभी भुलाया नही जा सकता। इस प्रकार सस्कृत आलोचना ने विश्व साहित्य के सामने अपनी महती देन औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस के रूप में प्रस्तुत किया। तुलना-त्मक समीक्षण का यह परम रहस्य है।

परिशिष्ट

संस्कृत आलोचना
का
क्रमिक विकास

(१)

आलोचनाशास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थो के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलकारिको के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौनसी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है? वह कौन-सा पदार्थ है जो काव्य के अगो में सबसे अधिक उपादेय और महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रश्न के उत्तर मे नाना सम्प्रदायो की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलकार को ही काव्य का प्राण मानते हैं, कुछ गुण या रीति को और दूसरे लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न भिन्न शताब्दियो में नये नये सम्प्रदायो की उत्पत्ति होती गई। 'अलकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायो के उदय का जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव हो सकती है —

(१) धर्म से
(२) व्यापार से
(३) व्यंग्य से

धर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) नित्य और (२) अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नही होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलकार सम्प्रदाय (२) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। (१) वक्रोक्ति; (२) भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक है। अत उनका मत 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस-निरूपण के अवसर

पर भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है।

शब्दार्थ में व्यग्यमूलक वैशिष्टय माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन है जिन्होने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ मे ध्वनिविरोधी तीन मतो का उल्लेख किया है जो उनसे प्राचीन हैं तथा काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं। इन तीनो सम्प्रदायों के नाम है—(१) अभावभावी (२) भक्तिवादी और (३) अनिर्वचनीयतावादी। अलकार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी 'विमर्शिणी' में ध्वनि की वारह विप्रतिपत्तियो का निर्देश किया है जिनमे ध्वनि का विरोध माना जाता है। इन सवका अन्तर्भाव कर आनन्द-वर्धन मुख्यतया तीन ही ध्वनि-विरोधी पक्ष मानते हैं। इनका खण्डन कर उन्होंने **'ध्वनि'** की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

'सस्कृत आलोचना' के मुख्यत छ सम्प्रदाय होते हैं —

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस-सम्प्रदाय	भरतमुनि
(२) अलकार सम्प्रदाय	भामह
(३) रीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्तक
(५) ध्वनि सम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र।

१—रस-सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार रस-सम्प्रदाय के आदिम आचार्य **नन्दिकेश्वर** है, परन्तु आजकल न इनका कोई ग्रन्थ ही मिलता है, न इनके मत का ही परिचय मिलता है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के आजकल प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और उनका 'नाटचशास्त्र' रमसिद्धान्त का प्रतिपादक सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। नाटचशास्त्र कभी सूत्ररूप में ही विद्यमान था, परन्तु आजकल इसमें तीन स्तर दीख पडते हैं—सूत्र, भाष्य तथा श्लोक या कारिका। भरत ने अपने सिद्धान्तो की पुष्टि में कतिपय अनुवश्य श्लोकों को उद्वृत किया है जो अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य-परम्परा से आनेवाले

प्राचीन पद्यो का नाम है। नाटयशास्त्र एक युग की रचना नही है, प्रत्युत वह अनेक शतियो के सामूहिक प्रयत्नो का सुखद परिणाम है। 'कोहल' नामक किसी प्राचीन नाटयाचार्य ने नाटयशास्त्र के विकास में विशेष योग दिया था, इसका पता अनेक स्थलो से चलता है। अभिनवभारती के अनुसार भरत ने 'कोहल' के विशिष्ट मतो को आदरपूर्वक अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर रखा है। नाटयशास्त्र के दो रूप थे—(१) बृहत् तथा (२) लघु। प्राचीन नाटयशास्त्र बारह हजार श्लोको में निबद्ध था। लघु संस्करण जो वर्तमान संस्करण है केवल छ हजार श्लोको का ही है। इसीलिए इस ग्रन्थ के रचयिता भरतमुनि धनञ्जय और अभिनवगुप्त के द्वारा 'षट्साहस्रीकार' (छ हजार श्लोको के कर्ता) के नाम से निर्दिष्ट किये गये है। इसकी रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शती से लेकर विक्रमपश्चात् द्वितीय शती के मध्य में कभी मानी जाती है।

भरत के नाटयशास्त्र को ललित कलाओ का विश्वकोष कहना चाहिए। नाटय-विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्द शास्त्र का, संगीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ ग्रन्थरत्न है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारो के नाम से भी चल सकता है। इसके ९ भाष्यकारो का परिचय मिलता है जिनके नाम हैं—

(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शकुक, (४) भट्टनायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर तथा (९) मातृगुप्त। इन सब मे अभिनवगुप्त की प्रख्यात व्याख्या 'अभिनव भारती' ही आज उपलब्ध होती है और इसी मे उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारो के भी अस्तित्व का पता चलता है। उद्भट का समय अष्टमशती है और अभिनवगुप्त का एकादश शती और इन्ही दोनो के बीच मे लगभग तीन सौ वर्षो के भीतर अन्य व्याख्याकारो का उदय हुआ। मातृ-गुप्ताचार्य के नाटयलक्षण के श्लोको को राघवभट्टने शाकुन्तल की टीका मे बहुश उद्धृत किया है। सुन्दर मिश्र (१७ शती) के कथनानुसार मातृगुप्त ने भरत के श्लोको की व्याख्या लिखी थी। इन टीकाकारो में लोल्लट, शकुक तथा भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्या की है जिनका निर्देश अभिनव भारती मे बहुश किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य मे रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरतमुनि ने

नाटकीय रस का ही निरूपण किया है और इसीलिए रस को **नाट्यरस** की संज्ञा दी है। पिछले आलंकारिकों ने इसे **श्रव्य** काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य माना जाता है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर होता है। इस के उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव-विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की संख्या के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्‌भुत। शान्त रस नवम रस माना जाता है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस को नाट्य में निषेध करते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं। रुद्रट ने **'प्रेयान्'** नामक रस को, विश्वनाथ कविराज ने **'वात्सल्य'** को, गौडीय वैष्णवों ने **'मधुररस'** को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत ही बढ़ा लिया है।

साहित्य में रसमत का सर्वतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में 'रसध्वनि' को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तु-ध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है। भोजराज भी समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति तथा (३) रसोक्ति। इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्निपुराण की स्पष्ट उक्ति है—**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्**। काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने **'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'** का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

२—अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं। इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार **उद्‌भट**। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत

में काव्य के पोषक अगो को अलकार कहते हैं। रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलकार को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय में अलकार ही काव्य की आत्मा है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलकार काव्य का प्राणाधायक तत्त्व माना जाता है। जयदेव का तो यहाँ तक कहना है कि जो विद्वान् अलकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यो नही मानता ? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असभव है, उसी प्रकार काव्य का अलकार से रहित होना असभव है —

अङ्गी करोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती ॥

(चन्द्रालोक १।८)

रुय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलकारिको के मत से अलकार ही काव्य में प्रधान होते है।

अलकारो का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाटचशास्त्र मे इन चार ही अलकारो का निर्देश मिलता है।—यमक, उपमा, रूपक और दीपक। अतः साहित्य के मूलभूत अलकार ये ही चार हैं जिनमें से पहिला तो शब्दालकार है और अन्य तीन अर्थालकार। भरत के मत मे यमक दस प्रकार का होता है। उपमा के पाँच भेद होते है—प्रशसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित्सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्ही चार अलकारो मे विकसित तथा परिवर्धित होकर अलकारों की सख्या कुवलयानन्द मे सवा सौ के ऊपर तक पहुँच गई है। काल-क्रम के अनुसार अलकारो की सख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत ने नाटचशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के 'लक्षणो' का विवरण दिया है। बहुत से इन 'लक्षणो' को परवर्ती आचार्यो ने अलकार मे सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार अलकारों के विकास में इन 'लक्षणो' का भी कम महत्त्व नही माना जा सकता। उदाहरणार्थ हेतु, लेश तथा आशी को लीजिए उनके विषय मे परवर्ती आचार्यो की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलकार नहीं मानते परन्तु आशी को अलंकार मानते हैं। दण्डी ने तीनो को अलकार माना है।

परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में हेतु तथा लेश को अलकार माना है। इस प्रकार अलकारो का विकास क्रमश होता गया।

भारतीय आलकारिको ने अलकारो के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्त्वो पर भी विचार किया है। अलकारो के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका सकेत सर्वप्रथम रुद्रट के काव्यालकार में मिलता है। उन्होने ही सबसे पहले **औपम्य, वास्तव, अतिशय** और **श्लेष** को अलकारो के विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में 'अलकार सर्वस्व' के कर्ता **रुय्यक** का निरूपण बडा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। इन्होंने औपम्य, विरोध, लोकन्याय, आदि को अलकारो का मूल विभेदक तत्त्व मानकर अलकारो का विभाजन सुन्दर समीक्षा के साथ किया है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व और महत्त्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचना-शास्त्र 'अलकार-शास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलकार सम्प्रदाय मे रस की स्थिति विचारणीय है। अलकार मत को माननेवाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात नही था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलकार का ही एक प्रकार माना है। 'रसवत्', 'प्रेयस्' 'उर्जस्वी' तथा 'समाहित' नामक अलकारो के भीतर रस और भाव का समस्त विषय इन आलकारिको ने निविष्ट कर दिया है। भामह को महाकाव्य में रसो की आवश्यक स्थिति मान्य है। दण्डी भी रस-तत्त्व से परिचित हैं और रसवत् अलकार के भीतर इन्होने आठो रस और आठो स्थायी भावो का निर्देश किया है। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं। अत दण्डी को रसतत्त्व से अपरिचित नही माना जा सकता। उद्भट ने भी रसवत् अलकार के निरूपण के अवसर पर विभाव, सचारीभाव और स्थायीभाव जैसे पारिभाषिक शब्दो का उल्लेख ही नही किया है बल्कि रस के नव भेदो को भी स्वीकार किया है। रुद्रट भी काव्य में रस का सन्निवेश करने का उपदेश देते हैं। इन सब उल्लेखो का यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्त्व की महत्ता से पर्याप्त परिचित हैं। भरत मुनि से पश्चाद्वर्ती होने से यह ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त उचित है।

परन्तु वे लोग उसे अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। अलंकार उनकी दृष्टि में एक व्यापक सिद्धान्त है।

अलंकार और ध्वनि

इन आलंकारिकों को काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की भी सत्ता किसी-न-किसी रूप में अज्ञात न थी। रुय्यक का स्पष्ट मत है कि भामह तथा उद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर उसे अलंकार में ही अन्तर्भुक्त किया है। 'एकावली' की टीका 'तरला' में मल्लिनाथ ने भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य माना है परन्तु उन्हें ध्वनि अभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य जैसे पदों का अपने अलंकार-ग्रन्थों में प्रयोग करते हैं, परन्तु प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं हैं। 'पर्यायोक्त' अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन आलंकारिकों को स्पष्टतः मान्य है। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में भी द्वितीय अर्थ के रूप में प्रतीयमान प्रतीत होता है।

अलंकार सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रुद्रट को इतना खटका कि उन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की ही कल्पना कर डाली। इसके दो भेद हैं जिनके उदाहरणों को मम्मट ने तथा अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान अर्थ का द्योतक माना है। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकारवादी रुद्रट को व्यंग्य का सिद्धान्त सर्वथा मान्य था। अन्तर इतना है कि वे इसे स्वतन्त्र रूप देने के पक्षपाती नहीं थे, प्रत्युत इसे वे अलंकार के भीतर गतार्थ मानते थे। दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्त्व काव्य में स्वीकार किया है वह किसी-न-किसी मात्रा में पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्त्व देकर भी अलंकार के वर्णन में अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। ध्वनिवादी होने पर भी मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का जो सुन्दर तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

३—रीति-सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। दण्डी ने भी रीतियों के वर्णन में बहुत-सा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्त्व

दिखलाई पडता है वह किसी भी आलकारिक के ग्रन्थ में नही दीख पडता। उनके सिद्धान्त में रीति की महत्ता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। पदो की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं —**विशिष्टा पद-रचना रीतिः**। पदो में विशिष्टता गुणो के ही कारण उत्पन्न होती है, गुणो के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही स्थित रहते हैं। अत रीति गुणो के ही ऊपर अवलम्बित रहनेवाला काव्यतत्त्व है—विशेपो गुणात्मा। इसीलिए रीति सम्प्रदाय 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता है।

गुणो का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने नाट्यशास्त्र मे किया है। गुण सख्या में दश होते हैं—श्लेप, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति (नाटयशास्त्र १६।९८)। रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (१५० ई०) मे भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणो का स्पष्टत उल्लेख पाया जाता है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट इन गुणो को दण्डी ने स्वीकार किया है। परन्तु भरत से उनकी व्याख्या मे अनेक स्थलो पर अन्तर है। गुणो में शब्द-गत अथवा अर्थगत वैशिष्ट्य मानना दण्डी की मौलिक सूझ है। वे इन दश गुणो को केवल वैदर्भ-मार्ग (वैदर्भी रीति) का प्राण मानते हैं तथा इनके विपर्ययको गौडीय मार्ग का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं।

वामन की गुणो की कल्पना तथा इनकी व्याख्या अत्यन्त नवीन और मौलिक है। वामन गुणो को दो प्रकार का मानते हैं—(१) **शब्दगुण** और (२) **अर्थगुण**। इस विभाजन में जो शब्दगुणो के नाम हैं वे ही अर्थगुणो के भी है, परन्तु दोनो प्रकार के गुणो की कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। वे ही गुण शब्दगुण होते हैं, तथा अर्थगुण भी। नाम में भेद नही, परन्तु दोनो के स्वरूप में महान् अन्तर है। गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलकारिको को मान्य नही हो सका। इनके पहिले ही भामह ने दस गुणो के स्थान पर केवल तीन गुणो—**माधुर्य, ओज, प्रसाद**—की कल्पना स्वीकार की थी। इसी मत का अवलम्बन पीछे के आलकारिको ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ कविराज आदि आलकारिको ने गुणो की सख्या तीन ही मानी है। इतने ही पर्याप्त हैं काव्य की शोभा बढाने के लिए। उन्होने सप्रमाण सिद्ध किया कि या तो अन्य गुणो का इन्ही तीन गुणो में अन्तर्भाव होता है, या वे दोषाभाव रूप हैं अथवा कही-कही वे गुण न होकर वस्तुत दोप ही हो जाते हैं। वामन के मार्ग का थोडा अवलम्बन **भोजराज**

ने किया है परन्तु उन्होंने ने गुणों के विभाजन तथा स्वरूप दोनों में विशेष अन्तर किया है। भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं (१) बाह्यगुण, (२) आन्तरगुण और (३) वैशेषिक गुण। उन्होंने गुणोंकी भी संख्या दस से बढ़ाकर चौबीस कर दी है (सरस्वती-कण्ठाभरण १।५८–६५)

रीति का विकास

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकारशास्त्र के आदिम युग मे, भामह से पूर्वकाल में कभी-न-कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौडीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्र-मार्गी भामह की विचारधारा निराली है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमे न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए और न गौडीय मार्ग की निन्दा। बल्कि काव्य के शोभन गुणो ही की ओर ध्यान देना चाहिए। दण्डी ने इन दोनो मार्गों—वैदर्भ मार्ग और गौडीय मार्ग—का बडा ही विस्तृत विवेचन किया है। वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वोक्त दश गुणो से युक्त मानते हैं और गौडीय मार्ग में कतिपय गुणो को छोडकर अन्य गुणो का विपर्यय स्वीकार करते हैं। इसलिए दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियो के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है और गौडीय मार्ग नितान्त अस्पृहणीय मार्ग है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बडे ही दृढ आधार पर निर्मित किया है। काव्य की आत्मा को खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति है। दण्डी की दो रीतियो के स्थान पर वे तीन रीतियाँ मानते हैं—(१) वैदर्भी (२) गौड़ी और (३) पाञ्चाली। वैदर्भी रीति मे समस्त दस गुणो की सत्ता विद्यमान रहती है। गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण होते हैं तथा पाञ्चाली मे माधुर्य और सौकुमार्य गुणो की सत्ता होती है। पिछले आलंकारिको ने रीति की इस संख्या को बहुत ही बढा दिया है। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगलश्लोक में इन तीन रीतियो का उल्लेख किया है (१) वच्छोमी (वैदर्भी), (२) मागधी तथा (३) पाञ्चालिआ (पाञ्चाली)। रुद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियो की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी और लाटी का नयी रीतियाँ मानकर इनकी संख्या वामन की अपेक्षा दुगुनी (छ) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा

कम अलकारो का निर्देश करते हैं। गुणो के समान ही इनकी अलकारो की उद्भावना भी नितान्त मौलिक और सुन्दर है।

महत्त्व

अलकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य सिद्धान्तो का विशेष विकास लक्षित होता है। अलकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय ने काव्य की आत्मा का विवेचन बडी मार्मिकता के साथ किया। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि काव्य के तत्त्वो के उन्मीलनमें रीति सम्प्रदाय के आचार्य ने अपनी क्षमता दिखलाई है। वामन की यह प्रकारान्तर से भूयसी प्रशसा है।

रीति सम्प्रदाय को, गुण और अलकार का परस्पर पार्थक्य दिखलाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलकार का परस्पर भेद नही दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करनेवाले समस्त धर्मो (अर्थात् गुणो) को भी 'अलकार' शब्द से व्यवहृत कर अपने अलकारवादी होने का परिचय दिया। परन्तु वामन ने काव्य में गुणो को अलकारों की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढानेवाले धर्म **'गुण'** कहलाते हैं तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करनेवाले धर्म **'अलकार'** के नाम से पुकारे जाते हैं। काव्य में अलकार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वशाली है क्योकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। उनके विना काव्य की शोभा उत्पन्न नही होती। काव्य की शोभा के एकमात्र आधायक धर्म को 'गुण' मानना इस सम्प्रदाय का महत्त्व है।

अलकार-सम्प्रदाय के आचार्यो की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आलोचको की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलकारवादी आचार्य रस को काव्य का बहिरग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टत स्वीकार करते हैं। इन्होने 'कान्ति' गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन की वक्रोक्ति के भीतर 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' का अन्तर्भाव भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्त्वोंका विवेचन इस सम्प्रदाय में अलकार सम्प्रदाय की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है। ध्वनिवादी आचार्यो को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामञ्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का

श्रेय आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ सबद्ध मानकर काव्य मे रीति के महत्त्व को अगीकार किया है। वर्तमान रीतियो का नाम-करण भौगोलिक आधार पर हुआ है। परन्तु कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसलिए उन्होंने रीतियो के इन नये नामो की उद्भावना की है —

(१) सुकुमार मार्ग (=वैदर्भी रीति)
(२) विचित्र मार्ग (=गौडी रीति)
(३) मध्यम मार्ग (=पाञ्चाली रीति)

काव्य मे रीति का तथा तत्पोषक काव्यतत्त्व गुण का सिद्धान्त नितान्त महनीय है जिसकी उपासना कविजनो का लक्ष्य होना चाहिए।

४—वक्रोक्ति–सम्प्रदाय

सस्कृत साहित्य मे वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है और वह अनेक अर्थो मे व्यवहृत होता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। बाण ने इसका प्रयोग क्रीडालाप या परिहास-कथा के अर्थ मे किया है। अमरुशतक मे ही इस शब्द का प्रयोग 'सुन्दर उक्ति' के अर्थ मे दीख पडता है।

'वक्रोक्ति' का शाब्दिक अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढा कथन। 'काव्य' की उक्ति साधारण लोगो के कथन-प्रकार मे भिन्न तथा अधिक चमत्कृत होनी चाहिए और यही वक्रोक्ति है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलकारशास्त्रमे वक्रोक्ति की कल्पना भामह मे आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं।

काव्य मे वक्रोक्ति की उपयोगिता भामह को इतनी मान्य है कि वे हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलकारो को वक्रोक्ति से वचित होने के हेतु अलकार मानने के पक्षपाती नही हैं। वे अलकारो के लिए वक्रोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं '—

"वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते"

अर्थात् वक्र (टेढा) अर्थ का कथन शब्दो के लिए अलंकार का काम करता है। अभिनव गुप्त की दृष्टि में वक्रोक्ति का लक्षण है—

"शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता,
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ॥

भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना 'वक्रोक्ति' कहलाता है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागो में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थलो का अन्तर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभाव या यथार्थ कथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालकार तथा रसवद्, प्रेयादि रस से सबद्ध अलकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते है।

वामन ने भी वक्रोक्ति का वर्णन किया है परन्तु उनके द्वारा वर्णित वक्रोक्ति भामह द्वारा प्रदर्शित वक्रोक्ति से नितान्त भिन्न है। जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलकारो का सामान्य मूलभूत आधार माना है, वहाँ वामन उसे अर्थालकार में परिगणित करते है। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा ही है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं। परन्तु सादृश्य (समानता) के आधार पर आश्रित होनेवाली लक्षणा 'वक्रोक्ति' कही जाती है —

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति ।

रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवाछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति होती है।

परन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलकार न मानकर काव्य की आत्मा (मूलतत्त्व) मानते हैं। उनकी वक्रोक्ति का लक्षण है—'**वैदग्धी-भगी-भणिति**'—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढग से कथन। इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलकारो के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालकार थी और रुद्रट में शब्दालकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार की गई।

'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक-वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। कुन्तक बड़े ही प्रौढ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता के कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त की कोटि मे मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों सिद्धान्तो से परिचित थे परन्तु उन्हें आलोचना में स्वतन्त्र स्थान न देकर वक्रोक्ति का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं। इनके मतानुसार वक्रोक्ति छ प्रकार की होती है —

(१) वर्णवक्रता (२) पदपूर्वार्ध-वक्रता (३) पदोत्तरार्ध-वक्रता (४) वाक्य-वक्रता (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर इन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदो का समावेश किया है। इनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि के समस्तभेद सिमिट कर विराजने लगते हैं। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। इनका ग्रन्थ अलकारशास्त्र के मौलिक विचारो का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुगमन ही किया। वक्रोक्ति के महनीय काव्य-तत्त्व को बीजरूप मे सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है। इस बीज को उदात्त रूप से अकुरित तथा पल्लवित करने का यश आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य की आत्मा (जीवातु) के रूप मे तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु वक्रोक्ति के अनेक प्रकारो को ध्वनि मे अन्तर्भुक्त कर उन लोगो ने इनके निरूपण की महत्ता को स्पष्टत अगीकार किया है। वक्रोक्ति सिद्धान्त 'संस्कृत आलोचना' मे काव्य के एक मौलिक तत्त्व के रूप मे सदा अमर रहेगा।

५—ध्वनि-सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय यही 'ध्वनि सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय के आलोचको ने ध्वनि की उद्भावना कर काव्य मे निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है जिनका आविर्भाव काश्मीर में नवम शताब्दी के मध्यकाल मे हुआ। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यो की कमी नहीं थी, परन्तु अन्तर्बल होने के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजतक यह साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है ? जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कही अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि काव्य कहलाता है। अर्थ मुख्यत दो प्रकार के होते हैं—(१) **वाच्य** और (२) **प्रतीयमान**। वाच्य के अन्तर्गत अलकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य में वस्तुस्थिति के अवलोकन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है जो उसके अगो से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है। काव्य में भी उसके अगो से पृथक् चमत्कार-जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—

> **"प्रतीयमान पुनरन्यदेव ,**
> **यस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।**
> **यत्तन्-प्रसिद्धावयवातिरिक्त**
> **विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥**
> (ध्वन्यालोक १।४)

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्याङ्गो से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियो के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है। परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्यतत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बता कर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचकबुद्धि का काम नही था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि-सम्प्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में इस तत्त्व को पहिली मार्मिक व्याख्या की। उनके लगभग सौ वर्षो के बाद अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में इस सिद्धान्त की दृढ रीति से प्रतिष्ठा की। मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में इस सिद्धान्त की सदा के लिए पूर्णरूप से स्थापना की और इसीलिए वे 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' की सज्ञा से प्रसिद्ध हैं।

ध्वनि के शब्द तथा तत्त्व के लिए आलकारिक लोग वैयाकरणो के ऋणी हैं। वैयाकरण लोग 'स्फोट' नामक एक ऐसे पदार्थ को मानते हैं जिससे अर्थ फूटता है या आविर्भूत होता है। **स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोट** —इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से फूटता है—अभिव्यक्त होता है वह **'स्फोट'** कहलाता है। इस स्फोट को अभि-

व्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते है। उसे ही ध्वनि कहते है। वैयाकरणो के इस 'ध्वनि' शब्द को लेकर आलकारिको ने इनका विस्तृतीकरण किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के ५१ प्रकारो मे तीन ही को मुख्य माना है (१) रसध्वनि (२) अलंकार ध्वनि और (३) वस्तुध्वनि। 'रसध्वनि' के भीतर केवल नव रसो की ही गणना नही होती प्रत्युत भाव, रसाभास, भावोदय, भाव-सन्धि और भावशबलता की भी गणना है। वस्तुध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी तथ्य-कथन मात्र की अभिव्यञ्जना की जाय। अलकारध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दो मे प्रकट किये जाने पर अलकार का रूप धारण करे। इन तीनो में रसध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि का तो सर्वथा इसमे ही पर्यवसान होता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुत रस ही काव्य की आत्मा है' आलोचको का यही निश्चित मत है। काव्य का अभ्यासी कवि चित्र काव्य मे अभ्यास भले ही करे, परन्तु परिपक्व मतिवाले कवियो का एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनि-काव्य' मे ही होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते है (१) ध्वनिकाव्य (२) गुणीभूत व्यग्य और (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य मे वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य मे व्यग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यग्य' कहते है। चित्रकाव्य शब्द तथा अर्थ के अलकारो से ही काव्य मे चमत्कार लाता है। यह अधम कोटि का काव्य है। सच्चे कवि का कार्य यह नही है कि वह रस से सबन्ध न रखनेवाली कविता के लिखने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे।

ध्वनिवादी आचार्यो ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार समस्त काव्यतत्त्वो का उचित सतुलन काव्य में दिखलाया। विशेषत गुण और अलकार को उन के वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुण वे ही धर्म होते है जो रस-लक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते है। अलकार काव्य के अगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण वाच्य

के नित्य धर्म हैं और अलकार अनित्य धर्म। अलकारो की स्थिति काव्य में हो या न हो, परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यभावी है।

ध्वनि-सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय के स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकार को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानकर 'सहृदय' नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनो की रचना की थी। प्राचीन आलकारिको ने भी ध्वनि की कल्पना करने का श्रेय सर्वसम्मति से आनन्दवर्धन को ही प्रदान किया है। आचार्य अभिनवगुप्त, ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसीलिए रखते हैं कि उन्होने ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' नामक टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियो से पुष्टकर उसे प्रामाणिक बनाया। उनके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि के विरोधियो के आक्षेपो का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढतर आधारो पर सस्थापित किया। अपने ग्रन्थ में इन्होने भिन्न-भिन्न दर्शनो के मतानुयायी विद्वानो की युक्तियो का खण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की। मम्मट के पश्चाद्वर्त्ती विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' में ध्वनि की पर्याप्त मीमासा की है। पिछले युग के सबसे बडे आलकारिक **पण्डितराज जगन्नाथ** (१७ शती) हैं जिनकी कृति 'रस गगाधर' ध्वनि-सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होने ध्वनिकार को आलकारिको की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया —

"ध्वनिकृतामालकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्वात्"
(रसगगाधर पृष्ठ ४२५)

यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त प्रबल प्रमाणो के आधार पर प्रतिष्ठापित किया गया था तथापि काश्मीर के मान्य आलकारिको को यह सिद्धान्त प्रथमत मान्य नही हुआ। **मुकुलभट्ट** सबसे प्राचीन ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। 'अभिधावृत्तिमातृका' में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नयी थी और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे। इनके शिष्य **प्रतिहारेन्दुराज** ने ध्वनिको अलकार के ही अन्तर्गत माना है। ध्वनि के खण्डन के लिए **भट्टनायक** ने 'सहृदय दर्पण' ग्रन्थ की

रचना की थी। ये काव्य मे रस के पक्षपाती थे परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यजना का सिद्धान्त इन्हे मान्य न था। ध्वनि सिद्धान्त का साक्षात् खण्डन करना कुन्तक का ध्येय नही था। ये ध्वनि को वक्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते हैं। रस की उपयोगिता काव्य मे इन्होंने स्वीकार की है, परन्तु रस स्वतन्त्र काव्य-तत्त्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेदमात्र है। महिमभट्ट के ग्रन्थ का नाम 'व्यक्ति विवेक' है जिनमें इन्होंने ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत होना सिद्ध किया है। इनकी विवेचना बडी मार्मिक और गभीरतापूर्ण है। इन विरोधी आचार्यों का तर्कयुक्त समाधान काव्य प्रकाश (११ शती) में मिलता है जिसके बाद यह सिद्धान्त एकान्ततः प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

६—औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य साहित्य-शास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य-जगत् मे अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत के नाट्य शास्त्र मे सिद्धान्त रूप मे तो नही परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि लोक ही नाट्यका प्रमाण है। लोक मे जो वस्तु जिस रूप मे, जिस वेश में, जिस मुद्रा मे उपलब्ध होती है उसका उसी रूप, उसी वेश तथा उसी मुद्रा में अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है। इसीलिए नाट्यशास्त्र (प्रकृति) पात्र के भाषा, वेश आदि के विधान पर इतना जोर देता है। भरत ने विभिन्न प्रकृतियो का वर्णन अपने ग्रन्थ मे विस्तार के साथ किया है। इससे स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे। काव्य मे औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूलस्रोत यही है। इस प्रसग मे भरत का यह श्लोक बडा ही सारगर्भित है —

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥

(नाट्यशास्त्र २३।६८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन है जिन्होने काव्य मे औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि अनौचित्य ही रस-भग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु

के सन्निवेश से रसका परिपाक काव्य में उत्पन्न नही हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं —

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन काश्मीरी आलोचको की कडी आलोचना की है जो ध्वनि के सिद्धान्त से विना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे। उन्होने दिखलाया है कि ध्वनि की सत्ता के विना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोडकर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नही प्रतीत होता। अत औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यो के रूप में काव्य-जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र मे अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे। ये स्वत ध्वनिवादी थे तथापि 'औचित्य विचार चर्चा' नामक अपने ग्रन्थ में इन्होने औचित्य को व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि **उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है।** जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—औचित्य।

"उचित प्राहुराचार्या सदृश किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भाव, तदौचित्य प्रचक्षते॥"

(औचित्यविचार चर्चा, कारिका ७)

यह औचित्य ही रस का जीवित-भूत है, उसका प्राण है तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

"औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रस-जीवित-भूतस्य विचार कुरुते ऽधुना॥"

(वही, कारिका ३)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिग, वचन आदि अनेक स्थलो पर औचित्य का विधान दिखा कर तथा इसके अभाव

को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है। क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गए औचित्य के सभी भेद 'ध्वन्यालोक' में पूर्णतया विद्यमान हैं। सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है। क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य कल्पना में औचित्य के तत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया।

रसालंकृति-वक्रोक्ति-रीतिध्वन्यौचिती—क्रमाः।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृताः॥

(२)

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्य

संस्कृत-आलोचना के आलोच्य विषय दोनों प्रकार के काव्य होते हैं—दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतवर्ष में सबसे पहिले आरम्भ हुई। पाणिनि के समय (७ शती विक्रम पूर्व) में नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। उन्होंने शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा विरचित नटसूत्रों का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी में किया है। श्रव्य काव्य की आलोचना का उदय विक्रम की षष्ठ शताब्दी के मध्य में हुआ जिस युग में भामह ने अपने 'काव्यालङ्कार' की रचना की। भामह ने पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थों की

अभी तक उपलब्धि नही हुई है। उपलब्ध आचार्यो मे मान्य आचार्यो का सक्षिप्त परिचय यहॉ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) भरत (द्वितीय शती)

ये ही आलोचनाशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य है। दो भरतो का पता चलता हे—**वृद्धभरत** तथा **भरत**। वृद्ध भरत का ग्रन्थ नाटयवेद सम्भवत १२ हजार श्लोको मे था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध ही है। भरत का नाटयशास्त्र आज उपलब्ध है तथा आलोचनाशास्त्र की ही नही, प्रत्युत ललित कलाओ की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। **नाट्यशास्त्र** एक युग की रचना न होकर अनेक शताब्दियो के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल हे। आज यह कारिकाबद्ध रूप मे ही उपलब्ध है परन्तु इसकी अन्तरग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अशो का पर्याप्त परिचय मिलता हे—(१) **सूत्र-भाष्य**। यह गद्यात्मक अश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ सूत्र–रूप मे ही था जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा था। (२) **कारिका**—मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए कालान्तर मे कारिकाओ की रचना हुई। (३) **अनुवश्य श्लोक**—गुरु-शिष्य परम्परा से आनेवाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप मे निवद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यो के द्वारा विरचित है तथा सूत्रो की पुष्टि मे यहॉ सग्रहीत है।

भरत के वर्तमान नाटयशास्त्र का समय द्वितीय शती से घटकर नही हो सकता। कालिदास भरत को देवो के नाटयाचार्य के रूप मे जानते है और नाटकोमें आठ रसो के विकाश होने तथा अप्सराओ के द्वारा अभिनीत होने का वे निर्देश स्पष्टत करते है। अत भरत को कालिदास (पञ्चमशती) से पूर्ववर्ती होना चाहिए। मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है। **नाट्यशास्त्र** मे मुख्यत ३६ अध्याय है तथा लगभग पॉच हजार श्लोक है। इन अध्यायो मे नाटय की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारो से सम्बद्ध विषयो का सर्वाङ्गीण विवरण है। रस तथा भाव का वर्णन पष्ठ तथा सप्तम अध्यायो मे है। यहॉ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसग मे की गई है। १६ वे अध्याय मे काव्यालोचना का मर्म समझाया गया हे। भरत ने दश दोप, दश गुण तथा चार अलकार (यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक) की मीमासा कर इस शास्त्र का आरम्भ किया। इसके ऊपर अनेक टीकाये लिखी गई जिनमे आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है।

(२) भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्ध)

भामह ही भरत के अनन्तर मान्य आचार्य हैं। इन्होंने ही अलङ्कारशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया। भामह से पूर्ववर्ती **मेधाविरुद्र** नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है। भामह के पिता का नाम था—रक्रिल गोमी और ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय मे विद्वानो में कभी पर्याप्त मतभेद था, परन्तु अब तो यह सर्वजनमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदोष के वर्णन मे बौद्ध न्याय मे अपना विशेष परिचय दिखलाया है। इनका 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का लक्षण आचार्य दिङ्नाग (षष्ठशती) के अनुसार है धर्मकीर्ति (सप्तमशती) के अनुसार नही। फलत इनका समय इन दोनो बौद्धाचार्यों के मध्ययुग मे होना चाहिए। अत इनका आविर्भाव काल षष्ठ शतक का मध्य भाग माना जाता है। भामह बौद्ध-न्याय से विशेष परिचय रखने पर भी बौद्ध नही हैं, प्रत्युत ब्राह्मण हैं, क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओ का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा बौद्धो के 'अपोहवाद का खण्डन भी किया है जो कोई भी बौद्ध नही कर सकता। भामह का ग्रन्थ काव्यालङ्कार छ परिच्छेदो में विभक्त है जिनमे काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का (प्रथम परिच्छेद मे), अलकारो का (द्वितीय-तृतीय परि० में), दस दोषो का (चतुर्थ परि० मे), न्यायविरोधी दोष का (पचम परि० में) तथा शब्दशुद्धि का (षष्ठ परि० मे) वर्णन क्रमश किया गया है। श्लोक चार सौ के करीब हैं। भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(१) शब्द तथा अर्थ दोनो का काव्य होना—शब्दार्थौ काव्यम्; (२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणो का गुणत्रयी (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) मे अन्तर्भाव, (३) 'वक्रोक्ति' को समग्र अलकारो का प्राण मानना, (४) दशविध दोषो का सुन्दर विवेचन, (५) 'रीति' पर आग्रह न मानकर काव्यगुणो पर आस्था।

(३) दण्डी (सप्तम शती)

दण्डी दक्षिण भारत के पल्लव नरेश सिंहविष्णु (सप्तम शती) के सभा-पण्डित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ **काव्यादर्श** है जिसके कतिपय सिद्धान्तो का निर्देश तथा अनेक श्लोको का अनुवाद कन्नड भाषा के प्राचीन ग्रन्थ 'कविराज मार्ग

तथा सिघली ग्रन्थ 'सिय-वस-लकर' (स्वभाषालकार) में किया गया है और ये दोनो अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका तिब्बती अनुवाद इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

काव्यादर्श बडा ही महनीय ग्रन्थ है। इसमें चार परिच्छेद हैं तथा श्लोको की सख्या साढे छ सौ के आसपास है। पहिले परिच्छेद में काव्य का लक्षण-भेद, रीति तथा गुण का विस्तृत विवेचन है। दूसरे में अर्थालकारों का, तृतीय में शब्दालकारो का (विशेषत यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविध दोषो का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबसे पहिले आचार्य हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (अष्टम शती उत्तरार्ध)

कल्हण पण्डित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (७७९–८१३ ई०) के मन्त्री थे। वामन ने भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। फलत ये भवभूति (अष्टम शती पूर्वार्ध) से परवर्ती हैं तथा राजशेखर (१०म शती) से प्राचीन हैं क्योंकि काव्यमीमासा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्धन (नवम शती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने इनका नामत उल्लेख तो नही किया है, परन्तु इनके रीति-सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—**काव्यालंकार सूत्र** जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रो में प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके ऊपर अपनी वृत्ति भी लिखी है। सूत्रो की सख्या ३१९ है तथा ग्रन्थ पाँच परिच्छेदो में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का रूप तथा प्रयोजन, तथा रीतियो का वर्णन है। दूसरे में दोषो का, तीसरे में गुणो का, चौथे में अलकारो का तथा पाँचवें में शब्दशुद्धि का वर्णन है। वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क) गुण तथा अलकार का परस्पर विभेद तथा गुण की अलकार की अपेक्षा अधिक महत्ता का प्रतिपादन।

(ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना। (ग) वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली—इन तीन रीतियों की कल्पना। (घ) 'वक्रोक्ति' को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना। (ङ) समग्र अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च मानना। (च) दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगत मान कर बीस प्रकार की कल्पना।

(५) उद्भट (अष्टमशती उत्तरार्ध)

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में ये नितान्त प्रख्यात हैं। ये भी वामन के समकालीन आचार्य थे तथा जयापीड के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान् से भिन्न नहीं प्रतीत होते। प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय अष्टम शती का उत्तरार्ध है। वामन तथा उद्भट एक ही राज दरबार में उपस्थित समकालीन विद्वान् थे जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलंकार-सम्प्रदाय के उन्नायक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ हैं—काव्यालंकारसार-संग्रह। प्रतिहारेन्दुराज ने इनके दूसरे ग्रन्थ का निर्देश किया है वह था भामह के ग्रन्थ की 'भामह विवरण' नाम्नी टीका जो आज उपलब्ध नहीं है। इनकी तीसरी कृति—कुमारसम्भवकाव्य—कालिदास के कुमारसम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघु काव्य है जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ में उदाहरण के लिए उद्धृत किये गये हैं। इनके अलंकार-ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारेन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षिणात्य थे तथा अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार काश्मीरी राजानक तिलक (१०७५–११२५ ई०) हैं जिनकी 'विवृति' नामक टीका बड़ौदा से १९३१ में प्रकाशित हुई है।

'काव्यालंकार-सारसंग्रह' में अलंकारों का ही विवेचन है, परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। उद्भट के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं :—(क) अर्थ भेद से शब्द भेद की कल्पना; (ख) श्लेष के दो प्रकार—शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष—मानना, परन्तु दोनों को अर्थालंकारों में ही परिगणित करना; (ग) अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की ही प्रबलता मानना, (घ) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार; (ङ) अर्थ की द्विविध कल्पना—

विचारित-सुस्थ तथा अविचारित–रमणीय, (च) काव्य गुणो को संघटना का धर्म मानना। भामह का मूल ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध ही था और इसीलिए उद्‌भट का गन्थ ही अलकार–सम्प्रदाय का प्रतिपादक, सर्वश्रेष्ठ तथा आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रुद्रट (नवम शती का पूर्वार्ध)

ये भी काश्मीर के रहनेवाले थे। राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमासा' मे रुद्रट के द्वारा उद्‌भावित 'वक्रोक्ति' नामक शब्दालकार का निर्देश किया है। शिशुपाल-वध के टीकाकार काश्मीरी वल्लभदेव (दशम शती पूर्वार्ध) ने इनके अलकार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलत इनका समय १०म शती पूर्वार्ध से प्राचीन है। ये वामन तथा उद्‌भट के पश्चाद्वर्ती आचार्य हैं। रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलकारिकों से मेल नही खाती। 'शृङ्गार तिलक' के कर्ता **रुद्रभट्ट** रुद्रट से भिन्न हैं या अभिन्न? इस विषय मे भी विद्वानो में मतभेद है, परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालकार १६ अध्यायो में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दालकार, चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबन्ध, अर्थालकार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है। इसमें रस का विस्तार से वर्णन है। रुद्रट ने पहिले-पहल अलकारो के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष को अलकार का मूल तत्त्व निर्दिष्ट किया है। इन्होंने नये-नये अलकारो की भी उद्‌भावना इस ग्रन्थ में की है।

(७) आनन्दवर्धन (नवम शती का उत्तरार्ध)

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इनका सर्वमान्य ग्रन्थ ध्वन्यालोक है जिसमें ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ विषय-ग्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है। ये काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई०—८८३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

'ध्वन्यालोक' में मूलत कारिकायें हैं जिनपर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति? इस प्रश्न की

मीमासा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति, और 'सहृदय' नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकायें लिखी थी, परन्तु यह मत अब मान्य नही है। आनन्दवर्धन कारिकाकार तथा वृत्तिकार स्वय अपने ही हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के 'लोचन' मे अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं। इसके ऊपर 'चन्द्रिका' नामक कोई प्राचीन टीका थी जो आज उपलब्ध नही है। उपलब्ध टीकाओ में सबसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है **ध्वन्यालोक-लोचन** अभिनव गुप्त की, जिसे टीकाग्रन्थ होने पर भी मौलिक ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन ध्वनि-सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं। ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलकारिको के मतो का विस्तृत समीक्षण है। द्वितीय तथा तृतीय मे ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है। आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीवन वृत्त का पता नही चलता। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये 'नोण' के पुत्र थे। इन्होने अर्जुन-चरित, विषमबाणलीला (प्राकृत काव्य), देवीशतक तथा तत्त्वालोक-नामक अन्य ग्रन्थो की भी रचना की थी, परन्तु इनमें 'देवी शतक' ही मिलता है।

(८) अभिनवगुप्त (१० म शती का उत्तरार्ध)

ये काश्मीर मे प्रचलित शैवदर्शन के मान्य आचार्य तथा तन्त्रशास्त्र के अलौकिक लेखक हैं जिनका 'तन्त्रालोक' नामक ग्रन्थरत्न तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्य-शास्त्र मे इनकी प्रसिद्धि भरत के नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव भारती' तथा ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' के कारण है। अभिनवगुप्त के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो को पाकर साहित्यशास्त्र चमक पड़ा और ध्वनि सम्प्रदाय अपने आलोक से साहित्य ससार को उद्भासित करने लगा। रससिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अन्तरग तथा आवर्जक है और इसीलिए ये अवान्तर-कालीन आलोचको के लिए सर्वदा उपजीव्य, मान्य तथा श्रद्धास्पद आचार्य हैं।

अभिनवगुप्त का समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक साधारणतया माना जाता है। क्रमस्तोत्र की रचना इन्ही के अनुसार ९९१ ई० में हुई तथा ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी टीका १०१४-१५ में (कलिसवत् ४०९० में) की। इनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त था जो लोगों मे 'चुखुलक' के नाम से काश्मीर में प्रसिद्ध थे। माता

का नाम था विमलका। अभिनव ने अपने अनेक गुरुओ का उल्लेख किया है जिनसे इन्होने नाना शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं इनके पिता नरसिंहगुप्त, भट्ट इन्दुराज तथा भट्ट तौत जिनसे इन्होने क्रमश व्याकरण, ध्वनि तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा शैवदर्शन पर ग्रन्थो का प्रणयन किया जो कुल मिलाकर सख्या में ४० के लगभग है। 'तन्त्रालोक' तथा 'प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी' इनकी सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृतियाँ है। साहित्य क्षेत्र में 'अभिनव भारती' तथा 'लोचन' के अतिरिक्त 'काव्यकौतुक-विवरण' नामक इनका एक दूसरा भी अनुपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें इन्होने अपने नाटयशास्त्रीय गुरु भट्ट तौत के 'काव्य कौतुक' ग्रन्थ की व्याख्या की थी। यदि ध्वनि-सम्प्रदाय को अभिनवगुप्त की कृतियाँ नही मिलतीं तो उसके सर्वमान्य होने में सन्देह ही रहता।

(९) कुन्तक (१०म शती का उत्तरार्ध)

'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय के उद्भावक ये ही आचार्य हैं। ये वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते थे और इसलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' नाम से प्रसिद्ध है तथा ये भी वक्रोक्ति जीवितकार के नाम से बहुश उल्लिखित हैं। इसमें इन्होने राजशेखर (९१० ई०) के बालरामायण नाटक से अनेक पद्यो को उद्धृत किया है तथा इनके मत का उल्लेख सर्वप्रथम महिमभट्ट (११ वी शती का उत्तरार्ध) ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्ति-विवेक' में किया है। और इसलिए इनका समय इन दोनो लेखकों के बीच में कभी होना चाहिए। ये दशमशती के उत्तरार्ध में इस प्रकार विद्यमान माने जा सकते है। ये अभिनवगुप्त के समकालीन काश्मीरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नही, परन्तु इनके विशिष्ट मत का, उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

'वक्रोक्ति जीवित' कारिका तथा वृत्ति से सवलित ग्रन्थ है। इसमें चार उन्मेष हैं जिनमे वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारो का पूरा वर्णन किया गया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूरे रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ सस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ तथा युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इनका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निराला सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११ वी शती का मध्यभाग)

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। ये ध्वनि को मानते थे, परन्तु उसे अनुमान के द्वारा सिद्ध मानते थे। व्यञ्जना वृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है

और न अवकाश। ध्वनि-ग्रन्थ के खण्डन के लिए ही इन्होंने व्यक्ति-विवेक नामक प्रौढ ग्रन्थ की रचना की। ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है, बल्कि अनुमान का ही एक प्रकार मात्र है, इसी की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ मे अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। ग्रन्थ तीन विमर्शों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम विमर्श मे ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान मे अन्तर्भाव बडी प्रौढता से दिखलाया गया है। द्वितीय विमर्श मे 'अनौचित्य' को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरग और बहिरग प्रकारो का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरग अनौचित्य के भीतर 'रसदोष' का अन्तर्भाव होता है, बहिरग के भीतर समस्त शब्दगत दोषो की गणना की गई है। तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-स्थापन पर टूट पडता है और उसमे से लगभग चालीस उदाहरणो की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम था श्रीधैर्य और गुरु का श्यामल। इन्होंने 'लोचन' तथा 'वक्रोक्ति जीवित' के सिद्धान्तो का खण्डन किया है तथा मम्मटभट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषो को अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास मे ग्रहण किया है। अत इनका समय दोनो के बीच होना चाहिए—११ वी शती का मध्यकाल।

(११) धनञ्जय (१०म शती का उत्तरार्ध)

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि विरोधी आचार्यों मे अन्यतम है। ये रस की उत्पत्ति के विषय मे भावकत्ववादी है और व्यञ्जनावाद के खण्डनकर्ता है। धनञ्जय तथा इनके भ्राता धनिक, दोनो धारा के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (९७४ ई०–९९० ई०) के सभा-पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है—दशरूपक जिसमें नाटक के समस्त विषय बडे सक्षेप मे, परन्तु बडी सुन्दरता से, वर्णित तथा विवेचित है। धनिक ने इस पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। इन्होंने 'काव्य निर्णय' नामक साहित्य-विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहिले किया था। बहुरूप मिश्र की अप्रकाशित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक मे चार प्रकाश है तथा लगभग तीन सौ कारिकायें है जिनमे वस्तु (नाटक का कथानक), नेता (नायक), रूपक के दस प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन सरल किया गया है। नाट्यशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठको के लिए कठिन है। 'दशरूपक' से यह कठिनता बहुत अंशोमें दूर होती है और इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(१२) भोजराज (११वी शती का पूर्वार्ध)

धारानरेश राजा भोज साहित्य-शास्त्र के इतिहास मे सग्राहक रूप से विशेप प्रसिद्ध है। इनके दोनों ग्रन्थ इस विपय में वस्तुत विश्वकोप ही हैं। **'सरस्वती-कण्ठाभरण'** तो बहुत दिनो से विद्वानो का कण्ठाभरण हो रहा है, परन्तु **शृगार-प्रकाश'** आज भी पूरी तरह प्रकाश में नही आया। इसके ३६ प्रकाशो में से केवल तीन ही प्रकाश (२२–२४) प्रकाशित हुए हैं। पहिले ग्रन्थ में ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के २४ गुणो व १६ दोपो का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शव्दालकारो का, तृतीय में २४ अर्थालकारो तथा चतुर्थ में २४ उपमालकारो का उदाहरणो से सकलित वर्णन है। पचम परिच्छेद में रस, भाव, पच-सन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 'शृगार-प्रकाश' में रसो का, विशेषत शृगार का, वहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मक है और इसीलिए अपने सिद्धान्तो को पुष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलकारिको के मतो का तथा उदाहरणो का पर्याप्त रूप से उद्धरण दिया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ के ऊपर वहुत अधिक है।

(१३) मम्मट (एकादश शती का उत्तरार्व)

पूर्ववर्ती चारो आचार्य ध्वनि-विरोधी थे। ध्वनि विरोध का प्रामाणिक खडन कर मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' मे ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया वही आदर्श माना जाने लगा और उसी का अनुगमन पिछले आलकारिको ने किया। काश्मीर ही मम्मट का जन्मस्थान था। भीमसेन ने इन्हें जैयट का पुत्र तथा कय्यट और उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है। महाभाप्य के ऊपर प्रदीप के रचयिता कय्यट इनके अनुज हो सकते हैं, परन्तु उव्वट नही हो सकते, क्योंकि वे 'वज्रट' के पुत्र थे जैयट के नही। मम्मट का समय निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने अभिनवगुप्त (१०१५ ई० में जीवित) के मत को तथा पद्मगुप्त (१०१० ई० के आसपास वर्तमान) के पद्यो को उद्धृत किया है। एक श्लोक मे भोजराज की दान-शीलता का वर्णन किया है। उधर इनके प्रथम टीकाकार **माणिक्यचन्द्र** सूरि ने 'सकेत' की रचना १२१६ सवत् (=११६० ईस्वी) मे की। फलत इनका समय ११वी शती का उत्तरार्व मानना युक्तियुक्त है।

काव्य-प्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास

है जिनमे काव्य-लक्षण, वृत्ति विचार, ध्वनि-प्रकार तथा दोष-गुण-अलकार का विस्तृत तथा विशद विवरण है। ध्वनि मार्ग का इससे सुन्दर विवेचन सक्षेप मे मिलना कठिन है। इस पर टीका का निर्माण पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका-सम्पत्ति में यह वेजोड है। इसकी ७० टीकाओ मे से अनेक स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ के कर्ताओ की भी रचनाये हैं। 'अलकार सर्वस्व' के लेखक रुय्यक तथा 'साहित्य दर्पण' के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने इसे व्याख्याग्रथो से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (एकादश शती का पूर्वार्ध)

ग्रन्थकार का नाम है सागर परन्तु नन्दीवश में उत्पन्न होने के कारण ये सागर-नन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम है—**नाटकलक्षण-रत्नकोश** जिसमें नाटक के सब लक्षणो का वर्णन है। फलत यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने राजशेखर (९२० ई०) के श्लोको को उद्धृत किया है तथा इनके मत तथा पद्यो को सुभूति (१०६० ई०—११५० ई०) ने अपनी अमरटीका मे उद्धृत किया है। फलत इनका समय ११शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक से यह ग्रन्थ अनेक बातो मे वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वी शती का अन्तिम भाग)

अग्निपुराण वस्तुत नाना विद्याओ का लोकप्रिय कोष है। इसके दस अध्यायो (३३६–३४६ अध्याय) मे अलकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित है। इनमे किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही है, प्रत्युत प्राचीन आलकारिको के मतो को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकाश मत अलकार-सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनिमार्ग को अगीकार नही करते। इनके ऊपर भोजराज का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। फलत इस अश की रचना का समय ११ शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

(१६) क्षेमेन्द्र (एकादश शती का उत्तरार्ध)

ये औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये सिन्धु के पौत्र तथा प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। आरम्भ मे ये शैव मतानुयायी थे, परन्तु

सोमाचार्य के द्वारा वृद्धावस्था में वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने से वैष्णव बन गये। साहित्य-शास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। इनके 'औचित्य विचार चर्चा' तथा 'कण्ठाभरण' की रचना काश्मीर नरेश अनन्त (१०२८ ई०–१०६५ ई०) के राज्यकाल में हुई। 'दशावतार चरित' इनका अन्तिम ग्रन्थ है जिसका निर्माण अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश के राज्यकाल में १०६६ ईस्वी में किया गया। फलत इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है और इस प्रकार ये मम्मट के समकालीन हैं।

'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा-विषयक एक साधारण ग्रन्थ है, परन्तु **'औचित्य विचार चर्चा'** एक नवीन सिद्धान्त का पोषक मान्य ग्रन्थ है। इसमे 'औचित्य' को काव्य का सर्वस्व माना गया है तथा उसके अनेक भेद दिखलाये गये हैं। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलकार, रस आदि के साथ भली भाँति दिखला कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का महत्त्व काव्य में दिखलाया है। 'सुवृत्त तिलक' छन्द शास्त्र से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का एक मार्मिक ग्रन्थ है जिसमें छन्द के विषय में अनेक ज्ञातव्य बाते बतलाई गई हैं।

(१७) रुय्यक (१२वी शती का पूर्वार्ध)

ये भी काश्मीर के निवासी थे तथा काश्मीर नरेश राजा जयसिंह (११२८–४९ ई०) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मखक के काव्यगुरु थे। अत इनका समय १२वी शती का मध्य भाग है। इनके पिता **राजानक तिलक** स्वय आलकारिक थे तथा इन्होने उद्भट के ग्रन्थ के ऊपर **उद्भट-विवेक या उद्भट-विचार** नामक टीका लिखी थी। रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी है तथा मखक के महाकाव्य 'श्री कण्ठ-चरित' (११४५ ई०) से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं। मखक को कई दाक्षिणात्य पण्डित 'अलकार सर्वस्व' का वृत्तिकार मानते हैं, परन्तु यह ठीक नही। रुय्यक ने ही सूत्र तथा वृत्ति दोनो का प्रणयन किया है।

इनके अनेक ग्रन्थो का पता चलता है जिनमें **अलकार-सर्वस्व** महत्त्वपूर्ण है। यह एक मौलिक रचना है जिसमें अलकारो के विभाजन का मूल खोज निकाला गया है। रुय्यक ने ७५ अर्थालकारो का तथा ६ शब्दालकारो का निरूपण किया है जिनमें से 'विकल्प' तथा 'विचित्र' जैसे नवीन अलकारो की कल्पना इनकी मौलिक सूझ का

फल है। विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं तथा अप्पय दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकायें प्रकाशित हैं—जयरथकृत विमर्शिणी तथा समुद्रबन्ध रचित टीका। जिनमे विमर्शिणी बडे महत्त्व की व्याख्या है। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ जयरथ के मत को उद्धृत करते हैं और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) हेमचन्द्र (१२ वीं शती का उत्तरार्ध)

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती-उत्तरार्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने साहित्य-शास्त्र पर **'काव्यानुशासन'** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनवगुप्त तथा मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये संकलनकर्ता ही अधिक थे। काव्यानुशासन के रस-प्रकरण मे इन्होंने अभिनव-भारती से रस-प्रसंग का पूरा अक्षरशः उद्धरण ही दे दिया है जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने मे तथा पाठ-निर्धारण मे आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—**नाट्यदर्पण**। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। रामचन्द्र 'प्रबन्धशतकर्ता' की उपाधि से मण्डित किये जाते हैं तथा गुजरात के अनेक नरेश—सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय मे वर्तमान थे। फलतः इनका समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण नाट्य-शास्त्र के विषयों को संक्षेप मे प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है जिसमें आज अज्ञात और अनुपलब्ध अनेक नाटक-ग्रन्थों के नाम ही नहीं मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। ऐसे ही कई उद्धरणों से 'रामगुप्त' के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास-प्रेमियों को मिलता है और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा से उनके हाथ लगी है।

(१९) शारदातनय (१३ वीं शती का मध्यभाग)

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम से हम अपरिचित ही हैं। ये काश्मीर के निवासी थे और अपने को शारदा का पुत्र मानते हैं। भोज के शृङ्गारप्रकाश से तथा मम्मट के काव्यप्रकाश से यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सिंहभूपाल (१४ वीं शती का

प्रथम चरण) ने 'रसार्णव सुधाकर' में शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। अत इन्हें मम्मट तथा सिंहभूपाल के मध्यकाल में—१२५० ई० के लगभग—होना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम है—**भावप्रकाशन**। यह प्रधानतया नाट्य-शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमे दश अधिकार (या अध्याय) हैं जिनमें भाव, रसरूप, रसभेद, नायक-नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, नाट्य-शरीर, दशरूपक, नृत्यभेद तथा नाट्य प्रयोग—इन दश विपयो का क्रमश वर्णन दिया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रसविषयक सामग्री अपूर्व है। रस के विषय मे अनेक अज्ञात रसाचार्यो के—जैसे नारद, वासुकि व्यास आदि के मतो का ही निर्देश नही मिलता है, प्रत्युत अभिनवगुप्त के मत का भी सुन्दर रूप से विस्तृत विवरण इसे नितान्त उपयोगी बना रहा हैं। कतिपय आचार्यो के मत तो पहिली बार यही उपन्यस्त किये गये हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाट्य की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२०) पीयूषवर्ष जयदेव (१३ वी शती उत्तरार्ध)

जयदेव मिथिला के निवासी थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न हैं, परन्तु 'प्रसन्न-राघव' नाटक के कर्ता जयदेव से अभिन्न। ये न्याय-शास्त्र में भी विशेष प्रवीण थे जिसका उल्लेख इन्होने स्वय उस नाटक में किया है। विश्वनाथ कविराज से ये प्राचीन हैं क्योकि इन्होने जयदेव का एक पद्य साहित्य-दर्पण में उद्धृत किया है। अत इनका समय १३वी शती का उत्तरार्व मानना चाहिए। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में इनकी उपाधि 'पीयूषवर्प' थी, परन्तु न्याय के क्षेत्र में ये 'पक्षधर' नाम से प्रख्यात थे।

इनका '**चन्द्रालोक**' अलकार-शास्त्र का एक अतीव सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखो (या अध्यायो) में विभक्त है तथा इसमें ३५० अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसमें काव्य के समस्त विषयो का सक्षेप में वर्णन है, परन्तु अर्थालकारो का बडे विस्तार के साथ। इनकी शैली बडी सुन्दर है। पद्य के पूर्वार्घ में तो अलकार का लक्षण है और उत्तरार्व में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्पय दीक्षित ने अपने

गान्य ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' के लिए उपजीव्य बनाया है। जयालिकार की समस्त कारिकाये यही से ली है। इसकी छ टीकाओ का पता है जिसमें 'शारदागम' प्राचीन तथा विशेष पाण्डित्यपूर्ण है जिसका उपयोग अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ में किया है। राजा जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण' इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है। यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवर्जक है।

(२१) शोभाकर मित्र (१४ वी शती)

इनके ग्रन्थ 'अलकार रत्नाकर' का उल्लेख 'रत्नाकर' के नाम से अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज दोनो ने किया है। इसके मत का सकेत जयरथ ने विमर्शिणी के अनेक स्थलो पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१५ शती) से प्राचीन है। अत इनका समय १४वी शती मानना उचित है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते है। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था तथा काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्ही के अलकारो के उदाहरण के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका 'अलकार रत्नाकर' सूत्र-वृत्ति के ढग पर लिखा गया अभिनवशैली का ग्रन्थ है। इसमें इन्होने लगभग एक सौ अलकारो का निरूपण किया है जिनमें कुछ अलकार इनकी मौलिक कल्पना है तथा कतिपय अलकार प्राचीन अलकारो के नाम बदल कर आये है। अलकारो के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रत्नाकर' के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलंकारो की कल्पना की है जिसे अप्पय दीक्षित नही मानते। पण्डितराज ने 'असम' के उदाहरण में दोष भले दिखलाया हो, परन्तु उनकी कल्पना को मान्यता दी। पूना से यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित हुआ है। इनके विचित्र अलकारो में कतिपय अलकार ये है—अचिन्त्य, अनादर, अनुकृति, असम, अवरोह, अनादर, आदर, आपत्ति आदि।

(२२) विश्वनाथ कविराज (१४ वी शती का पूर्वार्ध)

ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। इनका वश पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित 'पुष्पमाला' तथा 'भाषार्णव' के उल्लेख मिलते है। इनके पितामह के अनुज चण्डीदास ने काव्यप्रकाश के ऊपर 'दीपिका' नामक

टीका लिखी थी। इन्होंने रुय्यक के 'अलकार सर्वस्व' के कई नये अलकारो का निवेश अपने ग्रन्थ में किया है तथा गीतगोविन्द (११वी शती) और नैषध काव्य (१२वी शती का उत्तरार्ध) से पद्यो को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने 'अलावदीन नृपति' का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पड़ता है। फलत इनका समय १४वी शती का पूर्वार्ध मानना उचित है।

इनके अनेक गन्थो का उल्लेख मिलता है, परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भदीप है—**साहित्य-दर्पण** जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तो के जिज्ञासु पुरुषो के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं जिनमें काव्य के तत्त्वो का विस्तृत वर्णन किया गया है। षष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी सक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रन्थ में काव्य तथा नाट्य दोनो का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। स्पष्टत यह 'काव्य प्रकाश' के शैली पर लिखा गया है, परन्तु इसमें उतनी प्रौढता कहाँ? विश्वनाथ आलकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक थे और इसी लिए सुन्दर उदाहरणो के उपन्यास से इस ग्रन्थ की रोचकता अधिक दढ गई है। विश्वनाथ के पुत्र **अनन्तदास** की टीका प्राचीन है, पर राम तर्क-वागीश की टीका विशेप प्रसिद्ध है।

(२३) विद्याधर (१४वीं शती पूर्वार्ध)

विद्याधर का ग्रन्थ **एकावली** काव्य-प्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस गन्थ में आठ उन्मेप '(अध्याय) हैं जिनमें काव्य स्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यग्य, गुण और रीति, दोप, शब्दालकार, तथा अर्थालकार का क्रमश वर्णन किया गया है। यह काव्य-प्रकाश तथा अलकारसर्वस्व पर आधारित है। इसके रचयिता **विद्याधर** ने समस्त उदाहरणो को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय, (शासनकाल १२८०–१३१४ ईस्वी) की स्तुति में स्वय लिखा है। विद्याधर ने रुय्यक तथा नैपधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है तथा इसके ऊपर एक ही टीका 'तरला' है जिसके लेखक कालिदास के सजीवनीकार मल्लिनाथ सूरि (१४वीं शती का अन्तिम चरण) हैं। फलत इनका समय १३वी शती का अन्त तथा १४वी शती का आरम्भ है।

(२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध)

इनके ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूपण' की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में वहुत ही अधिक

है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश 'प्रतापरुद्र' की स्तुति में दृष्टान्त के लिए पद्यो की रचना की है। साथ ही साथ नाटकीय परिभाषा के समझने के लिए इनकी स्तुति मे 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक ही इसमे सन्निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वारगल) आन्ध्र में पडती थी तथा ये वहाँ के इस नाम के सप्तम नरेश से अभिन्न माने जाते हैं। इनके शिलालेख १२९८—१३१७ ई० तक के मिलते हैं। फलत इनका समय १४वी शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ मे ९ प्रकरण हैं जिनमे काव्य के अगो के साथ-साथ नाट्य के अगो का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रुय्यक के अलकार-सर्वस्व का विशेष ऋणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर रत्नापण नामक टीका लिखी है।

(२५) अप्पय दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग)

अप्पय दीक्षित (नाम का अन्यरूप—अप्प दीक्षित या अप्पय्य दीक्षित) दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे। ये द्रविड थे। कुवलयानन्द में इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम वेंकटपति लिखा है जो विजयनगर का राजा वेंकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलत इनका समय १६वी शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ आलोचना विषयक हैं जिनमे **वृत्ति-वार्तिक** ('वृत्ति' का विवेचक ग्रन्थ) तथा **'चित्र-मीमांसा'** (अलकारो का विवेचन) अधूरे ही हैं। इनकी प्रसिद्धि का प्रकाशक दीप है—**कुवलयानन्द** जिसमें अलकारो का मार्मिक तथा विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें चन्द्रालोक की कारिकाये गृहीत हैं जिनके ऊपर दीक्षितजी ने विस्तृत विशद तथा प्रौढ व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या में नवीन उदाहरण हैं प्राचीनो के मत का समीक्षण है और अलकारो के मर्म तथा परस्पर विभेद का प्रामाणिक उपन्यास है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का खण्डन 'रसगगाधर' में पस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उडाने मे ओछे शब्दो के भी प्रयोग से वे पराङ्मुख नही हुए। तथ्य यह है कि अप्पय दीक्षित वेदान्ती तथा मीमासक हैं। साहित्य इनका अपना विषय ही नही ठहरा। तथापि अलकारो के विन्यास के अध्ययन के लिए इनका 'कुवलयानन्द' नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वी शती का मध्य भाग)

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वय लिखा है कि इन्होने अपना यौवन काल 'दिल्ली वल्लभ' की सरक्षकता में बिताया। यहाँ 'दिल्ली वल्लभ' से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का सकेत माना जाता है। यह प्रसिद्धि ऐतिहासिक तथ्य रखती है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके जेठे पुत्र दाराशिकोह को सस्कृत पढाने के लिए ये काशी से दिल्ली गये और दारा का ही वर्णन इन्होने अपने एक काव्य में किया है। फलत इनका समय १७वी शती का उत्तरार्ध है। ये जात्या आन्ध्र ब्राह्मण थे तथा पेद्द भट्ट के पुत्र थे। अप्पय दीक्षित से इनकी बडी अनबन थी और उनके मतो की इन्होने बडी कटु आलोचना अपने अलकार-ग्रन्थ में की है।

इनका एतद्-विषयक प्रौढ ग्रन्थ **'रस-गगाधर'** है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है **उसे** पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्ही के स्वय निर्मित पद्य हैं। इसकी शैली प्रौढ तथा विचार मौलिक है। ग्रन्थ पूरा नही कहा जा सकता, परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वो का विवेचन किया गया है। रस तथा अलकार के विवेचन में इन्होने नयी सूझ से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द-गुण तथा दश अर्थ-गुण, ध्वनि के भेद तथा रस की विस्तृत मीमासा है। द्वितीय आनन में सलक्ष्यक्रमध्वनि, शक्ति, लक्षणा तथा ७० अलकारो का विशेष विवेचन है। इस प्रसग मे इन्होने प्राचीन मान्य आलकारिको का उल्लेख खण्डन या मण्डन के निमित्त किया है। रस तथा अलकारो के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं। इन्होने अप्पय दीक्षित के 'चित्र मीमासा' के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—**चित्रमीमांसा-खण्डन**। इनकी प्रतिभा काव्यक्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वी शती का पूर्वार्ध)

ये पर्वतीय ब्राह्मण थे तथा अलमोडा जिले के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैयाकरण तथा तार्किक भी थे और इसलिए इन्होने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की 'अवच्छेदकावच्छिन्न वाली' शैली में अलकारो का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत किया है। इनका

सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है—**अलंकार-कौस्तुभ** जिसके रूपक अलकार के प्रकरण तक इन्होंने स्वय व्याख्या लिखी। इनके पिता लक्ष्मीधर थे जो स्वय प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे। इनके बडे भाई उमापति थे जिनके मत का भी सकेत 'कौस्तुभ' मे किया गया है।

'अलकार-कौस्तुभ' का एक उद्देश्य यह भी था कि अलकारो की बढती हुई सख्या रोकी जाय और इसलिए इन्होंने मम्मट के द्वारा उपन्यस्त ६१ ही अलकारो का वर्णन यहाँ किया है तथा अन्य अलकारो का उन्ही मे अन्तर्भाव दिखलाया है। नव्यन्याय की शैली इस ग्रन्थरत्न की भूयसी विशेषता है तथा अलकारो के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है। उपमालकार का विवेचन यहाँ डेढ सौ बडे पृष्ठो मे किया गया है। इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में ये हैं—अलकार मुक्तावली, रसचन्द्रिका, अलकार-प्रदीप तथा कवीन्द्र-कण्ठाभरण। आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यो मे विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलकारिक माने जा सकते हैं।

अनुक्रमणी

(१)

नामानुक्रमणी

(प्रधान स्थलों का निर्देश)

पारिभाषिक-पदानुक्रमणी